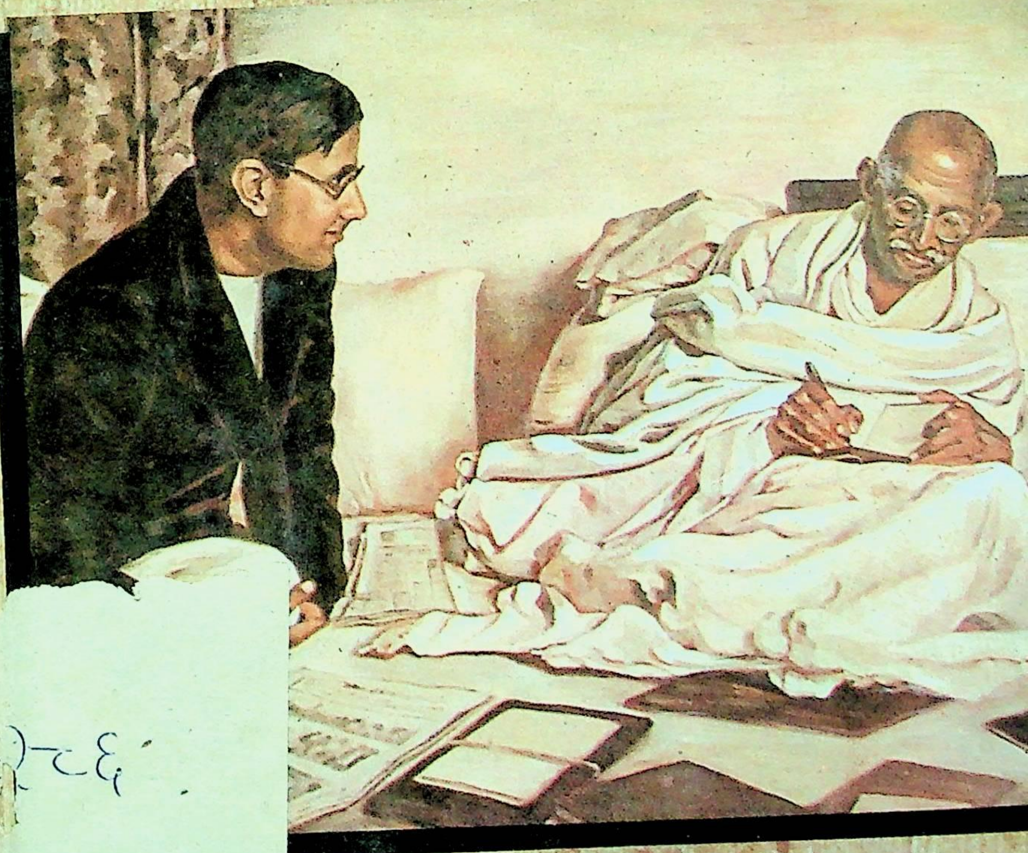
स्वराज और घनश्यामदास



डा. लक्ष्मीनारायण लाल

"असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े हैं। हम अपनी अकर्मण्यता को संतोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, बाह्योपचारी रूढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शांति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं, और इसी में अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में हम तमोगुण में डूबे पड़े हैं और पाश्चात्य लोग रजोगुण में गोता खाते हैं। सतोगुण को न हम पा सके हैं, न पाश्चात्य लोग।" —घनश्यामदास बिड़ला

पृष्ठ 12

"गांधीजी का प्रभाव उनके शक्तिशाली राजनैतिक नेता होने के कारण उतना नहीं पड़ा, जितना कि उनकी धर्मपरायणता, उनकी नेकनीयती और उनकी सत्य की खोज करने की प्रवृति के कारण पड़ा। अकसर मैं उनके तर्कों को नहीं समझ पाता था और कभी-कभी मैं उनसे असहमत भी हो जाता था, लेकिन मुझे यह विश्वास सदा बना रहता था कि वह जो कुछ कहते या करते हैं, वह अवश्य ही ठीक होगा, मैं उनका अभिप्राय न समझा होऊँ, यह बात दूसरी है।" पृष्ठ 93

"घनश्यामदास जी की राय में (कांफ्रेंस में) चर्चिल ने खुद न आकर अपने बेटे को इसलिए भेजा, क्योंकि उसे डर था कि महात्मा का जादू उस पर चल जायेगा और उसके बाद वह उनका क्रूर आलोचक नहीं रह पाएगा।" पृष्ठ 155

"(कांफ्रेंस के समय) गांधीजी की शरीर-रक्षा के लिए खुफिया पुलिस तैनात थी। उन लोगों ने गांधीजी से अनुरोध किया कि वह कहीं भी जायें तो उसकी पूर्व सूचना उन्हें दे दें। उनका कहना था, इस देश में आकर यदि गांधीजी का बाल भी बाँका हुआ तो उनके मुख पर

शेष अगले फ्लेप पर देखें

स्वराज
और
घनश्यामदास

स्वराज और घनश्यामदास

डा. लक्ष्मीनारायण लाल

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

SWARAJ AUR GHANSHYAMDAS by Dr. Laxmi Narain Lal
Published by Prabhat Prakashan, Chawri Bazar, Delhi-6 Rs. 100.00

*

मूल्य सौ रुपये
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, 205, चावड़ी बाजार, दिल्ली-110 006 / संस्करण : प्रथम, 1987
 / मुद्रक : पैरामाउन्ट पब्लिशिंग हाउस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110 001

''अधिकांश देशवासियों की तरह मुझ पर भी गांधीजी का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिए मैं भारत के स्वतंत्र होने के दिन की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करता था। पर साथ ही, जब अंग्रेजों और उनकी पार्लमिंट ने यह घोषणा की कि भारत को स्वतंत्र करना उनका भी लक्ष्य है तो मैंने उनकी नेकनीयती पर कभी संदेह नहीं किया। अपने कार्यकलाप के प्रारम्भिक युग में गांधीजी का भी ऐसा विश्वास था, पर रौलट - रिपोर्ट ने और उसके फलस्वरूप बने हुए कानून ने, जिसे वास्तव में कभी अमल में नहीं लाया गया, इस विश्वास की नींव खोखली कर दी।

राजनीति के साथ मेरा जो कुछ भी संबंध रहा है, वह उसके आर्थिक क्षेत्र में ही रहा है, लेकिन मैं भारत में रहने वाले अंग्रेजों के मन में गांधीजी के उच्च उद्देश्यों के बारे में अविश्वास की बढ़ती हुई भावना को और साथ ही भारतवासियों के मन में भारत-प्रवासी अंग्रेजों के प्रति ही नहीं, बल्कि अंग्रेज – कूटनीतिज्ञों और ब्रिटिश पार्लमिंट तक के प्रति अविश्वास की जबरदस्त भावना को रोकने में सचेष्ट रहा।''

— घनश्यामदास बिड़ला

अनुक्रमणिका

दो शब्द

जिन दिनों स्वर्गीय घनश्यामदास बिड़ला के सबसे बड़े सुपुत्र श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने अपने पूज्य पिताश्री की पत्र-फाइलें दिखाईं, जिनमें सन् 1914 से लेकर 1960 का भारत सजीव था, सरसरी तौर पर उन्हें देखकर मुझे लगा, वह परतंत्र भारत में स्वराज के लिए लड़ी गयी लड़ाई का एक बेमिसाल दस्तावेज है। घनश्यामदासजी और महात्मा गांधी, घनश्यामदासजी और अंग्रेजी राज के प्रायः सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति, इन सबके बीच एक गहरे संवाद का एक ऐसा ब्यौरा उन फाइलों में सुरक्षित मिला, जहाँ स्वराज के लिए समर्पित घनश्यामदासजी को जानना और उनके माध्यम से 20वीं सदी के भारतवर्ष को समझना है।

मुझे श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला से जब यह प्रेरणा मिली कि मैं इस पर काम करूँ तो मैं सहर्ष राजी हो गया। स्वतंत्रता-संग्राम के समय घनश्यामदासजी ने महात्मा गांधी, पंडित मदनमोहन मालवीय, सरदार पटेल, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद और श्री जवाहरलाल नेहरू आदि जैसे व्यक्तियों का कितना साथ और सहयोग दिया, उनके बारे में तथ्यपूर्ण जानकारी मुझे पहले से ही थी। किन्तु स्वराज और घनश्यामदासजी पर पुस्तक लिखने के पीछे एकमात्र कारण यही नहीं था, बल्कि मुझे यह कार्य एक महत्वपूर्ण विषय पर राष्ट्रीय स्तर पर बहुमूल्य कार्य सिद्ध होता जान पड़ा।

भारतीय इतिहास में स्वतंत्रता-संग्राम का युग अनेक दृष्टियों से एक क्रांतिकारी युग था। उस समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अहिंसात्मक आंदोलन छेड़ा और उसमें काफी हद तक कामयाबी हासिल की। उन महत्वपूर्ण वर्षों में देश में होने वाली घटनाओं से अनेक पुस्तकों, समाचार-पत्रों का प्रत्येक पाठक परिचित है। समाचार-पत्रों की मिसिलें (फाइलें) उन दिनों की घटनाओं और तथ्यों से रंगी पड़ी हैं। पर महात्मा गांधी तथा ब्रिटिश सरकार के बीच परदे की आड़ में होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं तथा बातों के संबंध में लोगों को बहुत ही कम जानकारी है।

मेरा भरसक प्रयास रहा है कि इस पुस्तक से वह कमी एक हद तक पूरी की जाए। परिणामतः घनश्यामदासजी और महात्मा गांधी तथा देश के अन्य राजनीतिक नेताओं एवं ब्रिटिश सत्ता के अधिकारियों, नेताओं के बीच भारतीय स्वतंत्रता को लेकर जितना कुछ भी प्रयत्न-प्रयास हुआ है, उन सबके आधार पर इस पुस्तक की रचना हुई है।

श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला द्वारा सुरक्षित घनश्यामदासजी की पत्र-फाइलों का अध्ययन अपने आप में भारत को आन्तरिक रूप से जानने का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उन पत्र-फाइलों में तत्कालीन ब्रिटिश-सरकार के उच्च पदस्थ अधिकारियों तथा वहाँ के सार्वजनिक जीवन में प्रमुख अन्य अंग्रेजों के साथ की गयी घनश्यामदासजी की भेंटों का विवरण भी है। फलतः सन् 1914 से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक भारतवर्ष में जितनी राजनीतिक, आर्थिक, संस्थागत घटनाएँ घटीं, परिषदें बैठीं, सम्मेलन हुए, प्रकट और गुप्त वार्ताएँ हुईं, उन सबके आधार पर इस पुस्तक की निर्मिति हुई है।

गोलमेज परिषंद् से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही समय पहले तक ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में होने वाली चर्चा का विवरण, भारतवासियों के मानस तथा उस समय के इतिहास की जानकारी चाहने वालों के लिए यह कार्य सामान्य रूप से रोचक और महत्वपूर्ण होगा। इसी विश्वास से मैंने यह कार्य किया है।

स्वराज में घनश्यामदासजी की भूमिका जानने के साथ ही साथ तत्कालीन इतिहास के प्रेमियों के लिए यह कार्य विशेष महत्व का है। श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने अपने पास विद्यमान घनश्यामदासजी की इस मूल्यवान सामग्री का मेरे द्वारा सदुपयोग किए जाने का जो निश्चय किया, उसके लिए हम सब उनके कृतज्ञ हैं, विशेषकर इस पुस्तक का लेखक।

भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति में घनश्यामदासजी की भूमिका कई स्तरों पर उल्लेखनीय है। उनकी वे भूमिकाएँ एक-दूसरे से ऐसी मिली-जुली थीं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग कर पाना इतना आसान नहीं है। उन सभी भूमिकाओं की चर्चा और उनका मूल्यांकन एवं विश्लेषण इस कार्य का मूलाधार है। घनश्यामदासजी भारत और अंग्रेजों के बीच मध्यस्थता में, स्वराज विषयक अपने प्रयासों में, बड़े संकल्पवान व्यक्ति थे। इस क्षेत्र में उनके चाहे पत्र-व्यवहार हों, चाहे वार्ता-व्यवहार, सबमें वह बड़े अनुशासित और नियमित पुरुष थे। इस प्रकार वह देश के तथा भारत के तमाम महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सदा सम्बन्ध बनाए रखते थे और अपनी विनम्र, किन्तु स्पष्ट विचारधारा से सबको प्रभावित करते थे। लोगों के सद्गुणों को परख लेने की उनमें एक विशेष शक्ति थी। काफी हद तक यह दृष्टि उन्हें महात्मा गांधी से मिली थी। व्यक्तियों के सद्गुणों को परख लेने पर वह उनका यथासंभव देशहित के निमित्त सदुपयोग करते थे। यह भी उनके चरित्र का अनुपम गुण था।

इस पुस्तक से पता चलेगा कि अनेक विषयों में घनश्यामदासजी का दृष्टिकोण गांधीजी सहित अनेक नेताओं के दृष्टिकोण से भिन्न होते हुए भी, वह उनके द्वारा हाथ में लिए गये कामों में तन-मन-धन से अपना योग देते थे। गांधीजी की राजनीतिक कार्य-योजना के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण अंग्रेजों के सामने उन्होंने अपने आप को गांधीजी के दृष्टिकोण का विश्वासी व्याख्याता सिद्ध किया। किस प्रकार उन्होंने स्वयं बार-बार इंगलैंड जाकर ब्रिटिश अधिकारी वर्ग को इस बात से पूर्व परिचित रखा कि गांधीजी का दिमाग किस दिशा में काम कर रहा है। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता को उस तरह राजनीतिक स्तर पर नहीं देखा, जिस तरह सक्रिय राजनेता देखते हैं। उन्होंने स्वतंत्रता को अपेक्षाकृत स्वराज के रूप में देखा। फिर भी उन्होंने जानबूझ कर भारतीय

स्वतंत्रता के प्रति अपने योगदान का न कोई दावा किया, न अपनी ओर से इसका कोई श्रेय लेना चाहा। पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के उभयपक्षों और व्यक्तियों का उन्होंने इतना गहन अध्ययन और मनन किया कि वह अपने आप में स्वराज का अप्रतिम साक्ष्य है।

भारतीय स्वराज-प्राप्ति की दिशा में घनश्यामदासजी ने स्वेच्छा से अपने ऊपर लिए हुए दायित्व को पूरा करने में असाधारण विवेकपूर्ण कर्म का उदाहरण दिया।

घनश्यामदासजी उन गिने-चुने व्यक्तियों में थे जो गांधीजी के लिए एक संतान के समान थे। स्वतंत्रता-आन्दोलन में गांधीजी की शिक्षा घनश्यामदासजी में कार्यरूप में अंकुरित होकर फलित हुई।

गांधीजी की अनेक शिक्षाओं में से एक विशेष शिक्षा थी कि लक्ष्मी के कृपापात्रों को अपनेआप को धरोहरधारी और अपनी सम्पत्ति को देशहित के निमित्त एक धरोहर की भाँति समझना चाहिए। श्री घनश्यामदास बिड़ला ने यह शिक्षा भली-भाँति हृदयंगम की। इसके प्रमाण स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में उनके प्रयासों में मौजूद हैं।

'स्वराज और घनश्यामदास', इस सारस्वत कार्य की प्रेरणा मुझे श्रीयुत लक्ष्मीनिवास बिड़ला से प्राप्त हुई, जो स्वयं प्रसिद्ध लेखक और समाज, इतिहास, राजनीति के चिन्तक हैं, इस कार्य की सफलता को पर्याप्त श्रेय उन्हें है।

इस कार्य में अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं से मुझे सहायता मिली है। इस सम्बन्ध में मैं लंदन स्थित इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, दिल्ली स्थित नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, कलकत्ता स्थित लक्ष्मीनिवासजी की निजी लाइब्रेरी और आनन्द बाजार पत्रिका की संदर्भ लाइब्रेरी के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक के प्रति ये दो शब्द लिखते हुए मुझे यह सदा याद रहेगा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अभियंताओं ने भारतीय स्वतंत्रता के उमड़ते सागर से बचने के लिए बड़े-बड़े बाँध बनाये थे। आखिरकार इन्हें अनेक शक्तियों के जोरदार ज्वार ने तोड़ डाला। यह ज्वार मानव-समुद्र की गहन गहराइयों से उठा था। उसी ज्वार की एक अप्रतिम इकाई थे—श्री घनश्यामदास बिड़ला।

— लक्ष्मीनारायण लाल

भूमिका

स्वराज की अभिलाषा

विदेशी आक्रमणों से पराजय के बाद भारतवर्ष जैसे देश और राष्ट्र को एक अभूतपूर्व जागतिक तथ्य का अनुभव हुआ। वह तथ्य था—दुनिया के विभिन्न देशों, राष्ट्रों और समाजों के बारे में यूरोप, खासकर ब्रिटिश राष्ट्र की अनोखी विश्व-दृष्टि। वह दृष्टि भारत की दृष्टि से बिलकुल विपरीत थी। जहाँ भारतवर्ष सम्पूर्ण सृष्टि में एक अखंड तत्व की सत्ता मानने वाला राष्ट्र है, उसके ठीक विपरीत ब्रिटिश दृष्टि 'स्व' और 'पर', अपने देश और दूसरे देश के बीच में एक अनिवार्य विरोध और बैर तथा दूसरे राष्ट्र को नष्ट करने में अपने राष्ट्रीय सत्व का विकास मानती है। जहाँ भारतवर्ष यह मानता है कि दूसरे को नष्ट करने में खुद अपने भीतर विनाश है, वहाँ ब्रिटिश शक्ति दूसरे को नष्ट करने और उसका शोषण करने में ही अपना अभ्युदय मानती है। स्वाभाविक था कि अद्वैतवादी भारतीय राष्ट्र के लिए अंग्रेजी राज्य एक अकल्पनीय अनुभव था और उस पर यह एक आश्चर्यजनक मानसिक और बौद्धिक आघात भी था।

इस आश्चर्य और आघात की करुण ध्वनि गांधीजी की पुस्तक 'हिन्द-स्वराज'* में अंकित है। इस भयंकर अनुभव को ठीक ढंग से समझने के लिए जितने बड़े पैमाने पर बौद्धिक श्रम और सोच-विचार करना चाहिए, जिसका शुभारम्भ गांधीजी ने किया था, उनके बाद भारत देश और समाज पर्याप्त रूप से आज तक नहीं कर पाया है। बल्कि अक्सर अपनी वर्तमान पराजित बौद्धिक दशा में अधिकांश भारतीय इस तथ्य से आँखें मूँदने और कतराने की कोशिश में ही लगे हैं। गांधीजी ने आजादी की लड़ाई के दौरान उन सभी लोगों की कुशंकाओं का बार-बार निवारण किया था जो भारत की ऐतिहासिक सचाइयों से अपनी स्मृति-नाश के कारण कटे

* 22-11-1909 को प्रकाशित

हुए थे और जो एक मूढ़तापूर्ण सार्वभौमिकतावाद के कारण यह मान कर चल रहे थे कि भारतीय इतिहास यानी भारतीय राष्ट्र की स्मृति और संस्कार स्वयं में कोई उल्लेखनीय अर्थ नहीं रखते। अपने भिन्न इतिहास के बावजूद भारत समकालीन यूरोप का ही भविष्य में अनुसरण करेगा तथा इसलिए जो बार-बार यह आशंका व्यक्त कर रहे थे कि भारत में भी एक ऐसा राष्ट्रवाद पनप सकता है जो वस्तुतः है तो साम्राज्यवाद, किंतु जिसे साम्राज्यवादी व्यूह-रचना के तहत राष्ट्रवाद कहा जाता है।

गांधीजी ने अपने लेखों में यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय राष्ट्र उस राष्ट्रवाद नामधारी साम्राज्यवादी लिप्सा को अभिशाप मानता है और मानता रहेगा। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा था कि "अहिंसात्मक राष्ट्रभक्ति और समूहजीवन, सभ्य जीवन की एक आवश्यक शर्त है।"*

घनश्यामदासजी जैसे भारतमाता के अनेक सपूत ऐसे गांधीजी से आकृष्ट हो स्वतंत्रता आन्दोलन में आये। उस समय भारतवर्ष में (गांधीजी द्वारा प्रेरित) स्वराज की वही हवा चल रही थी। सब भारतीय स्वराज के प्रति चिंतित थे और समाज में स्वराज की अभिलाषा बड़ी तीव्र थी। गांधीजी के ही शब्दों में :

"स्वराज की हवा चलाने में हिन्द के दादाभाई नौरोजी ने जमीन तैयार नहीं की होती, तो नौजवान आज जो बातें कर रहे हैं, वे भी नहीं कर पाते। मिस्टर ह्यूम ने जो लेख लिखे, जो फटकारें हमें सुनाईं, जिस जोश से हमें जगाया, उसे कैसे भुलाया जाए ? सर विलियम बैडरबर्न ने कांग्रेस का मकसद हासिल करने के लिए अपना तन-मन-धन सब दे दिया था। उन्होंने अंग्रेजी राज्य के बारे में जो लेख लिखे हैं, आज भी पढ़ने लायक हैं। प्रोफेसर गोखले ने जनता को तैयार करने के लिए, भिखारी जैसी हालत में रह कर, अपने बीस साल दिए हैं। आज भी वे गरीबी में रहते हैं। मरहूम जस्टिस बदरुद्दीन ने भी कांग्रेस के जरिये स्वराज का बीज बोया था। यों बंगाल, मद्रास, पंजाब वगैरा में कांग्रेस का और हिन्द का भला चाहने वाले कई हिन्दुस्तानी और अंग्रेज लोग हो गये हैं, यह याद रखना चाहिए।"**

* यंग इंडिया, 27-11-24 सं. गांवा 0 खं-25, पृष्ठ 94

** हिन्द स्वराज, पृष्ठ 3, 4

सन् उन्नीस सौ उन्नीस के बाद स्वतंत्रता-संग्राम मुख्यतया दो तरह के लक्ष्यों की साधना के बीच में सामंजस्य की खोज का इतिहास रहा है। और जब वह सामंजस्य नहीं होता दिखा तो गांधीजी ने 1934 में जाकर कांग्रेस से अलग होकर अपने उद्देश्य को साकार करने का संघर्ष दूसरी तरह के संगठनों द्वारा करमे में अपनी मुख्यशक्ति केन्द्रित की। 1919 से साइमन कमीशन तक कांग्रेस के साथ-साथ की साझेदारी में गांधीजी की निरंतर यह कोशिश रही कि कांग्रेस भारतीय समाज के पुनर्जागरण एवं पुनर्गठन का भी साधन बने। वह औपनिवेशिक संस्कार के बोझ से भारत को मुक्त करके अपनी आत्मा के अनुकूल राज्यतंत्र की स्थापना के लिए कांग्रेस को एक सक्षम साधन बनाने की कोशिश करते रहे। लेकिन भारत के पढ़े-लिखे वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही कांग्रेस की दिलचस्पी केवल औपनिवेशिक सत्ताधारियों की जगह लेने में ही रही, और देश का यह वर्ग एवं उसके नेता उसी औपनिवेशिक साम्राज्य के संस्कार, विचार, व्यवस्था, मूल्य और आदर्शों को ही अपना भी आदर्श मानते थे। यह स्पष्ट हो जाने पर गांधीजी ने समाज के पुनर्जागरण और पुनर्गठन के लिए रचनात्मक साधनों की तलाश कांग्रेस के वातावरण से स्वतंत्र होकर जारी रखी।

स्वराज की जो अभिलाषा महात्मा गांधी की दृष्टि में थी, मूलतः उसी अभिलाषा के प्रति घनश्यामदासजी आकृष्ट हुए। देश और समाज के पुनर्जागरण, आर्थिक विकास और पुनर्गठन के लिए जिन रचनात्मक साधनों की तलाश गांधीजी को थी, उसी के एक महत्वपूर्ण स्वतः साधन घनश्यामदास बिड़ला हुए।

स्वराज का गांधीवांदी इतिहास यह नहीं है जो कांग्रेस को केन्द्र में रख क्रर और गांधीजी को कांग्रेस के सर्वोपरि नेता का स्थान देकर लिखा गया है। सही इतिहास की झलक गांधीजी के द्वारा अनेक रचनात्मक कार्यक्रमों के संगठन और विकास के प्रयासों में देश की जनता और अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा दिए गये समर्थन और उनके कर्मों से मिलती है।

घनश्यामदास बिड़ला उन्हीं व्यक्तियों में एक अति विशिष्ट व्यक्ति थे।

भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति और इसके आधुनिक इतिहास-निर्माण-कार्य में उनका योगदान उल्लेखनीय है। अपने रचना-कार्य के दौरान उन्होंने अपनी दोनों महत्वपूर्ण पुस्तकों, 'बिखरे विचारों की भरोटी' और 'मेरे जीवन में गांधीजी' में उन सब

व्यक्तियों, यहाँ तक कि कतिपय विदेशियों का उल्लेख किया है जो भारत की स्वतंत्रता के लिए सचेष्ट रहे और उसमें योगदान करते रहे। उनकी दृष्टि में इंगलैंड, अमरीका और अन्य देशों में भी भारत के प्रति सहानुभूति रखने वालों की कमी नहीं थी। उनके मतानुसार, किन्तु उनकी चेष्टाएँ उतनी फलदायिनी सिद्ध नहीं हुईं, केवल वही चेष्टाएँ फलदायिनी सिद्ध हुईं जिनके मूल में भारतीय स्वराज के प्रति सच्ची अभिलाषा निहित थी।

काफी हद तक घनश्यामदासजी की मध्यस्थता के कारण अंग्रेज भारत के मित्र बने थे। ये अंग्रेज मित्र, घनश्यामदासजी के अनुसार, दो श्रेणियों में बँटे हुए थे—एक श्रेणी ब्रिटेन में थी और दूसरी भारत में। ब्रिटेन-स्थित मित्रों की भी श्रेणियाँ थीं। कुछ लोग मुख्यतः कर्तव्य की सम्मानास्पद भावना से प्रेरित थे और समझते थे कि उन्हें समय के साथ चलना चाहिए। कट्टर विचार वाले व्यक्तियों की बात दूसरी है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मैकाले के जमाने से ही ब्रिटिश पार्लियामेंट की यह घोषित नीति रही है और कुल मिलाकर ब्रिटिश जनता का भी यही एकमात्र राष्ट्रीय कार्यक्रम बना रहा है कि भारतीयों को उत्तरोत्तर अपना शासनकार्य स्वयं चलाने की कला सीखनी चाहिए, सो भी जल्दी से जल्दी। लार्ड हेलीफैक्स ने एक बार कहा था कि ब्रिटिश जनता का लक्ष्य इसके अलावा और कोई हो ही नहीं सकता। सर सेम्यूअल होर और उनके अधिकांश अनुदार दलीय साथी इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित थे। उन्होंने श्री एटली और विपक्षी दल की मदद से और अपने ही दल के अनेक सदस्यों की इच्छा के विरुद्ध, भारतीय शासन विधान पार्लियामेंट में पास कराया।

किन्तु शासकवर्ग में ऐसे भी व्यक्ति थे, जो केवल अपने सम्मान और कर्तव्य की भावना से ही नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वासों और मानवजाति के प्रति प्रेम की भावना से भी प्रेरित थे। उनकी इन भावनाओं ने उनके मन में भारत के प्रति गहरी सहानुभूति जाग्रत कर दी थी और वे हर्षपूर्वक हमारी भावी स्वतंत्रता की बाट जोह रहे थे। इनमें लार्ड हैलीफैक्स का प्रमुख स्थान था। वह अनुदार दलीय वाइसराय थे और बाद में ब्रिटेन के मंत्री रह चुके थे। दूसरे लार्ड लोदियन थे जो नरम दल के सदस्य थे और मिली-जुली सरकारों में भारत के उप सचिव और ब्रिटेन के मंत्री रह चुके थे। बापू और इन दोनों के बीच सच्ची मित्रता घनश्यामदास बिड़ला ने ही करायी थी। ''वैसे बापू व्यक्तिगत सम्पर्क के लिए उत्सुक रहते थे, पर जब मैंने

उन्हें चर्चिल के साथ अपनी मुलाकात का हाल लिख कर भेजा, जिसमें मेरी प्रेरणा पर चर्चिल की भारत-यात्रा संबंधी तत्परता की चर्चा थी, तो बापू को विशेष उत्साह नहीं हुआ। बापू ने मुझे साफ बता दिया कि जहाँ तक उनका संबंध है, वह श्री चर्चिल को कोई निमंत्रण या प्रोत्साहन नहीं देंगे। उन्होंने कहा कि लार्ड लोदियन की बात दूसरी है, वह उनके भारत आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे। लार्ड लोदियन का भारत आगमन बहुत सफल रहा और उससे हम सबको बड़ी खुशी हुई। वह दिल्ली में और अन्यत्र मेरे अतिथि रहे। जब वह वर्धा गये तो उन्होंने बापू के अतिथि के रूप में सेवाग्राम आश्रम के सादे जीवन को अंगीकार किया।

कुछ अन्य मित्र थे, खासतौर पर क्वेकर लोग, जो अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण बापू के अहिंसा-व्रत के प्रति सहानुभूति रखते थे। भारत में उनकी श्रेणी में मिशनरियों को रखा जा सकता था। इन मिशनरियों में से अधिकांश ने, चाहे वे अंग्रेज रहे हों या अमरीकी, हमारे साथ सहानुभूति दिखाई। कैथोलिक मिशनरियों को शायद अपवादस्वरूप मानना होगा। वे लोग अधिकतर लैटिन देशों के थे। उनके निजी विचार चाहे जो रहे हों, उन्होंने अपना कोई राजनीतिक मत प्रदर्शित नहीं किया। मजदूर-दल के प्रायः सभी संसदीय सदस्यों ने, और सभी श्रमजीवी संस्थाओं ने, सहानुभूति प्रदर्शित की। जब युद्ध समाप्त हो गया तो बहुआलोचित साइमन कमीशन के भूतपूर्व सदस्य श्री एटली को ब्रिटेन के वादों को पूरा करने का गौरव प्राप्त हुआ। सर्वसाधारण लोगों में पादरी सोरेनसन और श्री फेनर ब्राकवे के नाम उल्लेख योग्य हैं। उन्होंने कभी-कभी जानकारी के अभाव का परिचय अवश्य दिया, पर उसकी पूर्ति उन्होंने अपनी लगन से की। विरोध उन्हीं लोगों की ओर से होता था, जिनका अंग्रेजी प्रभुत्व में निहित स्वार्थ था। यह स्वाभाविक भी था। इंगलैंड में बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाएँ थीं, जिन्होंने औपनिवेशिक व्यापार के द्वारा खूब धन कमाया था। भारत सुई से लगाकर जहाजों तक हर किस्म के तैयार माल के लिए एक विस्तृत बाज़ार बना हुआ था और कभी-कभी तो इन पदार्थों के लिए कच्चा माल मुख्यतः भारत से ही जाता था।''*

भारत में भी उनकी प्रतिमूर्ति मौजूद थी। वैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा इंगलैंड

* मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 393

से आये हुए आदेशों का वफादारी के साथ पालन करती थी, और भारत में संसदीय संस्थाओं के विकास का प्रयत्न ईमानदारी के साथ करती थी, पर उसमें ऐसे लोगों का अभाव नहीं था, जो उन आदेशों के प्रति अपनी खालिस नापसंदगी को छिपाते नहीं थे। वे अपने को भारतीयों के लिए आवश्यक फौलादी साँचा मानते थे। अंग्रेजों को भारतीयों की शासन करने की योग्यता पर विश्वास न था। इसका कारण यह था कि उन्हें भारतीयों पर हुकूमत करना अच्छा लगता था। भारतीय सेना और जल सेना को इसका सम्मानास्पद अपवाद कहा जा सकता है। ये अपने को राजनीति से अलग रखे हुए थीं। इन सेनाओं के अफसरों और सैनिकों के बीच सचाई भरा भाईचारा था, क्योंकि युद्ध में दोनों को समानरूप से जीवन की बाजी लगानी पड़ती थी और वे सभी एक-दूसरे पर निर्भर करते थे।

व्यापारी हलकों में निहित स्वार्थ भी उसी प्रणाली का अनुसरण करते थे। बैंक, बीमा और जहाजरानी के व्यवसायों पर अंग्रेजों का अधिकार समझा जाता था। स्काटलैंड के कुछ खास परिवारों ने पटसन व्यापार पर एकाधिकार कर रखा था। बंगाल के खेतों और हुगली मिल से लगाकर डांडी पहुँचने तक सारे व्यापार और धंधे पर उन्हीं का इजारा था। उन्होंने बेशुमार धन कमाया था और वे यह आशा करते थे कि उनके बच्चे भी उन्हीं के पद-चिह्नों का अनुसरण करेंगे। बड़े शहरों में बड़ी-बड़ी मैनेजिंग एजेंसी फर्मों का विकास हुआ और उनका जाल सारे भारत में छा गया। इस वर्ग के प्रायः सभी लोग शक्तिशाली विरोधी थे। वे ब्रिटिश प्रभुत्व के पक्के हिमायती प्रतीत होते थे। हाँ, इतना अवश्य है कि जब ब्रिटिश सरकार ने लार्ड माउंटबेटन को अपना अन्तिम वाइसराय बनाकर भारत भेजा और अपने भावी इरादों को साफ तौर से जाहिर कर दिया तो उन्होंने अपने विरोध का अन्त यथासंभव मृदुलता के साथ कर दिया। उन्होंने जल्दी ही दिखा दिया कि वे अपने को नये साँचे में ढाल लेने की क्षमता रखते हैं।

पर इन सुविधा-भोगी क्षेत्रों में भी सदा उल्लेखनीय अपवाद मौजूद रहे हैं। उदाहरण के लिए, ''इंगलैंड में लार्ड डरबी को मैंने न्यायप्रिय, पक्षपातशून्य और बिल्कुल दम्भरहित व्यक्ति पाया, हालाँकि प्रादेशिक आधार पर लंकाशायर उनसे अधिक पक्षपात की आशा कर सकता था। हम भारतवासियों को याद है कि कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों ने की थी, जिनमें कलकत्ते के स्काट व्यापारी एंड्रयूज यूल का स्थान प्रमुख था। भारतीय सिविल सर्विस के सर हैनरी काटन उन पुराने

दिनों के मित्रों में से थे। पत्रकार जगत में रार्बट नाइट का नाम आता है, जिन्होंने 19वीं शताब्दी में 'टाइम्स आफ इंडिया' की और बाद में 'स्टेट्समैन' की स्थापना की। ये भी भारत के पक्के हिमायती थे। इसमे संदेह नहीं कि और भी अनेक ज्ञात और अज्ञात सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति मौजूद थे। जब बापू ने हमें उठाकर खड़ा किया, हमारे स्वाभिमान में वृद्धि की और हमें अपने पाँवों पर खड़े होना सिखाया तो इन मित्रों की संख्या में खूब वृद्धि हुई। लायड जार्ज ने 'नरम हिन्दू' के विशेषण को जन्म दिया और इस नरमी ने कहावत का रूप धारण कर लिया। किन्तु जब अंग्रेजों ने देखा कि नरमी की भी एक सीमा होती है, तो वे लोग हमारा अपेक्षाकृत अधिक सम्मान करने लगे।''*

आजादी की लड़ाई में जो लोग सीधे शरीक थे, उनके सिवाय घनश्यामदासजी जैसे लोगों ने अपने इतिहास और परंपरा के प्रति समझ से भरा आत्मगौरव जाग्रत करने के लिए भारतीय समाज और परम्परा में जो भी कुछ श्रेयस्कर है, उसको पर्याप्त विस्तार और गहराई के साथ देश के सामने रखा था और इसे अपनी स्वराज-प्राप्ति की राजनीति का आधार बनाया था।

घनश्यामदासजी के अनुसार स्वराज-पथ में गतिरोध का प्रारम्भ द्वितीय महायुद्ध के पहले हेमन्त में कांग्रेसी मंत्रियों के त्यागपत्र से हुआ, पर इससे वाइसराय और राष्ट्र-नेता के संबंध तुरन्त ही नहीं टूट गये। दोनों में जी.डी. के कारण सद्भावनापूर्ण पत्र-व्यवहार का सिलसिला जारी रहा। दोनों कोई-न-कोई समझौता ढूँढ़ निकालने के लिए सचेष्ट रहे और बीच-बीच में मिलते भी रहे। पर दोनों ओर संदेह की जड़ मजबूत होती गयी। संदेह से संदेह पैदा होता है और किस पक्ष ने संदेह का प्रारम्भ किया, इसका निर्णय करना आसान काम नहीं है। जी.डी. की दृष्टि से उस संदेह का जन्म ब्रिटिश पार्लियामेंट में अथवा भारत के बाहर के अंग्रेजों में नहीं, स्वयं भारत में ही रहने वाले अंग्रेजों में हुआ और इसका इतिहास पुराना है। वे लोग अपनी सुविधा-भोगी स्थिति की रक्षा करने के लिए हमेशा चौकन्ने रहते थे। ''वे व्यापारी होने के नाते राजनीति से अपने को अलग रखने का दिखावा करते थे और व्यवस्थापिका सभाओं तक में महत्वपूर्ण विवादग्रस्त विषयों पर कोई खास पक्ष लेने से बचते थे, पर हमारी संख्या का भूत उन्हें बराबर सताता रहता था। उनकी

* मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 394-395

कल्पना थी कि वे मुट्ठी-भर होते हुए भी जो इस अभागे जन-समुदाय के बीच चैन की बंसी बजा रहे हैं, सो किसी मोहिनीमंत्र के चमत्कार से ही। पर निर्धन जनता की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही थी, उससे यह साफ जाहिर था कि इन लाखों-करोड़ों का समूह अन्त में अरबों का समूह बन जाएगा। इसमें संदेह नहीं कि इस जन-समुदाय के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने की समस्या को अंग्रेजों ने जन्म नहीं दिया था। अलबत्ता उन्होंने शांति को अवश्य जन्म दिया और न यह समस्या अंग्रेजों के चले जाने से ही हल हो जाती।..... दूसरी ओर हम भारतवासी, जिनमें बापू भी शामिल थे, आवश्यकता से अधिक शंकाशील हो गये थे। अधिकांश भारतवासी अंग्रेजों को उन्हीं लोगों द्वारा जानते थे, जिनके संपर्क में आने का या जिनके साथ व्यवहार करने का उन्हें भारत में अवसर मिलता था। ये लोग अपने देशवासियों के अच्छे-खासे और औसत दर्जे के नमूने होते थे और कुछ तो औसत से भी काफी ऊँची कोटि के होते थे, पर होते थे आवश्यकता से अधिक सुविधाभोगी। फलतः उन्हें अपने बचाव की ही चिंता रहती थी। दुर्भाग्यवश अंग्रेजों के आने के पहले हमारे देश में पारस्परिक संदेहों और षड्यंत्रों का अभाव था और देश निरंकुश राजाओं द्वारा शासित अनेक टुकड़ियों में बँटा हुआ था। ऐसी अवस्था में हममें से अधिकांश के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने नये अंग्रेज प्रभुओं को संदेह की दृष्टि से देखते और उनके इरादों को बुरा समझते। आम जनता उन्हें निरंकुश समझती थी। उसने लोकतंत्रीय संस्थाओं का नाम तक नहीं सुना था।''*

घनश्यामदासजी के अनुसार स्वराज की दिशा में भारत की प्रगति का सबसे कड़ा विरोध उपनिवेश प्रवासी अंग्रेजों ने किया। वे स्वराज की दिशा में गतिरोध को बनाने में इतने सफल हुए कि अंत में बापू के साथ घनश्यामदासजी जैसे व्यक्तियों को भी पूरा संदेह होने लगा। घनश्यामदासजी के विचार से जिस गांधी ने प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन का समर्थन किया था वह भी अब अंग्रेजों के प्रति संशयशील हो गये थे। उनके विचार से इस कायापलट का श्रेय रोलट कानून को है। यह कायापलट जिस चीज को लेकर हुआ उसे ध्यान में रखा जाए तो ऐसा प्रतीत होगा मानो बापू ने भारतीय राष्ट्रीयता की दीर्घकालीन वकालत के दौरान

* मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 395-396

अंग्रेजों की उन विशेषताओं को भुला दिया था जिनसे वह काफी परिचित हो गये थे। सरकार ने रोलट कानून के द्वारा संगठित संकटकालीन अवस्था का सामना करने के लिए ही विशेषाधिकार अपने हाथ में लिए थे।

यह वह समय था जब वाइसराय के साथ अपनी बातचीत के दौरान बापू ने 'औपनिवेशिक स्वराज' शब्द पर घोर आपत्ति की। घनश्यामदासजी को उनकी यह आपत्ति अनावश्यक लगी। उन्होंने इस संदर्भ में 12 जनवरी, 1940 को जो पत्र महादेवभाई को लिखा, वह स्वराज बनाम स्वतंत्रता की दिशा में जी.डी. के मानस को समझने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

"मैं नहीं जानता कि हम औपनिवेशिक दर्जा (डोमिनियम स्टेटस) और स्वतंत्रता में अनावश्यक भेद क्यों पैदा करना चाहते हैं। हम ब्रिटेन से संबंध तोड़ना भी चाहेंगे तो वेस्टमिन्स्टर विधान के नमूने का औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त करने के बाद भी ऐसा कर सकते हैं। हम ब्रिटेन से क्यों कहें कि वह हमसे नाता तोड़ दे? अगर हम नाता तोड़ना चाहेंगे, तो जब हमें ऐसा करने की आजादी मिल जाएगी, उस समय उसकी जिम्मेदारी हम खुद अपने ऊपर ले सकते हैं। यदि हम वैसी अवस्था में संबंध तोड़ेंगे तो मतदाताओं की पूर्ण सहमति के साथ ही ऐसा करेंगे। राष्ट्रमंडल से हमें अलग करने के लिए ब्रिटेन से कहने का अर्थ होता है कि हम ब्रिटेन से कुछ ऐसा काम करने को कहते हैं जिसे करने का अधिकार हमारे मतदाताओं को होना चाहिए। वास्तव में ब्रिटेन ठीक ही यह कह सकता है, 'हम, जिम्मेदारी क्यों लें ? जब आपको औपनिवेशिक दर्जा मिल जाय तो आप चाहें तो संबंध तोड़ सकते हैं।' और मेरी समझ में उनका ऐसा करना बिल्कुल तर्कसंगत होगा।"

और 14 तारीख को बापू ने वाइसराय को लिखा :

"मैंने आपका बम्बई का भाषण एक से अधिक बार पढ़ा। पर यह पत्र मैं आपके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखने के लिए लिख रहा हूँ। वेस्टमिन्स्टर विधान के अर्थ में औपनिवेशिक दर्जे और स्वतंत्रता को पर्यायवाची माना जाता है। यदि यही बात है तो आप ऐसे वाक्य का प्रयोग क्यों न करें, जो भारत की स्थिति के अनुरूप हो।"

इस संदर्भ में 15 तारीख को महादेव भाई ने घनश्यामदासजी को लिखा :

"आपने इंगलैंड के लिए भारत की स्वतंत्रता की घोषणा करना संभव न होने की जो बात कही है एवं और जो कुछ कहा है, उसे मैं तो समझ गया, पर बापू

का विचार भिन्न है। परंतु यदि सब कुछ ठीक-ठाक रहे और केवल इसी बात पर मामला अटकता है, तो बापू पुनर्विचार करेंगे, हालाँकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि वाइसराय उनके दृष्टिकोण को और किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझते हैं। वास्तव में बापू का कहना तो यह है कि यदि वह (अर्थात् बापू) इंगलैंड में हों तो वह इंगलैंड को औपनिवेशिक दर्जे के बजाय स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग करने को आसानी से राजी कर सकेंगे।''

घनश्यामदासजी की स्वराज-अभिलाषा के केन्द्र में उनका यह यक्ष-प्रश्न था कि हम इतने गिरे हुए, पिछड़े हुए, पतित और परतंत्र क्यों हैं ? और यूरोपीय लोग बढ़े-चढ़े, सुखी, सहृदय और स्वतंत्र क्यों हैं ?

इसका उत्तर उन्होंने स्वयं देने का प्रयत्न किया है :

''असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े हैं। हम अपनी अकर्मण्यता को संतोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, बाह्योपचारी रूढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शांति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं, और इसी में अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में हम तमोगुण में डूबे पड़े हैं और पाश्चात्य लोग रजोगुण में गोता खाते हैं। सतोगुण को न हम पा सके हैं, न पाश्चात्य लोग। भेद इतना ही है कि हमारे पूर्वज ऐसी सम्पत्ति छोड़ गये हैं कि उसके बल पर आज सत्व का गुणगान करते हैं। उसकी उपासना को श्रेष्ठ मानते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग कहते हैं कि सतोगुण किसी देश या जाति ने सामूहिक तौर पर नहीं अपनाया, न अपना सकती है, इसलिए उसे आदर्श मानने से कोई लाभ नहीं। सतोगुण की भूल-भूलैया में पड़कर कहीं हमारे लोग तमोगुण में न डूब जाएँ। इसलिए अच्छा यही है कि सार्वजनिक आदर्श 'युद्ध' ही रहे। हाँ, जो लोग व्यक्तिगत रूप से चढ़ना चाहें तो 'मामनुस्मर युद्ध च' इस मंत्र को मानें, किन्तु 'युद्ध', इस मंत्र को कोई न भूलें।''*

गांधीजी के समान घनश्यामदासजी का स्वराज आदर्श ऊँचा था। पर इसमें उन्हें संदेह नहीं था कि उसमें ''सत्व और रज दोनों का अभाव'' था। इस अभाव की चिंता उन्हें सदा रही। इस अभाव को ही उन्होंने असली परतंत्रता माना है।

* बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 245

इसके भीतर भी जो कारण उन्होंने ढूँढ़े हैं, महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने माना है कि "हममें स्वराज की उत्कट अभिलाषा नहीं है।"

***

पहला भाग

भारत देश

पहला अध्याय

भारत में अंग्रेजी राज और राष्ट्रीय चेतना का उदय

पन्द्रहवीं सदी के अंत में समुद्र के रास्ते भारतवर्ष से सीधा संबंध स्थापित करने के लिए पुर्तगाल, स्पेन और ब्रिटेन अपनी पूरी ताकतों से चेष्टा करने लगे। पुर्तगाल का वास्को डी गामा अफ्रीका का चक्कर काटकर 17 मई, 1458 को कालीकट आ पहुँचा। 1500 ईसवी में पुर्तगालियों ने कालीकट में अपनी फैक्ट्री बनायी। भारतवर्ष में यूरोप के पूँजीवादियों का प्रवेश यहीं से आरंभ होता है।

नवम्बर 1590 में पुर्तगालियों ने बीजापुर के सुलतान से गोवा ले लिया। उसे उन्होंने अपने सामुद्रिक साम्राज्य की राजधानी बनाया। यह हिन्दुस्तान में यूरोपियों का पहला उपनिवेश था।

करीब एक सौ वर्ष तक पुर्तगालियों को यूरोप के किसी दूसरे पूँजीवादी का मुकाबला नहीं करना पड़ा। सन् 1600 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी, 1602 में उच्च ईस्ट इंडिया कंपनी और 1664 में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी बनी। इन सारी कंपनियों की तुलना में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का महत्व सबसे ज्यादा था। शेष दोनों कंपनियों की तुलना में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को यहाँ के उदीयमान सेठ, साहूकारों और व्यापारियों से अधिक सामना करना पड़ा। भारतीय व्यापारियों, सेठ और साहूकारों को शिकस्त देने के लिए अग्रेजों ने यहाँ के सामंतों से विशेष अधिकार प्राप्त किए। उहोंने शाहजहां के शासनकाल में तीन हजार रुपये वार्षिक पर बंगाल में बिना शुल्क व्यापार करने की इजाजत सूबेदार शाहजादा शुजा से हासिल कर ली। सन् 1715 में ब्रिटिश डाक्टर हैमिल्टन के अनुरोध पर बादशाह फर्रूखसियर ने बंगाल में विलायती माल पर शुल्क एकदम माफ कर दिया। इस तरह अंग्रेजों ने एक ओर समुद्री व्यापार पर अधिकार कायम किया और दूसरी ओर यहाँ के सामंतों से विशेष अधिकार प्राप्त कर भारतीय व्यापारियों को तबाह कर दिया। सन् 1757 में पलासी युद्ध, 1764 में बक्सर युद्ध लड़कर 1818 तक

मराठों की शक्ति नष्ट कर सारा उत्तर भारत ब्रिटिश पूँजीवादियों ने अपने अधीन कर लिया और बाकायदा राज करना शुरू किया। यह पूरे भारतवर्ष को हथियाने की शुरुआत थी। इस तरह भारतवर्ष में सामंतों को हराकर जो राज कायम हुआ, वह यहाँ की सामंती समाज व्यवस्था के अंदर से पैदा हुआ पूँजीवाद राज्य न था, बल्कि अंग्रेजी पूँजीपतियों का राज्य था। इसने यहाँ के समाज का स्वाभाविक विकास रोक दिया।

इस तरह अठारहवीं शताब्दी में भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व जम गया। भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ कि इसके प्रशासन और भाग्यनिर्णय की डोर एक ऐसी विदेशी जाति के हाथों में चली गयी, जिसकी मातृभूमि हजारों मील दूर थी। इस तरह की पराधीनता भारत के लिए अभूतपूर्व थी।

अंग्रेजों ने भारतीय शासकों की सीधाई, कमजोरी और मूर्खताओं का पूरा लाभ उठाया और स्वयं भारतीयों की सहायता से पूरे भारत के मालिक बन बैठे। इसे अपना उपनिवेश बनाने में पूरा प्रयत्न किया और उपनिवेश स्थापना में जितनी जिम्मेदारियाँ निहित थीं, निर्वाह किया। वे अपने लक्ष्य में स्पष्ट थे। उनके इरादे पक्के थे। वे यहाँ व्यापार करके लाभ कमाने आये थे। वे भारतीय राज्य के खजाने में आनेवाले राजस्व का उपयोग निर्यात के लिए और भारतीय माल के उत्पादन और खरीद में करने लगे। उन्होंने वाणिज्य और मालगुजारी उगाहने की ज़रूरतों से प्रेरित होकर एक नये प्रशासन-तंत्र की स्थापना की। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए भारतीय उद्योग, व्यापार, कृषि, शिक्षा आदि का जितना अनिवार्य विनाश होना था, उन्होंने पूरी शक्ति से उसे पूरा किया।

2. भारतीय उद्योग-धंधों का नाश

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक, जब कि भारत का बना हुआ तरह-तरह का माल और विशेषकर यहाँ के बने हुए सुन्दर कपड़े ब्रिटेन में जाकर बिकते थे और खूब पसंद किए जाते थे, ब्रिटेन के बने हुए कपड़े भारत में लाकर बेचने का अंग्रेज

शायद स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकते थे। सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासज्ञ लैकी लिखता है कि "सन् 1688 की अंग्रेजी क्रान्ति के पश्चात् जब मलका मेरी अपने पति के साथ ब्रिटेन आयी तो भारतवर्ष के रंगीन कपड़ों का शौक उसके साथ आया और तेज़ी के साथ हर श्रेणी के अंग्रेजों में फैलता गया।"

पलासी के युद्ध के बाद से बंगाल की लूट के प्रताप से अंग्रेजों को भारत का माल लगभग मुफ़्त में या कौड़ियों के दाम मिलने लगा, और बंगाल, कर्नाटक, अवध और अन्य प्रान्तों से खजाने लद कर ब्रिटेन जाने लगे। इस अपूर्व लूट के कारण ब्रिटेन के पिछड़े उद्योग-धंधों को उन्नति करने का अवसर मिला।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में तत्कालीन आयात शुल्कों और इंगलैंड में वाष्पचालित मशीनों के प्रयोग के कारण कम लागत पर सूती कपड़ा बनने के बावजूद इंगलैंड यूरोप की मंडियों के माल से होड़ न लगा पाया। भारतीय माल की कीमतें विलायती माल की कीमतों की तुलना में 50 से 60 प्रतिशत तक कम बनी रहीं। इसलिए अपने माल के अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने के लिए ब्रिटेन ने अपने विजित प्रतियोगी के उत्पादनों का विनाश करने के विचार से अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया। भारतीय माल के आयात पर इतना अधिक शुल्क लगा दिया गया कि उसका आयात ही न हो सके और भारतीय उत्पादकों पर असहनीय वस्तुओं का भार डाल दिया गया।

शक्तिशाली शासक के नाते ईस्ट इंडिया कंपनी का हित इस बात में था कि वह अपनी प्रजा की उत्पादक गतिविधियों को प्रोत्साहित करके उनके धन में वृद्धि करे, किन्तु एक व्यापारी कंपनी होने के नाते उसे अपना लाभ बढ़ाने में विशेष रुचि थी। एडम स्मिथ ने लिखा, "शासक होने के नाते ईस्ट इंडिया कंपनी का हित इसमें है कि उसके भारतीय अधिराज्यों में यूरोप का बना जो माल भेजा जाता है वह वहाँ यथासंभव सस्ते दामों पर बेचा जाए और भारत से लाए जाने वाले भारतीय माल की यूरोप में अच्छी-से-अच्छी कीमत मिले, अर्थात् यहाँ वह महँगे-से-महँगा बेचा जाए। व्यापारी होने के नाते उसका हित इससे विपरीत स्थिति में है।"[1] कंपनी माल के दाम इस तरह रखती थी, जिससे कारीगरों को नुकसान पहुँचता था। वह बुनकरों का दमन करती थी और ऐसी अनेक निषेधात्मक नीतियों का भी पालन करती थी,

1. एडम स्मिथ, 'द वेल्थ आफ नेशन्स' (आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण), पृष्ठ 602-3

जिससे भारतीय उद्योगों, विशेषतः बंगाल के सूती वस्त्र-उद्योग का विनाश हो रहा था।

भारतीय माल खरीदने और भारत में कंपनी की पूँजी लगाने का तरीका कुछ ऐसा रखा गया था, जिससे गरीब बुनकर के साथ धोखा था और उसका दमन किया जाता था। कंपनी प्रायः मासिक वेतन पर ऐसे एजेंट नियुक्त करती थी, जिन्हें गुमाश्ता कहा जाता था। प्रत्येक गुमाश्ता, एक क्लर्क और एक खजांची के साथ, नियमित अवधि के बाद खरीदारी के लिए देश के भीतरी भागों में जाता था। सन् 1757 में जब मीर जाफर को सिंहासन पर बैठाया गया, तब तक अंग्रेजों के गुमाश्ते इतने शक्तिशाली हो चुके थे और उनका अधिकार-क्षेत्र इतना बढ़ गया था कि इस देश में राजाओं और जमींदारों की भी सत्ता उनका सामना नहीं कर सकती थी। सन् 1765 के बाद जब बंगाल में नवाब की प्रभुसत्ता का आवरण पूर्णतः हटा दिया गया, तब उन्हें देश के सर्वोच्च शासक से सीधे तौर पर सत्ता प्राप्त हो गयी और वे उसकी ओर से शक्ति का प्रयोग करने लगे। वे वाणिज्य के एजेंट-मात्र न थे, वे तो विधिकर्त्ता और दंडनायक भी थे, जिनके फैसले की कहीं अपील नहीं हो सकती थी। आमतौर पर बुनकरों की सहमति आवश्यक नहीं समझी जाती थी, क्योंकि कंपनी की ओर से नियुक्त गुमाश्ते प्रायः उनसे जहाँ चाहते, हस्ताक्षर करा लेते। बताया जाता है कि जितने रुपये दिए जाते, उतने लेने से इन्कार करने पर वे रुपये उनकी कमरबंद में बाँध दिए जाते और फिर कोड़ों से मार-पीट कर उन्हें भगा दिया जाता।

कंपनी की किताबों में बहुत-से बुनकरों के नाम भी दर्ज कर लिए गये थे और उन्हें किसी और के लिए काम करने से रोक दिया गया था। उन्हें कंपनी के एक गुमाश्ते से दूसरे गुमाश्ते के पास भेजा जाता था। वे मानो ऐसे दास थे, जिन्हें प्रत्येक परवर्ती गुमाश्ते के अत्याचार तथा दुष्टता का शिकार होना पड़ता था। उन पर निगाह रखने के लिए चपरासी और चौकीदार नियुक्त कर दिए गये थे, ताकि वे कंपनी के गुमाश्तों के अलावा और किसी के हाथ माल न बेच सकें और बुनकर की ऐसी इच्छा का आभास-मात्र मिलने पर उसका कपड़ा पूरी तरह तैयार होने से पहले ही खड्डी पर काट डाला जाता था। इस चौकसी के बावजूद यदि कोई बनुकर दलालों की सहायता करता तो उसे व दलाल को पकड़ लिया जाता था और जेल में बंद कर दिया जाता था। उन पर काफी जुर्माना होता था और अपनी जिस

जाति-प्रतिष्ठा को वे सबसे अधिक मूल्यवान समझते थे, उसी से उन्हें वंचित कर दिया जाता था। गुमाश्ते कंपनी के कारोबार के साथ ही अपने निजी और वैयक्तिक कारोबार मिला देते और जिन अनुकूल शर्तों पर वे कंपनी के लिए माल खरीदते थे, उन्हीं शर्तों पर वे अपनी कंपनी के लिए माल खरीदने में मनमाने अधिकारों का प्रयोग कर लिया करते थे। इस विभाग में प्रचलित दुष्टता कल्पना से परे की बात थी। किन्तु इस सबका अंत गरीब बुनकर को धोखा देने में ही होता था, क्योंकि उसके माल के जो दाम कंपनी का गुमाश्ता और उसी की सलाह से अधिकारी निश्चित करता था, वह सब जगह उस दाम से कम-से-कम 15 प्रतिशत और कहीं-कहीं 50 प्रतिशत कम होता था, जो उक्त माल को खुले तौर पर बाजार में बेचने पर बुनकरों को मिल सकता था।

दूसरा कठोर तरीका था कच्चे माल की लूट का, जो भारतीय उत्पादकों के लिए हानिकारक था। बंगाल में बढ़िया किस्मों की कपास बम्बई और सूरत से जाती थी। उस कपास की आपूर्ति अपनी मुट्ठी में लेने और बंगाल में उसकी कीमतें बढ़ाने के लिए कंपनी के कर्मचारियों ने एक निजी कंपनी खोल ली, जिसमें कलकत्ता-स्थित कौंसिल के सदस्य शामिल थे। उन्होंने सूरत से 25 लाख रुपये की कपास खरीद ली और इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी कीमतें तत्काल 16 से 18 रुपये प्रति मन से बढ़ कर 28 से 30 रुपये प्रति मन तक बढ़ गयीं। बुनकरों के लिए यह स्थिति अत्यंत घातक थी। बुनकर अपने माल को महँगा बेच नहीं सकता था, क्योंकि वे दाम कंपनी के खरीद-एजेंटों द्वारा मनमाने ढंग से निर्धारित कर दिए जाते थे और वह अपने लिए आवश्यक कच्चे माल के लिए बहुत अधिक दाम देने के लिए बाध्य था।

कंपनी और उसके कर्मचारियों द्वारा अपनाए गये तौर-तरीकों का विनाशक प्रभाव होना अनिवार्य था। शिल्पकार तबाह हो गये। कंपनी की सेवा में लगे कुछ उद्यमियों ने, निस्संदेह, बहुत अधिक धन बटोर लिया और वैभव तथा सुख का जीवन बिताने के लिए वे सेवानिवृत्त होकर इंगलैंड लौट गये, परन्तु उन्होंने सोने के अंडे देने वाली प्रसिद्ध मुर्गी को मार कर ही वह धन कमाया। भारत में बनी वस्तुओं के दाम तो बढ़ गये, पर मजदूरी में तदनुसार कोई वृद्धि नहीं हुई। भारत में बनी वस्तुओं का स्तर गिर गया।

कंपनी का प्रधान लक्ष्य भारत से मसाले, सूती और रेशमी कपड़े ले जाकर

ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों में बेचना और अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। उन दिनों इंगलैंड और यूरोप के दूसरे देशों में इन वस्तुओं की बड़ी माँग थी। इसलिए कंपनी की कोशिश थी कि ये चीजें उन्हें कम से कम कीमत पर या मुफ्त में ही मिल जाएँ।

उस समय तक ब्रिटेन का विकास इतना न हुआ था कि वह भारत के माल के बराबर कीमत का माल भारत भेज सके। इसलिए भारतीय माल के लिए अंग्रेजों को अपनी जेब से सोना, चांदी निकाल कर देना पड़ता था। इसलिए अंग्रेज सौदागर भारतीय माल को कम से कम मूल्य पर या मुफ्त ही लेने की चेष्टा करते थे। किन्तु सीधी लूटमार की ताकत का इस्तेमाल वे उस वक्त तक नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने एक और उपाय निकाला। अफ्रीका, अमेरिका आदि दूसरे उपनिवेशों के लूट के माल या पश्चिमी द्वीप समूह और स्पेनीय अमेरिका में गुलामों को बेचकर मिली चांदी के बदले भारत का माल लेना शुरू किया। यह रवैया काफी अरसे तक जारी रहा।

3. कृषि एवं ग्राम व्यवस्था का विध्वंस

इंगलैंड में मध्यकाल के अंत में अर्थव्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता थी— वाणिज्य का विस्तार। नगरों में उद्योग का विकास हुआ। इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जिसने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह मध्य वर्ग था। वह न सामंती कुलीनों का वर्ग था और न खेतिहर श्रमिकों का। इस वर्ग के उदय ने सामंती इंगलैंड का रूप ही बदल दिया और उन शक्तियों को गतिशील बना दिया, जिनकी परिणति राष्ट्रीय राज्यों के विकास में हुई। उन्हीं शक्तियों ने भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना की और उसकी जड़ें मजबूत कीं। इसके ठीक विपरीत भारत की परिस्थितियाँ थीं।

भारतीय गाँव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाइयाँ थे। गाँव की जनता की

आवश्यकताएँ गिनी-चुनी थीं और प्रायः गाँव के भीतर ही पूरी भी हो जाती थीं। बाकी बची फसल भू-राजस्व के रूप में नरेश को मिल जाती थी और किसान के पास सरकारी माँग पूरी करने के बाद ऐसा अधिक कुछ शेष नहीं रह पाता था जिससे वह नागरिक उद्योगों द्वारा बनी वस्तुएँ खरीद सके। ऐसी परिस्थितियों में गाँव और नगर के बीच होने वाले विनिमय की धारा क्षीण ही रहती थी। पूँजी के अभाव, जातिगत बन्धनों की सुदृढ़ता और गाँव तथा शहर के बीच होने वाले व्यापार की नगण्यता ने यहाँ व्यापार तथा साहूकारी में लगे परम्परागत व्यापारी-वर्गों को यूरोपीय ढंग से सुदृढ़, सुव्यवस्थित मध्य-वर्ग का रूप ग्रहण करने से उसे रोके रखा।

भारतीय ग्राम अपने उद्भव, कार्य और संघटन में अपने यूरोपीय प्रतिरूप से भिन्न था। यूरोपीय मेनर (गाँव) एक सार्वदेशिक युद्ध और हिंसा की चुनौती का सामना करने के लिए अस्तित्व में आया था। गाँव एक जीवन-पद्धति वर्णाश्रम-धर्म, को लागू करने के प्रयास में निर्मित हुआ था। पर वास्तविकता मूल धारणा से बहुत दूर पड़ गयी, यह कहना अन्तर्निहित कल्पना को नज़रअंदाज करने के लिए उपयुक्त तर्क नहीं है। इस तथ्य से भी इसका खंडन नहीं होता कि अठारहवीं शताब्दी की अराजक परिस्थितियों में गाँवों ने दीवारों, बुर्जियों और मीनारों से घिरे किलाबंद गढ़ों का रूप धारण कर लिया था। यूरोप का गाँव एक द्वैतात्मक संगठन था। वह मालिक और गुलाम, लार्ड और कामगार की एक सम्बद्धता था। आर्थिक आधार और सैनिक ढाँचा, दोनों ही उसके युद्धपूरक उद्देश्य की घोषणा करते थे।

जहाँ तक भारतीय ग्राम का संबंध है, धरती और मालिक से बँधे कामगार अथवा गुलाम का वहाँ कोई स्थान नहीं था और न ही भारतीय ग्राम लड़ाइयों में कोई सीधा भाग लेते थे। युद्ध छोटे-बड़े राजाओं और उस जाति का काम था, जिसका धंधा ही लड़ना था।

भारतीय गाँव की प्रधान चिन्ता थी—धरतीमाता को पोसना, जिससे वह मानव-जाति के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न दे सके। इस पवित्र कार्य में सभी जातियों को सहयोग देना चाहिए—ब्राह्मण को अपनी पूजा, भविष्यवाणी और धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों के संचालन द्वारा, क्षत्रिय को सुरक्षा और संरक्षण द्वारा, किसान को अपने श्रम द्वारा और कारीगर को अपनी सेवा द्वारा। धरती की उपज में से प्रत्येक को उसका पारिश्रमिक मिलना चाहिए। प्रत्येक को इस सामान्य

उद्देश्य के प्रति अपना कार्य अर्पित करना चाहिए और फसल में से अपने अंशदान के मूल्य के अनुसार हिस्सा लेना चाहिए।

जो मुसलमान गाँवों में बस गये थे, वे भी उसी रंग में रंग गये। हिन्दू-संगठन की प्रतिभा उनके मन पर हावी थी। धर्म, उपासना, उपवास और त्योहारों में तो मुसलमान भिन्न थे, पर उन्हें मनाने के तरीकों में हिन्दुओं की कई विशेषताएँ उन्होंने ग्रहण कर ली थीं। गाँव के सामान्य मेलों और उत्सवों में दोनों ही मिल कर भाग लेते थे। एक अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लिए जो त्योहार पराए थे, उनमें भी दोनों हिस्सा लेते थे।

उस समय की अवस्थाओं में ग्राम-पद्धति एक ऐसी आन्तरिक संयोजना प्राप्त कर चुकी थी, जो उसे स्थिरता और सुरक्षा प्रदान करती थी और जो प्रत्येक को उसकी स्थिति के अनुकूल कर्तव्यों में नियुक्त करती थी। लेकिन इसके साथ ही वह सामाजिक अवस्थाओं को पूरी तरह जड़ीभूत भी करती थी।

गाँव आर्थिक यंत्र की धुरी था। कृषि, उद्योग और व्यापार, सब उसी के चारों ओर घूमते थे। इस दृष्टि से भारत उस मध्य-युगीन यूरोप से भिन्न था। भारत का आर्थिक जीवन दो खंडों में विभाजित था, अर्थात् कृषि गाँव का काम था और व्यापार एवं उद्योग कस्बे का। भारत में नगर थे तो, पर वे मात्र परोपजीवी थे; कुछ राजनीतिक सत्ता के गढ़ थे, कुछ धर्म के केन्द्र थे, कुछ नदियाँ अथवा सड़कों के संगम पर स्थित थे, लेकिन उनमें से बहुत कम ऐसे थे, जिनकी संपन्नता का अथवा आबादी का कारण कोई स्वतंत्र उद्योग अथवा वाणिज्य था।

भारतीय गाँव समाज की सक्रियता का केंद्रबिन्दु था। वह ग्रामीण को घर प्रदान करता था, जहाँ वह रहता, विवाह करता और बच्चे पैदा करता था। वह उसके देवताओं, ग्राम-देवताओं और कुल-देवताओं तथा मंदिरों का स्थान था। वह उसकी जीविका संबंधी हलचलों का रंगमंच था। वह उसे भूमि प्रदान करता था, जिस पर वह खाने, कपड़े और घर की अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए फसल उगाता था। वह उसके सांस्कृतिक और साम्प्रदायिक जीवन का भी केन्द्र था।

1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हाथ में आते ही अंग्रेजों ने किसानों को बुरी तरह लूटना शुरू किया। बंगाल में प्रत्यक्ष राज के बाद लूट और भी बढ़ गयी। उन्होंने किसानों पर लगान तेजी से बढ़ाना शुरू किया। 1764-65

में बंगाल के आखिरी भारतीय शासक के राज में 8 लाख 17 हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की गयी थी। लेकिन कंपनी ने शासन-भार सँभालते ही क्या किया ?

पहले ही साल में यानी 1765-66 में 14 लाख 90 हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की। यह मालगुजारी बढ़कर 1771-72 में 23 लाख 41 हजार और 1775-76 में 28 लाख 18 हजार पौण्ड हो गयी। 1793 में जब लार्ड कार्नवालिस ने 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' किया तो बढ़ाकर 34 लाख पौण्ड कर दी गयी।

इस मालगुजारी का एक बड़ा हिस्सा मुनाफे के रूप में ब्रिटेन भेज दिया जाता। बाकी ब्रिटेन भेजने के लिए ख़रीदे गये भारतीय माल की कीमत चुकाने के लिए 'लागत पूँजी' के नाम से अलग रखा जाने लगा। इस तरह अंग्रेज सौदागर भारत का माल खरीदने के लिए भारत से ही रुपया वसूल करने लगे। अपनी जेब से कानी कौड़ी खर्च किए बिना भारत का माल पाने की अंग्रेज सौदागरों की इच्छा पूरी हुई।

1793 में बंगाल, बिहार, बनारस में 'जमीन का स्थायी बन्दोबस्त' कर किसानों की बरबादी का एक नया कदम उठाया गया। इस बन्दोबस्त के कारण जमीन पर किसानों का मालिकाना हक जाता रहा और नया ज़मींदार वर्ग पैदा हो गया, जो किसानों को किसी भी तरह का मुआवजा दिये बगैर उनकी जमीन का मालिक बन बैठा। इस ज़मींदार वर्ग को पैदा कर ब्रिटिश सौदागरों ने अपनी सरकार के सामाजिक आधार की सृष्टि की। ये नये ज़मींदार ब्रिटिश शासन के आधार स्तम्भ बने। ज़मींदारी के माध्यम से ब्रिटिश सौदागरों ने जो पूँजी कमाई, वही चरण है सौदागरी पूँजी का।

4. लूट का व्यापार

भारतवर्ष की सौदागरी पूँजी और यहाँ से कमाई हुई दौलत ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति पूरी करने में मदद की। इस क्रान्ति के पूरी होने पर ब्रिटेन के कारखानेदारों

के सामने बाजार में माल बेचने की समस्या खड़ी हो गयी। भारतवर्ष के विशाल बाजार पर उनकी दृष्टि का जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। इस बाजार में अपना विलायती माल बेचने के लिए यह जरूरी था कि देश के साथ व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी खत्म कर दी जाए और उन्हें भी समान रूप से उस देश के साथ व्यापार करने दिया जाए। मतलब भारतवर्ष की अर्थनीतिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन किए जाएँ। उस समय तक भारतवर्ष तमाम दुनिया को तैयार माल देता आ रहा था। इसलिए जरूरी था कि उसके उद्योग नष्ट कर उसे विशुद्ध खेतिहर देश बना दिया जाए। अंततः यही हुआ भी। ईस्ट इंडिया कंपनी के मालिकों के विरोध के बावजूद 1813 में उनकी इजारेदारी खत्म कर दी। इस तरह औद्योगिक पूँजी का युग शुरू हुआ और 19वीं सदी के अंत तक रहा। इसके लिए अंग्रेज पूँजीपतियों ने राजसत्ता का भरपूर इस्तेमाल किया।

उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ तक ब्रिटिश पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप धारण किया। बैंक और कारखानों के मालिक और पूँजी एक हो गये और एक नयी पूँजी का जन्म हुआ जिसे ब्रिटिश पूँजी कहते हैं। वह पूँजी स्वभावतः चाय, रबड़ और कॉफी के बागानों, कोयला-खानों, रेलवे और सरकारी कामों, बैंकों और बीमा कंपनियों में लगायी गयी। जूट मिलें और कुछ कपड़ा मिलें भी खोली गयीं, लेकिन कोई बुनियादी उद्योग उन्होंने जानबूझकर नहीं खोला। बल्कि स्वभावतः उन्होंने भारतवर्ष का औद्योगिक विकास रोकने की हर तरह कोशिश की।

1853 में ब्रिटिश पूँजीपतियों ने भारत में रेल का जाल बिछाना शुरू किया। भारत के कोने-कोने से कच्चा माल अपने कारखानों में ले जाने के लिए, अपने कारखानों का माल, इंजिनियरिंग उद्योग का माल भारत के कोने-कोने में पहुँचाने के लिए और भारतवासियों के दमन के लिए अपनी सेना एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए रेल का जाल बिछाने के साथ-ही-साथ तार से भी भारत के विभिन्न भागों को जोड़ा। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश पूँजीवाद एक नयी मंजिल की तरफ बढ़ा। तमाम तरह के प्रमाणों और दस्तावेजों[2] से प्रकट है कि नील, रबड़, कॉफी तथा चाय के बागानों में पूँजी लगाने वाले गुलामों के व्यापारी और उठाईगीर सौदागर थे, लेकिन रेलवे में पूँजी लगाने वाले

2. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी एण्ड रिकाइर्स, लंदन

उद्योगपति थे। उसके बाद हिंदुस्तान में लगी ब्रिटिश पूँजी दिन पर दिन बढ़ती गयी। बीसवीं सदी के आरंभ में यह हालत पैदा हो गयी कि ब्रिटिश पूँजीपतियों का भारत में मुनाफे का मुख्य साधन व्यापार न रहकर यह पूँजी हो गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार की एक विशेषता यह थी कि कंपनी के मालिकों के अलावा उनके अंग्रेज नौकर इजारेदारी से फायदा उठाकर अपना निजी व्यापार अलग चलाते थे। एडम स्मिथ के लेखन तथा अनेक दस्तावेज़ों से यह प्रकट है कि कई बार कंपनी के नौकरों ने भारत के विदेश व्यापार की ही नहीं, उसके भीतरी व्यापार की भी सबसे महत्वपूर्ण शाखाओं पर अपना इजारा कायम करने का प्रयत्न किया था। इसका परिणाम यह था कि जो चीज़ें कंपनी और कंपनी के नौकरों के मुनाफे की थीं, उनका उत्पादन बढ़ाने में सभी शक्ति लगा देते, पर जिन वस्तुओं से उनका अपना कोई मुनाफा न होता, जो केवल जीवित भर रहने के लिए होतीं, उनकी उपज और पैदावार रोकी जा रही थी। इसका नतीजा अकाल, मुफलिसी, भुखमरी का बढ़ना और आबादी का घटना था।

भारत की औद्योगिक उन्नति तो दरकिनार, उसके आंतरिक और विदेशी व्यापार की प्रगति में अंग्रेजी राज सबसे बड़ी बाधा था। जब कंपनी के गोरे नौकर अपना निजी व्यापार चला कर अपने गोरे मालिकों को ठगते थे, तब उन्हें भारतीय जनता को ठगने, लूटने और तबाह करने में क्यों संकोच होता ? अंग्रेजी राज का कानून, उसकी न्यायव्यवस्था उन्हीं इजारेदारों का हित साधने के लिए थी। उस पर तुर्रा यह कि देशी राजाओं के शासन को भ्रष्ट बताकर, उससे प्रजा की रक्षा करने के नाम पर अंग्रेज एक के बाद दूसरा इलाका लगातार हड़पते चले जा रहे थे। इसी का नतीजा था कि अंग्रेजी राज के पहले दौर में सबसे पहले बंगाल, दूसरे दौर में सबसे पहले अवध और बुंदेलखंड और तीसरे दौर में राजस्थान में, विशेषकर शेखावटी क्षेत्र में दुर्भिक्ष-अकाल पड़ा— लगातार दो अकाल, पहला सन् 1900 में, दूसरा सन् 1901 में। इस अकाल को बड़े समीप से घनश्यामदास बिड़ला ने देखा था।

पूरे देश में अकालों का दौर-दौरा होता रहा। इन अकालों से देश में लाखों लोग काल के गाल में चले गये। इधर तो एक ओर अकाल और मौत का दौर-दौरा

हो रहा था, उधर दिल्ली में एक अभूतपूर्व दरबार लगा, जिसमें महारानी विक्टोरिया ने 'भारत सम्राज्ञी' की उपाधि धारण की।

राजनीतिक के अलावा आर्थिक संकट सारे देश में बढ़ रहे थे। किसान चारों ओर से पीड़ित थे। दीवानी अदालतें असुविधाजनक और खर्चीली थीं। सरकारी अफसर और पुलिस की ज्यादतियों की कोई सीमा नहीं थी। लगान अन्यायपूर्ण थे। शस्त्र और जंगल कानून का अमल निरंकुश था।

ऐडम स्मिथ इंगलैंड के विकासमान उद्योगपति वर्ग के प्रतिनिधि थे। इसके विपरीत प्रसिद्ध लेखक और राजनीतिज्ञ एमंड बर्क की सहानुभूति अभिजात वर्ग के साथ थी। उस समय बर्क ने भारत की समस्याओं की ओर अत्यधिक ध्यान दिया था। 1788 में बर्क ने कहा था, "हर देश व्यापार से समृद्ध होता है, किन्तु बंगाल उससे पूरी तरह तबाह हो रहा है। जब किसी इलाके पर कंपनी का राज कायम न हुआ था, तब उसे दस्तखत या अनुमतिपत्र से विशेष सुविधाएँ मिली हुई थीं। उसका माल चुंगी दिये बिना एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाता था। कंपनी के नौकरों ने उस अनुमतिपत्र का उपयोग अपने निजी व्यापार के लिए किया''। जब तक यह काम सीमित था, तब तक देशी हुकूमत ने उसकी अनदेखी की थी, लेकिन जब वह पूरी तरह निजी व्यापार बन गया तो वह व्यापार नहीं 'लूट' हो गया। अंग्रेज व्यापारी हर जगह पहुँच जाते थे, जो कीमत चाहते थे, उसके हिसाब से माल बेचते थे। जिस भाव से चाहते थे, लोगों को भी उसी भाव पर अपनी चीजें बेचने पर मजबूर करते थे।"[3] ऐसा लगता था कि व्यापार के बहाने लोगों को लूटने के लिए फौज पहुँच गयी है। "लोग अदालतों से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना बेकार ही करते थे। व्यापारियों की यह फौज अपने अभियान में तुर्क विजेताओं से भी ज्यादा भारी तबाही बरपा करती थी।"[4]

किसी भी देश में उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए जरूरी होता है कि उसके कारखानों में बना माल बेचने के लिए बाजार सुलभ हो। बाजार न होगा तब माल की माँग व खपत न होगी, फिर कोई कारखाना लगायेगा ही क्यों ? अंग्रेजी राज ने बाजार कायम करने के बदले जो बाजार यहाँ पहले से मौजूद था, बरबाद किया।

3. एडमंड बर्कस, कंपलीट वर्क्स, खंड 1, पृष्ठ 79-80
4. वही, पृष्ठ 79-80

इस तरह उन्होंने अपने औद्योगिक विकास के लिए जो बुनियादी आधार था, उसे कायम कर दिया। इस विनाश-कार्य में उन्होंने एक अद्‌भुत नीति अपनायी। यह नीति किसी एक राजा के प्रदेश या उसकी जायदाद को दूसरे राजा के हाथ बेच देने की थी, फिर खरीदने वाले को भी तबाह कर देना था। इसके लिए वे राजाओं से संधि करते थे, इकरारनामे करते थे और कुछ ही दिनों बाद उनमें लिखी हुई शर्तें तोड़ देते थे। बर्क ने तमाम आँकड़े देकर लिखा है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कोई ऐसा राजा नहीं था, जिससे अंग्रेजों का संपर्क हुआ हो और फिर जिसे उन्होंने बेच न लिया हो।

औद्योगिक क्रान्ति के लिए यहाँ सब कुछ मौजूद था— बड़े-बड़े नगर, नगरों में बड़े-बड़े भारतीय व्यापारी और साहूकार। महाजनी कारोबार बड़े-से-बड़े पैमाने पर हो रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के लिए जो पूँजी दरकार थी, वह यहाँ मौजूद थी। व्यापार केन्द्र, बड़े-बड़े नगर अपने देशी संचार साधनों द्वारा आपस में जुड़े थे। पर स्वभावतः अंग्रेजों ने इस आवश्यक आधार को ही नष्ट कर दिया।

इस संदर्भ में एक विशेष बात ध्यान देने की है कि भारत से जो धन कमाकर अंग्रेज इंगलैंड लौटते थे, अपना धन उद्योग-धंधों में न लगाते थे। वे वहाँ जाकर जमींदारियाँ खरीदते थे। भारत से जो भी धन इंगलैंड गया उसका प्रभाव इंगलैंड के हर वर्ग पर पड़ा। और खास कर यह प्रभाव कि भारतवर्ष एक लूटने की जगह है।

यह तथ्य प्रमाणित है कि सन् 1800 तक भारत का माल इंगलैंड में बिकता था, उसके बाद बहुत तेजी से इंगलैंड में ऐसे माल की बिक्री में कमी हुई। उसके बदले इंगलैंड का बना हुआ माल भारत में बिकने लगा। ध्यान देने की बात है कि भारत में अंग्रेजी माल की बिक्री बराबर की होड़ या स्वच्छंद व्यापारिक स्थितियों में नहीं हो रही थी। इंगलैंड की सरकार भारतीय माल पर भारी चुंगी लगाती थी और वहाँ का जो माल भारत में बिकने आता था, उस पर चुंगी बिल्कुल न थी या दिखाने को नाममात्र की थी। इस तरह राजसत्ता का उपयोग करके, राजनीतिक उपायों द्वारा, गैर आर्थिक तरीकों से, अंग्रेजों ने भारत के उद्योग-धंधों को तबाह किया। लगभग 1813 से लेकर 1875 तक पूँजीवाद का दूसरा दौर इंगलैंड में चालू था जिसमें व्यापारी और साहूकार के मुकाबले उद्योगपति प्रधान हुआ। पराधीन देश भारत से इंगलैंड का उद्योगपति केवल दो ही चीजें चाहता था— भारत अपना

कच्चा माल सस्ते दामों पर अंग्रेज उद्योगपति के हाथ बेचे और उसके कारखाने का बना हुआ माल महँगे भाव पर खरीदे।

पराधीन देश भारत के दस्तकारी वाले उद्योग-धंधे अंग्रेज उद्योगपतियों के लिए बड़ी चुनौती थे। पराधीन देश से आने वाली दस्तकारी के माल से होड़ में डटे रहना उसके लिए न संभव था, न स्वाभाविक। भारत के बाजार को कच्चे माल का स्रोत और इंगलैंड के कारखानों में बने माल की बिक्री का बाजार बनाने के लिए जरूरी था कि अंग्रेज यहाँ के उद्योग-धंधे बरबाद करें। चरखे और करघे से यहाँ काम होता था। घरेलू, कुटीर, ग्रामीण उद्योग-धंधे, यहाँ चल रहे थे। यह सब उनके लिए खतरनाक था। उन्हें तो ऐसा भारत चाहिए था जो एक खेतिहर देश हो, खनिज संपदा वाला देश हो, कच्चे माल वाला देश हो। उन्होंने उद्योग-धंधों का नाश ही इसलिए किया था कि यहाँ उनके माल की बिक्री में कोई किसी तरह की बाधा न हो।

उन दिनों इंगलैंड में, विशेषकर जब ईस्ट इंडिया कंपनी की आज्ञापत्र का नवीकरण का समय आता था, एक प्रश्न भारत हो कर आने वाले अंग्रेजों से बराबर किया जाता था कि भारत के लोग इंगलैंड में बना हुआ माल कहाँ तक, कब तक खरीद सकते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में 1813 के आसपास रिकार्डस नाम के अंग्रेज ने कहा था कि भारत में विलायती चीज़ों के प्रति शत्रुभाव नहीं है, पर हमारी अर्थनीति के कारण लोग इतने निर्धन हो गये हैं कि वे विदेशी चीजें खरीद नहीं सकते। 1853 में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने भारतीय व्यापार के संबंध में कहा था कि भारत से बहुत बड़ा व्यापार हो सकता है, शर्त यह है कि वहाँ के लोगों के पास हमारा माल खरीदने के लिए पर्याप्त साधन हों, भले ही वे उतना माल न खरीद सकें जितना हमारे अधिकांश उपनिवेश जैसे आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि खरीदते हैं। अंग्रेज भारतवर्ष को भी अपना उसी तरह का उपनिवेश बनाना चाह रहे थे, ताकि अंग्रेजी माल की खपत ज्यादा हो सके।

5. भारतीय शिक्षा का विनाश और अंग्रेजी शिक्षा

व्यापारिक और वैचारिक दासता के लक्ष्य से भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा की नयी बुनियाद रखी गयी। बुनियाद तैयार करने वाले लार्ड मैकाले ने बाकायदा अनुसंधान करके यह देखा था कि भारत में जो अंग्रेजी माल आता है, उसके ग्राहक या तो अंग्रेज हैं या वे भारतवासी हैं जिनका रहन-सहन अंग्रेजों जैसा है। अंग्रेजी भाषा और नयी शिक्षा से मैकाले ने अंग्रेजी राज को भारत में सदा के लिए स्थापित करने की योजना बनायी।

अंग्रेजी राज से पहले सार्वजनिक शिक्षा और प्रचार की दृष्टि से भारत संसार के उन्नत देशों से भी आगे था। उन दिनों यहाँ जनसामान्य को शिक्षा देने के लिए मुख्य चार प्रकार की संस्थाएँ थीं— 1. असंख्य ब्राह्मण आचार्य अपने-अपने घरों पर अपने शिष्यों को शिक्षा देते थे। 2. अनेक मुख्य-मुख्य नगरों में उच्च संस्कृत साहित्य की शिक्षा के लिए 'टोल' या विद्यापीठ कायम थे। 3. उर्दू और फारसी की शिक्षा के लिए जगह-जगह मकतब और मदरसे थे, जिनमें लाखों हिन्दू और मुसलमान बालक शिक्षा पाते थे। 4. इन सब के अतिरिक्त देश के प्रत्येक छोटे-से-छोटे ग्राम में शिक्षा के लिए कम-से-कम एक पाठशाला होती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने आकर जब तक भारत की सहस्रों वर्षों पुरानी ग्राम पंचायतों को नष्ट नहीं कर डाला तब तक ग्राम के समस्त बच्चों की शिक्षा का प्रबंध करना ग्राम पंचायत अपना आवश्यक कर्तव्य समझती थी और सदैव उसका पालन करती थी।

भारत के जिस-जिस प्रान्त में कंपनी का शासन जमता गया, वहाँ से सहस्रों वर्ष की पुरानी शिक्षा प्रणाली सदा के लिए मिटती गयी। अंग्रेजी राज में भारतीय शिक्षा की करुण कहानी का जो संस्पर्श महात्मा गांधी ने 20 अक्तूबर, 1931 को लंदन के चैथम हाउस की सभा में किया, स्मरणीय है। उन्होंने कहा, "अंग्रेज शासक जब भारतवर्ष आये, तो यहाँ जो भी था, उसको सँभालने, रख-रखाव करने की जगह उन्होंने उसे जड़ से खोद डाला। जमीन खोद कर जड़ों को देखा और भूमिहीन नंगी जड़ों को उसी तरह छोड़ दिया। इस तरह 'सुंदरवृक्ष' नष्ट हुआ।"[5]

5. दी ब्यूटीफुल ट्री—धर्मपाल, पृष्ठ 11

उस नष्ट हुए 'सुंदरवृक्ष' के बाद अंग्रेजी राज में शिक्षा की जो टूटी-उखड़ी स्थिति हुई, उसका अनुभव-चित्र महात्मा गांधी के शिष्य और भक्त घनश्यामदास बिड़ला ने खींचा :

"एक पुरानी टूटी-फूटी मंडी में एक गुरु पचासेक लड़कों को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान में धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के बिछात के, बैठाकर पढ़ाते थे। चूँकि ऊपर कोई छत नहीं थी...इसलिए धूप से बचने के लिए दीवार की आड़ में क्लास लगती थी, और जब वर्षा होती, तब पाठशाला बंद कर दी जाती थी।"

"पाठ्यक्रम की पुस्तकों के नाम पर तोबा थी। शायद इस शब्द का अर्थ भी गुरु नहीं जानते थे। स्लेट भी सब बच्चों के पास नहीं होती थी, पटियां पर ईंट की खोर बिछाकर लकड़ी के 'बरते' से लड़के कुछ अंक लिख लेते थे।"[6]

6. भारतीय मध्य वर्ग का उदय

भारत में अंग्रेजी राज ने आर्थिक, सामाजिक, भूमि संबंधी और नागरिक जीवन से संबंधी तमाम परिवर्तन कर अनजाने में ही एक ऐसे सामाजिक वर्ग को जन्म दिया जो अन्ततोगत्वा उसी शक्ति के अवसान का मुख्य कारण बना। वह सामाजिक वर्ग था— भारतीय मध्य वर्ग। प्राचीन कृषि-व्यवस्था के विघटन तथा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के सृजन का दायित्व अंग्रेजों द्वारा प्रचलित भूमि-विषयक कानूनों पर ही रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के वकील, अध्यापक, असैनिक कर्मचारी, व्यापारी और उद्योगपति इसी वैविध्यपूर्ण शिक्षित-वर्ग से उत्पन्न हुए। वही लोग देश के वे बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच संबंध-सूत्र का काम किया और भारतीयों को राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया। उन्हीं की आशा-आकांक्षाएँ भारत की आशा-आकांक्षाएँ बनीं।

6. कुछ देखा, कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 34

दूसरी ओर, देश के उन अधिकारच्युत खेतिहरों, ग्रामीण कारीगरों और नौकर-चाकरों ने भूमिहीन मज़दूर-वर्ग, श्रमजीवी-वर्ग का निर्माण किया, जिन्हें ग्रामीण समाजों का ह्रास होने और पारस्परिक संबंध-निर्धारण में प्रथा के स्थान पर होड़ का प्रचलन हो जाने के कारण, कृषक-समाज से परम्परागत संबंध छोड़ देने पड़े थे। कार्ल मार्क्स के मतानुसार, "उत्पादन के स्वरूप और स्थितियाँ सामाजिक संरचना की मूल निर्धारक हैं और सामाजिक संरचना प्रवृत्तियों, कार्य-कलापों और सभ्यताओं को जन्म देती हैं।"[7] "लेकिन भारत में सम्पत्ति-विषयक परिवर्तन 'सामाजिक क्रान्ति' का कारण बना।"[8]

अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय मध्य वर्ग की उत्पत्ति पश्चिम के मध्य वर्ग से भिन्न प्रकार से हुई। पश्चिम में मध्यवर्ग में मुख्यतः व्यापारी और उद्योगपति थे तथा उनमें कुछ बुद्धिजीवी व्यक्ति भी शामिल थे। वे लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर तो नहीं थे, पर उनमें से कुछ लोग अपनी प्रतिष्ठा तथा लाभ के लिए जागीरें भी खरीद सकते थे। इसके विपरीत भारत में मध्य वर्ग की जड़ें देश की कृषि व्यवस्था में निहित थीं और वह प्रधानतः कृषि-उद्योग के फल पर ही जीवित थीं। जहाँ तक किसानों के शोषण का संबंध था, उस नये वर्ग ने शासन-सत्ता का समर्थन किया और वह उसके आश्रित अभिकरण के रूप में सेवा करके संतुष्ट रहा।

ब्रिटिश शासन के आरंभिक वर्षों, उन्नीसवीं सदी के मध्य तक की अवधि, की उल्लेखनीय बात थी— ब्रिटिश शासकों तथा धनवानों, भूस्वामियों, व्यापारियों और साहूकारों की परस्पर सहयोग भावना। परन्तु यह सहयोग दीर्घजीवी न हो सका। इस वर्ग की स्वाभाविक इच्छा यह थी कि वाणिज्य, उद्योग और असैनिक सेवाओं के क्षेत्र में आगे बढ़ने के अवसरों की खोज की जाए, पर इस दिशा में उसे ब्रिटेन के उन मध्य वर्गों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा जो भारत में ब्रिटिश शासन को आधार प्रदान करने वाली मुख्य शक्ति थे। भारत का स्वाधीनता-संग्राम दोनों के उन मध्य वर्गों के बीच के संघर्ष का प्रतीक था जिनमें से एक धन तथा प्रभाव का आकांक्षी था और दूसरे को वे पहले से ही प्राप्त थे।

7. शुम्पीटर, 'कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी' (दूसरा संस्करण, 1947), पृष्ठ 12
8. कार्ल मार्क्स, 10 जून, 1853 के 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित लेख 'ब्रिटिश रूल इन इंडिया', मार्क्स एंजेल्स, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 1 (मास्को संस्करण), पृष्ठ 317

यूरोपीय मध्य वर्ग की भाँति भारतीय मध्य वर्ग भी मुनाफे की भावना से अनुप्राणित था। परन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति में व्यापार तथा व्यवसाय-विषयक ब्रिटिश एकाधिकार और औद्योगिक विकास के लिए उपयुक्त उपायों और स्थितियों के अभाव ने बाधा डाली। वह मुख्यतः शहरी हितों वाला शहरी वर्ग था। उन लोगों के हृदय में पाश्चात्य शिक्षाप्राप्ति की प्यास, सरकारी नौकरियों की चाह और पाण्डित्यपूर्ण व्यवसायों के प्रति लगन पैदा हो गयी। उस वर्ग ने अपने शासकों के पाश्चात्य तौर-तरीकों, प्रथाओं और चाल-ढाल का अंधानुकरण किया, पर उसे न तो शासकों का आदर-भाव प्राप्त था और न ही उस ग्रामीण जनता का प्रेम, जिसके कल्याण और उन्नति के लिए उसने कुछ भी नहीं किया। फिर भी, उसी वर्ग ने वह शक्ति सुलभ की, जिसने प्रथा रूपी पिण्ड को चूर कर दिया। उसी में से उन पढ़े-लिखे लोगों की पलटन तैयार हुई, जो भारत के मुक्ति-आंदोलन के अगुआ बने। यह बात अवश्य है कि अंग्रेजों द्वारा आरंभ किए गये भूमि-विषयक कानूनों का यह सर्वथा अप्रत्याशित परिणाम था।

ग्राम-संगठन के विघटन के साथ वे सामाजिक बंधन भी टूट गये जिन्होंने ग्राम-समाज के विभिन्न तत्वों को बाँध रखा था। इससे सम्मिलित परिवार तथा पंचायतों पर जोरदार प्रहार हुए। सहयोग का स्थान प्रतियोगिता ने ले लिया। कीमतें, किराये और मज़दूरी सभी का निर्धारण विक्रेता और ग्राहक के आपसी इकरार के आधार पर होने लगा। ग्राम का सामूहिक जीवन व्यक्तिवाद में परिणत हो गया। उत्पादन-पद्धतियों और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में भी बुनियादी फेर-बदल हुए। कृषि-उत्पादन गाँववालों की आवश्यकताएँ पूरी करने के बदले बाहरी मंडी की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाने लगा। किसान को अधिक रुपये की आवश्यकता पड़ने लगी और रुपये पाने के लिए नगदी फसलें पैदा करने की अनिवार्यता इस बात के लिए बाध्य कर देती थी कि वह खेती के तुरन्त बाद ही उपज को अपने से अलग कर दे। इस तरह कृषक मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के चक्र में तो आ गया, पर कुछ तो उसकी जोत छोटी होने के कारण, कुछ भारी कर-निर्धारणों के कारण और कुछ भूस्वामी द्वारा कठोरतापूर्वक लगान लिए जाने तथा साहूकार द्वारा सूदखोरी के कारण वह उस परिवर्तन से लाभ न उठा पाया। इस स्थिति का लाभ मुख्यतः गाँव के अनाज-व्यापारी और मंडी के आढ़तिए को हुआ।

देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के दुष्प्रभावों का शिकार केवल किसान ही न हुआ, बल्कि विदेशी माल गाँव तक पहुँच जाने से गाँव के शिल्प तथा उद्योग पर भी घातक प्रभाव पड़ा। गाँव के शिल्पकार के ग्राहक छिन गये, उसके सामान की बिक्री समाप्त हो गयी। औद्योगिक मज़दूर की स्थिति से हटकर वह एक ऐसा भूमिहीन श्रमिक बन गया, जो कभी लगानदार के रूप में और कभी वेतनभोगी मज़दूर के रूप में खेतों पर काम तलाश किया करता था। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में यहाँ के गाँवों के श्रम-समाज में उन विस्थापित किसानों के बाद बुनकरों तथा गाँव के अन्य कारीगरों का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। एक ओर अंग्रेजों द्वारा लागू की गयी भूमि-विषयक पट्टेदारियों ने गाँवों का प्राचीन संगठन छिन्न-भिन्न कर दिया, दूसरी ओर भारी कर-निर्धारण ने कृषि की उन्नति रोक दी और खेती करने वाले वर्गों को निर्धनता तथा साधनहीनता की स्थिति में ला गिराया। पराधीन भारत को अपने ह्रासमान संसाधनों से प्रशासन का यह भारी व्यय सहने को बाध्य किया गया। विदेशी विजेता द्वारा उसका व्यापार और उद्योग नष्ट हो जाने के कारण कर का अधिकतर भार असम्पन्न किसान को ही झेलना पड़ा। सन् 1792-93 में बंगाल प्रजिडेंसी की भूराजस्व की माँग 31 लाख पौण्ड थी। चूँकि उस प्रान्त में स्थायी बन्दोबस्त लागू था इसलिए यह वृद्धि मुख्यतः खेती के विस्तार के कारण हुई। परन्तु मद्रास, बम्बई और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में वृद्धि अधिक कर-निर्धारण के कारण हुई।

अंग्रेजों की वित्तीय नीति और भूमि-व्यवस्था ने उन प्राचीन परम्पराओं और ग्रामीण ढाँचे का नाश कर दिया, जिनमें भारतीय किसान सदियों से रहता चला आ रहा था। इस तरह, इस देश की सामाजिक व्यवस्था को समस्त बाहरी प्रभावों से बचाए रखने वाला रक्षा-कवच टूट गया और निजी संपत्ति, व्यक्तिगत उद्यम, पूँजी के संग्रह और प्रौद्योगिक प्रगति के आधार पर संगठित मध्य वर्ग की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया।

7. राष्ट्रीय चेतना का उदय

भारत में अंग्रेजी राज यानि पूर्व और पश्चिम के इस मिलन के कुछ परस्पर

विरोधी परिणाम निकले। शुभ और अशुभ का मिश्रण समाने आया। पहला नतीजा यह निकला कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल बदला गया और ढाला गया। साथ ही गरीबी, जनसंख्या का भूमि पर दबाव बढ़ गया। एक विशाल भौतिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। दूसरे, भारत का मस्तिष्क बहुत गहराई तक आंदोलित हो उठा। एक ओर तो सत्ता में संदेह करने की भावना पैदा हुई और पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया गया, दूसरी ओर पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों को बल मिला और पूर्वजों के गौरव का अभियान पुष्ट हुआ। फलतः राष्ट्रीय चेतना जागी, जिसका अनिवार्य फल यह निकला कि एक स्वाधीन, उत्तरदायी तथा लोकतांत्रिक राज्य के रूप में स्वतंत्रता-प्राप्ति की कामना बलवती हुई। लेकिन इस जागृति के साथ ही दुर्भाग्यपूर्ण साम्प्रदायिक आवेश और वर्ग-भेद ने भी सिर उठाया। भारत विदेशी आधिपत्य से तो अतीत में भी लम्बी-लम्बी अवधियों तक मुक्त रहा था, पर स्वतंत्रता एक नयी धारणा थी। शायद एकदम नयी धारणा भी यह नहीं थी, क्योंकि भारतीय दर्शन, हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम आत्मा की आंतरिक स्वतंत्रता के विचार से परिचित था। वस्तुतः स्वतंत्रता इसका केन्द्रस्थ भाव था। फिर भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतंत्रता का संदेश नया था। पराधीन भारत का रूपांतरण और राष्ट्रीय चेतना का विकास काफी सीमा तक पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम था, लेकिन स्वयं पश्चिम में राष्ट्रवाद काफी हाल की चीज़ थी। 18वीं सदी तक यह भावना यूरोप के सुदूर पश्चिम के देशों तक सीमित थी। वहाँ से यह 19वीं सदी में केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप में फैली और बाद में संसार के सभी देशों में इसका प्रसार हो गया।

लेकिन पराधीन भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना हमारी धार्मिक, सामाजिक और इससे भी गहरे हमारे सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई है। इस राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण परिचय हमें आगे चलकर स्वदेशी आंदोलन के समय प्राप्त हुआ। हमारी राष्ट्रीय चेतना से जिस समय हमारा स्वदेशी आंदोलन जुड़ा, उसी बिन्दु से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात हुआ। हमारे राष्ट्रीय जागरण की गूँज सारे भारतवर्ष में दूर-दूर तक सुनी गयी थी। इसका मूल कारण यह था कि भारतवर्ष राजनीतिक और प्रशासनिक स्तर पर चाहे जितना अलग खंडों में था, भाषाओं और सांस्कृतिक स्तर से यह अखंड भारतवर्ष था। राष्ट्रीय चेतना द्वारा दिये गये स्वराज्य, स्वतंत्रता और वन्देमातरम् के वे मंत्र जिनमें एक जाग्रत राष्ट्र की सारी आकांक्षाएँ निहित थीं, राष्ट्रदृष्टि के रूप में विकसित होने लगे।

वह राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रदृष्टि क्या थी जिससे प्रेरणा पाकर पराधीन भारत में एक महान स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात हुआ ?

वह राष्ट्रीय चेतना कहाँ से उपजी थी, जिससे प्रेरित होकर कितने बलिदानी, क्रान्तिकारी, स्वतंत्रता सेनानी हाथ में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता लेकर और कंठ से वन्देमातरम् का निनाद करते हुए भारत माता की मुक्ति के लिए बलिवेदी पर न्यौछावर हो गये। वह राष्ट्रीय चेतना भारत में अंग्रेजी राज के आघात मात्र से नहीं उपजी। स्वतंत्रता, स्वाधीनता की हमारी अपनी एक सनातन वैदिक दृष्टि और चेतना थी। उस चेतना का विस्तार हमारे उपनिषद्, जैवागम, त्रिपिटक, रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र और परवर्ती सिद्धों तथा संतों की वाणी में मिलता है। उसी का पुनरोच्चारण आधुनिक भाषा, आधुनिक प्रसंग में वह राष्ट्रीय चेतना थी, जिसके कारण से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की ज्वाला निकली, उस राष्ट्रीय चेतना का प्रथम आयाम यह था कि भारतवर्ष सनातन धर्म की भूमि है। यही आदिम तथा सार्वभौम भावस्वर फूटा था बंगाल के उत्तरपाड़ा से। सनातन धर्म के उत्थान के साथ ही भारतवर्ष का उत्थान होता है। सनातन धर्म के पतन के साथ भारतवर्ष का पतन होता है, और यदि यह संभव है कि सनातन धर्म का विलोप हो जाए तो भारतवर्ष भी विनष्ट हो जाएगा।

उस राष्ट्रीय चेतना का दूसरा आयाम था भारत देश विराट और वैविध संपन्न संस्कृतियों का महादेश है। हमारे समाज के विविध समुदायों ने भारतदेश के विविध अंचलों में अपनी-अपनी संस्कृति शास्त्रीय और लोक दोनों धरातलों पर अपनी-अपनी कलाओं और साहित्य का सृजन किया और उसे जीवन में जिया। हमारा अध्यात्म विषयक साहित्य, हमारे विविध अंचलों के काव्य, ललित कलाएँ, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र कलाएँ, संगीत सब मिला कर यह भारत महादेश की अखंड चेतना से हमें अभिभूत करते हैं और पराजय, पराधीनता से युद्धरत होने की गहरी प्रेरणा देते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का तीसरा आयाम था, हमारा संगमनी समाज-व्यवस्था-धर्म की स्वतंत्रता। हमारे यहाँ कितनी सदियाँ गुजरीं, कितने राजाओं का शासन देश पर तूफान की तरह आया और चला गया, परंतु किसी ने हमारा धर्म नष्ट करने हमें पशु की अवस्था तक नहीं पहुँचाया। हमारी समाज-व्यवस्था, शिक्षा, कृषि, उद्योग

को नष्ट कर हमें निःसहाय नहीं बनाया। "हमारे देश में यदि समाज पंगु हो जाए, तभी देश में संकट की अवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए हमने इतने दिनों तक राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्राणार्पण से यत्न नहीं किया, लेकिन सामाजिक स्वाधीनता की हम सब प्रकार से रक्षा करते रहे। निर्धन को भिक्षा देने की बातों में विलायत की जनता स्टेट के ऊपर निर्भर रहती है। ··· इसलिए जहाँ अंग्रेज स्टेट की रक्षा समझते हैं, वहाँ वह धर्मव्यवस्था की रक्षा सब कुछ मानते हैं।"[9]

उस अंग्रेजी राज की पराधीनता में हमारी राष्ट्रीय चेतना का जो स्वर फूटा वह अभूतपूर्व था। पूरे भारतवर्ष में यह भाव जागने लगा कि कोई हमारे देश को हमसे नहीं छीन सकता और न कोई उसे बाहर से वापस लाकर दयावश हमारे हाथ में रख सकता है। जिस मात्रा में हम अपना स्वाभाविक अधिकार खो बैठे हैं, उसी मात्रा में अंग्रेजों ने देश पर अधिकार जमाया। इसी विचार से प्रेरणा पाकर भारतवर्ष में एक महान स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात हुआ। एक विशाल भौतिक क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ।

भारत का मस्तिष्क बहुत गहराई तक आंदोलित हो उठा। एक ओर सत्ता के प्रति संदेह की भावना पैदा हुई और दूसरी ओर पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाए जाने का मार्ग खुला। पुनर्जागरण की चेतना को उत्तरोत्तर बल मिलना शुरू हुआ और अतीत तथा पूर्वजों के प्रति आत्मगौरव का बोध पुष्ट होने लगा।

स्वतंत्रता भारत देश का केन्द्रस्थ भाव था। फिर भी, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतंत्रता का भाव नया ही था। इस स्वतंत्रता संग्राम में भारत माँ के हर वर्ग के सपूतों और श्रेष्ठ पुरुषों ने सहज ही भाग लिया और उस स्वाधीनता-प्राप्ति-यज्ञ में योगदान किया। इस कर्म-क्षेत्र में महात्मा गांधी के उल्लेखनीय सहयोगी मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय तथा अनुयायी राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचारी और जवाहर लाल के प्रशंसक और सरदार वल्लभभाई पटेल के परम मित्र घनश्यामदासजी का क्या योगदान रहा है, यही इस पुस्तक का मूल विषय है।

अंग्रेजी राज के भारत में सन् 1857 तक आर्थिक क्रान्ति के प्रथम चरण का

9. स्वदेशी समाज, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रवीन्द्र निबंध, पृष्ठ 372

काम पूरा हो चुका था। उधर नयी शक्तियों ने पुनः निर्माण तथा एक नयी व्यवस्था की स्थापना का कार्य शुरू कर दिया था। इंगलैंड में होने वाली कृषि-क्षेत्र की क्रान्ति के कारण किसानों को खेतों से हटना पड़ा, पर भारतीय संपदा से इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति होने पर उन बेकार किसानों को शीघ्र ही स्थापित उद्योगों में लगा दिया गया था। इसके ठीक विपरीत भारत में सब कुछ नष्ट किया गया, उद्योग की स्थापना में विरोध किया गया। साथ ही इस देश का आर्थिक विकास शोषण मूलक विदेशी व्यवस्था का पिछलग्गू बनने लगा। अंग्रेजों द्वारा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक शक्तियों के दुरुपयोग के कारण भारत में सामने आने वाले मानव-संताप असंख्य गुणा अधिक और दीर्घकालीन रहे। इस पराधीनता से भारत को मुक्त करने वालों में घनश्यामदास बिड़ला का योगदान निश्चय ही जानने और हृदयंगम करने योग्य है।

देश की बुद्धिशक्ति, कर्मशक्ति, धन और साधन-शक्ति को संगठित करके उसे देशहित में कैसे लगाया जा सकता है और उसका सतत् विस्तार कैसे किया जा सकता है, यही जी.डी. की राष्ट्रदृष्टि थी। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में एकांगी रूप से नहीं, केवल वणिक की तरह माल तैयार करके नहीं, बल्कि देश के बड़े-से-बड़े स्वतंत्रता सेनानियों का हर तरह से साथ देकर जो कुछ उनके पास श्रेष्ठतम था, उसे देश के चरणों में अर्पित कर, विद्यार्जन से, अंग्रेजों के बीच बौद्धिक प्रतिभा से, लोकहित कर्म से…

दूसरा अध्याय

राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि

उस समय राजनीतिक चेतना के विकास में एक ओर राष्ट्रीयता की भावना प्रेरक तत्व बन रही थी, दूसरी ओर सांस्कृतिक बौद्धिक आंदोलन का योग उसे प्राप्त हो रहा था।

इन दोनों चेतना-शक्तियों की संगमभूमि थी कलकत्ता नगरी। दूसरे शब्दों में कहें तो कलकत्ता ही उस समय पुनर्जागरण का प्रमुख केन्द्र था। इसका कारण यह था कि हिन्दोस्तान में अंग्रेज-राज्य-शासन का पहला पूरा अनुभव बंगाल को ही हुआ था। उस शासन का आरंभ खुल्लमखुल्ला लूटमार से हुआ। किसी हद तक यह अंग्रेजी राज्य प्रगति के पक्ष में हुआ और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता था कि इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की। कलकत्ता के माध्यम से हिन्दोस्तानी दौलत के इंगलैंड आने से और राष्ट्र की पूँजी में बहुत बड़ी वृद्धि हो जाने से केवल उसकी शक्ति का भंडार ही नहीं बढ़ा, बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ तेजी भी आयी। इसलिए कलकत्ता को हर तरह से प्रमुखता प्राप्त हुई। इस प्रमुखता के भीतर जनजागरण की कोख से राष्ट्रीयता और राजनीतिक चेतना का विकास संभव हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंग्रेजी राज के इतिहास का प्रारंभ बंगाल की अमलदारी से होता है और स्वाभाविक रूप से उसे चुनौती भी इसी क्षेत्र से मिली। सबसे पहले बंगाल के कलकत्ता नगर ने ही देखा कि इंगलैंड से आने वाले व्यापारी एक नयी सभ्यता के प्रतिनिधि हैं। उनके आर्थिक उद्योग के लक्ष्य और उपाय, उनकी व्यापारिक संस्थाओं का संगठन और तौर-तरीके, भारत से बिल्कुल भिन्न थे, और भारतीयों के लिए अपरिचित थे। वे ऐसे देश से आये थे जहाँ सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। आचार, रीति-नीति, धर्म और संस्कृति, बौद्धिकता और दृष्टिकोण सभी मामलों में वे भारतीयों से भिन्न थे। अंग्रेज सौदागरों और मिशनरियों के भारत आगमन और भारतीयों के साथ उनके संपर्क ने सामाजिक परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया चालू

कर दी, जो व्यापार तथा पूर्व और पश्चिम से यातायात और लेन-देन के बढ़ने के साथ हर वर्ष जोर पकड़ती गयी। भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक जीवन और परिवार पर पश्चिम का प्रभाव गहरे से गहरा और विस्तृत से विस्तृत होता गया।

यह प्रभाव तब तक जारी रहा जब तक कि सारा देश एक राजनीतिक व्यवस्था के अधीन एक नहीं हो गया। राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि के लिए यह एक बहुत आवश्यक शर्त थी। दूसरी शर्त थी ब्रिटिश शासन से घटित सामाजिक परिवर्तन। भारतीय समाज के पुराने वर्गों में से नये समुदायों का जन्म हुआ, जो यद्यपि धन, शिक्षा, पेशा और रोजगार की दृष्टि से आपस में अलग थे, फिर भी उनमें ऐसी विशिष्टताएँ थीं जिनसे उनका एक सामाजिक वर्ग बनता था। इस वर्ग की नयी उच्चाकांक्षाएँ थीं और उनमें व्यक्ति, समाज और राजनीति के संबंध में नयी धारणाएँ उत्पन्न हुईं।

2. भारतीय अर्थव्यवस्था की सचाइयाँ

19वीं सदी के उत्तरार्ध की भारतीय अर्थव्यवस्था पर अंग्रेजी राज का प्रभाव यह रहा कि उससे राष्ट्रीय जागरण में तेजी से वृद्धि हुई। इस जागरण के पीछे अनेक कारणों में से प्रमुख कारण था, भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में अंग्रेजी राज द्वारा आधुनिकीकरण का प्रसार। भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ हिस्सों में, जैसे व्यापार, परिवहन और संचार में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे, पर दूसरी तरफ इसका मुख्य भाग यानी खेती बिल्कुल पिछड़ी रही और उसमें कोई उन्नति नहीं हुई। ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ने लगी और खेती पर दबाव बढ़ने लगा, भारतीय जनता की विपत्तियाँ भी बढ़ने लगीं, जो वस्तुओं की कमी और दुर्भिक्ष के जमाने में बहुत भयंकर हो जाती थीं।

भारत की अर्थव्यवस्था और उद्योग-धंधों को तुलनात्मक रूप से बहुत भिन्न स्थान मिला हुआ था, पर अब उसमें कुछ प्रगति के लक्षण दिखाई पड़े। फिर भी प्रगति बहुत धीमी रही और विकास एकतरफा रहा। अंग्रेज मुख्यतः अपनी पूँजी

रेलों और बागानों में लगाते थे। रेलों का महत्व सैनिक कारणों से था और उसका उद्देश्य यह था कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को तगड़ा बनाया जाए। बागान भी गोरों के ही एकाधिकार में थे और ये ही उसका अधिकांश मुनाफा खा लेते थे। सूती कपड़े की मिलों के अलावा बड़े पैमाने के उत्पादन को बहुत कम प्रोत्साहन मिला और इसीलिए उनकी वृद्धि बहुत मामूली हुई।

भीतरी तथा बाहरी व्यापार की वृद्धि अंग्रेज और भारतीय व्यापारियों के सहयोग और व्यापार संगठन के विकास का परिणाम थी, जिसने पूँजीवादी उत्पादन, जैसे कपास से सूत और कपड़े बनाने को उत्तेजना दी। विदेशी व्यापार की वृद्धि से भारत की अर्थव्यवसथा का औपनिवेशिक स्वरूप और उभरा। इंगलैंड की मशीनी चीजों के आयात में काफी वृद्धि हुई और भारत से उसको कच्चे माल का निर्यात बढ़ा, जिसके अंतर्गत बहुत-काफी अन्न भी बाहर जाने लगा। इस व्यापार में हिस्सा लेने वाले भारतीयों को इससे बड़ा लाभ हुआ। यही वर्ग पूँजीवादी वर्ग बन गया, जिसका प्रभाव और धन बढ़ता ही चला गया। वह चाहता था कि उद्योग-धंधों को विकसित करे और देश के साधनों को विकसित करने में अपनी पूँजी लगाए, पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी स्वार्थ इसकी उच्चाकांक्षाओं के आड़े आता था। इस प्रकार यह वर्ग शासकों की नीयत पर संदेह करने लगा।

अंग्रेजों ने भारत में जो नया आर्थिक संगठन जारी किया था, वह स्वभाव से जीवनदायी नहीं था। नये विकासों का फायदा विदेशी शासक, उद्योगपतियों और रुपया लगाने वालों को और साथ ही कुछ थोड़े-से भारतीयों को पहुँचता था जो उच्च वर्ग के थे, जो विदेशी और देशी व्यापार के विकास, महाजनी और देश के प्रशासन में भाग लेते थे। व्यापार के बढ़ने तथा उद्योग-धंधों के कारण जो समृद्धि आयी, उससे किसान, कारीगर, भूमिहीन मजदूर और शहरों के मजदूरों को ऊँचे मूल्यों के कारण कोई लाभ नहीं हुआ। अंग्रेजी राज की नीतियाँ कुल मिला कर आर्थिक विकास के लिए सहायक नहीं थीं, बल्कि सच तो यह है कि उत्पादन में वृद्धि और राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए अधिकतर हानिकर थीं। उनका परिणाम यह रहा कि व्यापार में वृद्धि हुई, पर औद्योगीकरण में बाधा पड़ी, बिचौलियों तथा विदेशी विनियोजकों की स्वार्थसिद्धि हुई, पर प्राथमिक उत्पादकों की परिस्थिति में गिरावट आयी। ब्रिटिश औद्योगिक साम्राज्यवाद भारत को एक उपनिवेश मानता था और उसकी अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक रूप प्रदान करता था। इसने ऐसा

चक्र पैदा किया, जो सारी औपनिवेशिक पद्धतियों की एक सुपरिचित विशेषता है। एक तरफ तो इसने खेती की प्रगति रोक दी, जिसकी उपज इतनी कम थी कि उसमें से इतनी बचत नहीं थी कि उसका विनियोग उद्योग-धंधों में हो सके। दूसरी तरफ इसने बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग-धंधों के विकास के मार्ग में रोड़े अटकाए। पूँजीवादी उद्योग के पहले के युग के पिछड़े उद्योग-धंधे न तो खेती के आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक धन प्रस्तुत कर सके और न औद्योगिक वृद्धि के लिए ही, जिससे कि भारत की बढ़ती हुई जनता के लिए दूसरे रोजगार मिल सकें और जमीन पर दबाव घट सके। इसके फलस्वरूप मध्यम वर्ग संख्या और धन की दृष्टि से बढ़ता रहा, आम जनता गरीबी और कष्ट में डूबी रही। सामाजिक सुधार, शिक्षा, राजनीति, कला और साहित्य के क्षेत्र में मध्यम वर्ग ने बड़ा कार्य किया, जबकि साधारण जनता बिल्कुल उपेक्षित, अज्ञान में डूबी हुई, रोग से कमजोर और अभाव से पीड़ित रही।

जैसा कि दादाभाई नौरोजी[10] और आर.सी. दत्त[11] ने दोषारोपण किया है, ब्रिटेन को खिराज या चौथ के भुगतान तथा दुर्भिक्षों के बढ़ते हुए दौर के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध है। दादाभाई ने यह दिखाया कि पूँजी-निर्माण बहुत धीरे हो रहा है और भारत के दोहन के प्रत्यक्ष परिणाम के फलस्वरूप औद्योगिक प्रगति रुकती है। दत्त तो इससे भी एक कदम आगे बढ़ गये। उन्होंने आर्थिक दोहन को अन्न के निर्यात और उस कारण देश में अन्न की कमी तथा मूल्यवृद्धि के साथ जोड़ा।

भारत इस प्रकार बाहर से आयी हुई विदेशी पूँजी और विदेशी शासन के बोझ से दब रहा था। आर्थिक दोहन ने उनकी बचत और पूँजी लगाने की सामर्थ्य घटा दी और इस प्रकार उसकी औद्योगिक प्रगति रुक गयी। इसके अलावा इसने देश को इस बात के लिए मजबूर किया कि वह होम चार्ज के आंशिक भुगतान के रूप में अनाज बाहर भेजे। इससे देश में खाद्य और आबादी में जो खतरनाक संतुलन था वह और भी गड़बड़ा गया। यही आगे चलकर इस बात के लिए जिम्मेदार रहा

10. पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया, दादाभाई नौरोजी (भारतीय संस्करण 1962), पृष्ठ 30-50

11. इकोनोमिक्स हिस्ट्री इन दी विक्टोरियन एज, आर.सी. दत्त (दूसरा संस्करण 1906), पृष्ठ 348-49

कि भारत में खाद्य वस्तुओं के दाम बढ़ते चले गये और 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी के प्रारम्भ के दौरान बार-बार दुर्भिक्ष और भुखमरी बढ़ी।

3. नयी शिक्षा और समाचार-पत्र

नयी अंग्रेजी शिक्षा की उस समय की प्रगति को देखने पर पता लगता है कि भारतीय मन को बदल देने में इसके प्रभाव कितने दूरगामी थे। जिस प्रकार विद्या के लिए पुनरुज्जीवन से यूरोप में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ था, उसी प्रकार पाश्चात्य विचारों के विस्तार से भारत में नवयुग का सूत्रपात हुआ। धार्मिक तथा सामाजिक सुधार, रोमांटिकवाद, नयी रोशनी या बुद्धिवादी दृष्टिकोण, ऐतिहासिक विवेचन तथा चिन्तन और देशभक्ति— ये वे शक्तिशाली आवेग थे, जो यूरोपीय, विशेषकर अंग्रेजी साहित्य, दर्शन और विज्ञान पढ़ने से उत्पन्न होते थे। कुछ भी हो, यदि भारत में परिवर्तन उतने गंभीर नहीं हुए जितने कि पश्चिम में हुए, तो उसका कारण यह था कि जीवन की भौतिक स्थितियाँ, विशेषकर जनता की हालत, बहुत कुछ ज्यों की त्यों रही और स्वतंत्र राजनीतिक गतिविधि, जो समाजों की विशेषता है, जहाँ शासक और शासितों में परस्पर संबंध रहते हैं, यहाँ अनुपस्थित थी। इसलिए जबकि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा ने आधुनिक समाज के विकास में एक निश्चित योगदान दिया और भारत के लोगों के एकीकरण में हाथ बँटाया, वहाँ पर यह भी मानना पड़ता है कि शिक्षा के तरीके में ऐसी गंभीर त्रुटियाँ थीं, जो व्यक्ति और समष्टि के व्यवहार में प्रतिफलित हुईं।

भारतीय भाषाओं की, जिन्हें घृणा के साथ वर्नाक्युलर या गुलामों की भाषा का नाम दिया गया था, अवहेलना और इसके फलस्वरूप आधुनिक चिन्तन के वाहन के रूप में उनके पिछड़े हुए रह जाने के कारण, जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते थे, और उनकी संख्या बहुत अधिक थी, वे जिस मध्ययुगीन संसार में पड़े हुए थे उससे निकलने का मौका कम पाते थे। इससे भी बुरी बात यह थी कि शिक्षितों और अशिक्षितों में खाई और भी बढ़ गयी थी। माध्यमिक और उच्चतर श्रेणियों

में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम ग्रहण करने का एक और बुरा परिणाम हुआ। अंग्रेजों के हाथों में भारत का शासन आने के पहले बहुत से हिन्दू फारसी और कुछ लोग तो अरबी भी पढ़ते थे। इसी तरह बहुत से मुसलमान, भारतीय भाषाएँ पढ़ते-लिखते भी थे, उनमें से कुछ संस्कृत भी पढ़ते थे। पर जब से अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन गयी तब से हिन्दुओं के लिए फारसी या अरबी सीखना कठिन हो गया और इसी प्रकार से मुसलमानों के लिए अंग्रेजी के अलावा संस्कृत का अध्ययन कठिन हो गया। इस प्रकार से वे अब एक-दूसरे के प्राचीन साहित्य के ज्ञान से वंचित रहे। यह बात उन दोनों के बीच दूरी पैदा करती रही, जिससे अलगाव बढ़ा। यह सही है कि पाश्चात्य चिन्तन और अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के जरिए जो समता पैदा होती थी, उससे यह खाई कुछ हद तक भरती थी और कुछ हद तक उस हानि की पूर्ति होती थी। एक विदेशी भाषा के जरिए शिक्षा देने के कुल मनोवैज्ञानिक नतीजों का आकलन कठिन है। पर, रटाई पर अधिक जोर और चिन्तन में मौलिकता का कम होना बिल्कुल स्पष्ट था। एक बहुत ही जिम्मेदार और नरम विचार वाले सार्वजनिक नेता और प्रमुख शिक्षाविशारद गोखले ने भारतीयों के असंतोष और निराशा को विधान परिषद् में अपने व्याख्यानों में प्रकट किया था। उन्होंने परिषद् का ध्यान इस ओर खींचा कि "इस देश का पढ़ा-लिखा वर्ग निश्चित रूप से इस कानून के विरुद्ध है।"[12] उन्होंने कहा कि कला के स्नातक विश्वविद्यालयों से असंतुष्ट होकर निकलते हैं। उन्होंने यह भी साफ किया कि इस कानून के अनुसार विश्वविद्यालय की प्रबंध समितियों का जो पुनर्निर्माण होगा वह "उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय उद्योग के विरुद्ध पड़ेगा।" उन्होंने और भी कहा, "उनसे कितना लाभ होगा यह तो विवादास्पद है, पर उनसे होने वाली हानि बिल्कुल निश्चित और स्पष्ट है।"[13]

इस प्रकार से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं जिनसे लोगों में खबरों को जानने की इच्छा बढ़ रही थी और यह इच्छा केवल समाचार-पत्रों से ही तृप्त हो सकती थी। सरकार के तौर-तरीकों और नीतियों के संबंध में भारतीय जनमत के सामने आने के लिए कोई वैधानिक साधन या राजनीतिक संगठन न होने के कारण,

12. गोखलेज स्पीचेज, दूसरा संस्करण, 1916, पृष्ठ 265
13. वही, पृष्ठ 282-83

समाचार-पत्र ही एकमात्र साधन थे जिनके जरिए जनता की माँग तथा उनकी शिकायतें सामने आ सकती थीं। इस प्रकार से समाचार-पत्र प्रचार के वाहन के रूप में बहुत महत्वपूर्ण थे।

अंग्रेजी समाचार-पत्रों के प्रकाशन से पत्रकारिता का दौर शुरू हुआ। 1861 में 'टाइम्स आफ इंडिया' की स्थापना, 'स्टैंडर्ड , 'टैलीग्राफ', 'कूरियर' और 'बम्बई टाइम्स' को मिला कर हुई। इसके पहले अंक में अपनी आवश्यकता सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया कि बम्बई, बंदरगाह के रूप में बहुत महत्वपूर्ण है और भारत की प्रधान नगरी है। ''चाहे व्यापार हो चाहे युद्ध, साधनों के मामले में बम्बई ही साम्राज्य का गढ़ और एशिया का स्वाभाविक मालखाना और राजधानी है। इस नाते बम्बई का भविष्य इतना उज्ज्वल है जिसकी कल्पना भी ठीक तरह से नहीं की जा सकती। यह साम्राज्य की मुख्य नगरी है, पर इसके समाचार-पत्रों की दृष्टि अब तक प्रान्तीय या संकीर्ण रही है। 'टाइम्स आफ इंडिया' के रूप में हम सिर्फ घटनाओं के साथ कदम मिला कर चलने की चेष्टा कर रहे हैं।''

1865 में इलाहाबाद में 'पायोनियर' नामक पत्र निकाला गया। यह सरकारी पक्ष का मुखपत्र था और एंग्लो-इंडियन समाज का प्रतिनिधि समझा जाता था। 1872 में शिमला से 'सिविल एंड मिलटरी गजेट' का प्रकाशन हुआ। यह 1876 में लाहौर ले जाया गया। इसमें सैनिक तथा असैनिक सेवाओं का पक्षसमर्थन किया जाता था। प्रसिद्ध लेखक रुडयर्ड किपलिंग 'सिविल एंड मिलिटरी गजट' तथा 'पायोनियर' के सह-संपादक रह चुके थे। 1875 में राबर्ट नाइट ने 'फ्रेंड आफ इंडिया' खरीद लिया और कलकत्ता के 24 अंग्रेजी व्यापारियों की मदद से 'स्टेट्समैन' की स्थापना की। 'मद्रास मेल' और 'मद्रास स्टैंडर्ड' मद्रास प्रेसीडेन्सी में एंग्लो-इंडियन समाज की सेवा करते रहे। 1877 में स्थापित 'स्टैंडर्ड' 1892 में भारतीयों के हाथ में आ गया और एक स्वतंत्र गरमदली भारतीय दृष्टिकोण का प्रबल समर्थक हो गया।

बम्बई प्रेसीडेन्सी में व्यापार के स्वार्थों ने यूरोपीय तथा भारतीय सौदागरों को, पारसियों, बोहरों तथा गुजरातियों को एक साथ ला दिया और 'टाइम्स आफ इंडिया' उनके संयुक्त हितों का प्रतिनिधित्व करता था। यह पत्र अपरिवर्तनवादी और सरकारी नीतियों का कट्टर समर्थक था। अतः बम्बई से भी एक राष्ट्रीयतावादी अंग्रेजी

समाचार-पत्र निकालने का प्रयत्न हुआ। दादा भाई नौरोजी ने 1882 में 'वायस आफ इंडिया' नाम से एक मासिक-पत्र निकाला जो अन्ततोगत्वा बहरामजी एम. मालाबारी के 'इंडियन स्पेक्टेटर' पत्र में मिल गया। कहा जाता है कि फिरोजशाह मेहता ने 1886 में 'ऐडवोकेट आफ इंडिया' नामक पत्र प्रकाशित करने की चेष्टा की थी, पर उसका क्या हुआ, यह ठीक से पता नहीं लगता। अंग्रेजी शिक्षा बम्बई तथा कुछ अन्य शहरों तक सीमित रही। इस शताब्दी के संधिकाल में 11 मराठी-अंग्रेजी और 13 गुजराती-अंग्रेजी पत्र निकलते थे। 1889 में तिलक ने 'मराठा' नाम से जो अंग्रेजी पत्र चलाया, वह प्रभावशाली हुआ। पर इसे कभी उतनी जनप्रियता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि 'केसरी' को प्राप्त हुई थी। उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी भाषा के पहले राष्ट्रवादी पत्र 'इंडियन हेरल्ड' का प्रारंभ 1879 में पंडित अयोध्यानाथ के द्वारा किया गया था और वह शक्तिशाली एंग्लो-इंडियन मुखपत्र 'पायोनियर' का मुकाबला तीन साल से कुछ ऊपर तक करता रहा। 1890 में पंडितजी ने 'इंडियन यूनियन' नामक एक और पत्र ले लिया। पंजाब में सरदार दयालसिंह मजीठिया द्वारा 'ट्रिब्यून' पत्र 1881 में प्रकाशित हुआ।

1857 के पहले से ही भारतीय भाषा के पत्रों, विशेषकर उर्दू पत्रों ने विद्रोह के जमाने में बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा अदा किया था। 1857 के बाद प्रशासकों की ओर से विरोध के बावजूद प्रगति बहुत तेज रही। सरकार विशेष रूप से इन पत्रों के प्रभाव से डरती थी। इनकी वास्तविक ग्राहक संख्या अधिक नहीं थी, पर यह उनके प्रभाव का मापदंड नहीं था, क्योंकि एक प्रति को बहुत से पाठक पढ़ते थे। इसके अलावा इन पत्रों से ऐसे पाठक वर्ग पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था, जो अंग्रेजी पढ़ा-लिखा नहीं था, और जो बात अखबार में कही जाती थी उससे तुरन्त प्रभावित होता था। यह भी एक तथ्य है कि इनकी टिप्पणियाँ अंग्रेजी पत्रों के मुकाबले कड़वी होती थीं और अंग्रेजी समाचार-पत्रों के मुकाबले उनकी कही हुई बातें ज्यादा लगती थीं।

भारतीय समाचार-पत्रों के विकास में दो सोपान स्पष्ट किए जा सकते हैं। पहला सोपान 1857 के विद्रोह से लार्ड लिटन के वायसराय होने तक यानी 1857 से 1880 तक है, और दूसरा सोपान, लार्ड रिपन से लार्ड कर्जन तक यानी 1880 से 1905 तक था। प्रथम सोपान में भारतीय समाचार-पत्र सामाजिक और धार्मिक मामलों से उतने ही सम्बद्ध थे जितने कि राजनीति से। राजनीति में भारतीय

समाचार-पत्रों का रुख ब्रिटिश सरकार के प्रति सम्मान और राजभक्तिपूर्ण था। हाँ, कुछ आलोचना जब-तब हो जाती थी, जो कभी-कभी कुछ कर्कश भी हो जाती थी। कुल मिलाकर यह माना जाता था कि ब्रिटिश शासन हमारे लिए लाभजनक है, बल्कि ईश्वर की कृपा से ही यह संबंध हुआ है। उस युग में ब्रिटेन की नीयत पर बहुत अधिक विश्वास था और ब्रिटिश संस्कृति एवं ब्रिटिश संसदीय पद्धति को प्रेरित करने वाले उदार तथा लोकतांत्रिक सिद्धांतों की प्रशंसा की जाती थी।

दूसरे सोपान में राजनीति को अधिक महत्व प्राप्त हुआ और समाज-सुधार की प्राथमिकता कम हो गयी। शिक्षित भारतीयों, विशेषकर हिन्दुओं और ब्रिटिश अफसरों तथा अंग्रेज नागरिकों में संबंध बिगड़ते चले गये। अब सरकार की नीतियों की अधिक उग्रता से टीका की जाती थी और भारत की राजनीतिक प्रगति के संबंध में अंग्रेजों के उद्देश्य पर संदेह पहले से अधिक हो गया था। यद्यपि ब्रिटेन के साथ संबंध-विच्छेद और स्वतंत्र हो जाने का विचार नहीं हो रहा था, फिर भी पराधीनता का अपमान लोगों के हृदय को मथने लगा।

4. बदलता हुआ सामाजिक ढाँचा

अंग्रेजी राज के प्रयत्नों से जिन नगरों का विकास हुआ, उनमें कलकत्ता सबसे महत्वपूर्ण था। कलकत्ता व्यापारियों, बैंकरों, कारीगरों का घर, उद्योग-धंधों का केन्द्र और देशी तथा विदेशी व्यापार का मुख्य बाजार हो गया। कलकत्ता से बंगाल के लोगों में यूरोप के विचारों, तौर-तरीकों, रीति-नीतियों तथा संस्थाओं के संबंध में ज्ञान फैला।

कलकत्ता ने अड़ोस-पड़ोस के लोगों को उस समय आश्रय दिया, जब बंगाल राजनीतिक झगड़ों, उत्तराधिकार के युद्धों और मराठा आक्रमणों से पीड़ित था। ब्रिटिश बस्ती में लोग काम पाने के आकर्षण से आते थे और कुछ मुख्य कलकत्तावासी भारतीय बड़े लोग अपने देशवासियों को अपने यहाँ बुलाते थे। बंगाल में भारतीय मध्यम वर्ग का उत्थान कलकत्ता में अंग्रेजों के व्यापार और राजनीतिक कार्यकलाप से बहुत घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। इसका चरित्र इसके कार्य के अनुसार ढला। अंग्रेजी राज के उद्देश्यों और तौर-तरीकों में जो परिवर्तन

आये, उन पर इसका विकास और आचार निर्भर था। इन सारी बातों का अर्थ यह था कि अंग्रेज तथा दूसरे यूरोपीय व्यापारियों में भारतीय सौदागरों की सेवाओं की माँग बहुत अधिक हो गयी। इन सारी माँगों की पूर्ति मौजूदा व्यापारी कोठियों से नहीं हो सकी। इसलिए बहुत से नये घराने भी, जिनमें से बहुतों को व्यापार में कोई तजुर्बा नहीं था या पुरानी कोई परम्परा नहीं थी, व्यापार में कूद पड़े ताकि यूरोपीय व्यापार के कारण जो नयी सुविधाएँ उत्पन्न हुईं, उनका फायदा उठाया जाए। व्यापारी नये मध्यम वर्ग के प्रथम और कुछ समय तक प्रधान तत्व बने रहे। एक दूसरा गुट जो इस वर्ग में आया, वह सर्राफों का वर्ग था। ये लोग देशी व्यापारी वर्ग के अनिवार्य अंग थे। व्यापार में लगे हुए विदेशियों, साथ ही भारतीय व्यापारियों का बहुत तरह के सिक्कों से पाला पड़ता था। विदेशियों को मुख्यतः अपने देश से भेजे हुए सोना-चांदी और सिक्कों के बदले माल खरीदना पड़ता था। इस प्रकार बहुत-सी चांदी और कुछ सोना, साथ ही बहुत तरह के. के सिक्के भारतीय बाजार में आते थे, और किसी ऐसे अधिकरण की जरूरत थी जो उनका मूल्य लगाए और यहाँ के चालू सिक्के से भँजाए। इसके अलावा भारत में 900 तरीके के सिक्के प्रचलित थे। इन सिक्कों की जाँच करना, उन्हें तौलना, उनका मूल्य लगाना, सर्राफों का काम था। यह व्यापार कितना जटिल था, यह उस समय प्रचलित सिक्कों की सूची से प्रकट होता है।[14]

समुद्रपार के व्यापार से अंदरूनी व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन मिलता था। इसके फलस्वरूप तटीय व्यापार भी काफी बढ़ गया और बंगाल का सड़क और नदी के जरिए होने वाला अंदरूनी व्यापार और भी बढ़ गया। इस प्रकार व्यापार की बहुत-सी धाराएँ मिल गयीं। इसका असर यह हुआ कि सौदागर वर्ग की शक्ति काफी बढ़ गयी।

व्यापार के विकास से केवल मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ हो, ऐसी बात नहीं। इससे भी ज्यादा यह हुआ कि पश्चिमी संस्थाओं और तौर-तरीकों के साथ इस वर्ग के सदस्यों के संपर्क ने नयी मानसिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। व्यापार के क्षेत्र में संगठन की ज्वाइंट स्टाक पद्धति, जिसमें हिस्सेदार शुद्ध धर्मनिरपेक्ष भेदों से बँधे होते हैं और साम्प्रदायिक, जात-पाँत वाले या पारिवारिक रिश्तों से बँधे नहीं होते,

14. देखिए—रुपये की कहानी, घनश्यामदास बिड़ला।

भारत के लिए एक बिल्कुल ही नयी बात बन गयी। हिसाब रखने तथा व्यापार करने के पश्चिमी तरीकों और उत्पादन की उन्नत तकनीकों ने भी प्रभाव डाला।

वाणिज्य और प्रशासन के क्षेत्र की तरह ही कलकत्ता ब्रिटिश उद्योग का प्रधान केन्द्र बन गया था। यहाँ पर अब पाश्चात्य ढंग का एक संस्थागत संगठन बन गया था। ब्रिटिश बस्ती पर परिषद् अध्यक्ष का प्रशासन रहता था, उनके साथ बहुत-सी समितियों और उपसमितियों का तांता लगा रहता था। 1726 में कलकत्ता निगम की स्थापना हुई, जिसमें एक मेयर और नौ एल्डर मैन हुए। विभिन्न प्रशासकीय तथा न्याय-विभागीय कार्यों के लिए मेयर की एक अदालत स्थापित हो गयी। कुछ विशेष कामों को अंजाम देने के लिए बोर्डों की स्थापना हुई। जमींदारों की कचहरी भारतीयों के मुकदमों का फैसला करती थीं और जमींदार (अंग्रेज कलेक्टर) भारतीय सहायकों की सहायता से प्रशासकीय, वित्तीय तथा न्याय विभागीय कार्य करता था।

इन कार्यों ने उन भारतीयों के मन पर बड़ा प्रभाव डाला जो ब्रिटेन के साथ सीधे संपर्क में आये, चाहे वे व्यापार के क्षेत्र में हों चाहे प्रशासन के क्षेत्र में। यह स्वाभाविक ही था कि यह वर्ग पहले-पहल कलकत्ता में ही उत्पन्न हुआ। ज्यों-ज्यों व्यापार और प्रशासन कलकत्ता से देश के अंदरूनी भागों में फैला, त्यों-त्यों उसी प्रकार के धंधों और उसी प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों वाले लोग देश के अंदर भी एक पृथक् सामाजिक और आर्थिक वर्ग का सृजन करने लगे।

सामाजिक दृष्टिकोण से सबसे मुख्य परिवर्तन, जो नये वर्ग को इसके परंपरागत प्रतिरूप से अलग करता था, यह था कि अब जाति के विशुद्ध सामाजिक कार्यों से उसके आर्थिक कार्य अलग होने लगे थे। नया मध्यम वर्ग अब प्राचीन वैश्य जाति और पुराने व्यापारिक वर्ग तक सीमित नहीं था। सब जाति के लोग व्यापार और सेवाओं में आ रहे थे।

भारत के विभिन्न इलाकों के नये मध्यम वर्ग में जिन बातों से एकरूपता की भावना को बल मिला और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न होने में सहायता मिली, उनमें कानून एक था। भारतीय इतिहास में पहली बार सारे भारत के लिए एक ही तरह के कानून और नियम बनाए गये थे। जब दीवानी और फौजदारी कानूनों की संहिताएँ और प्रणाली के कानून बनाए गये और सारे प्रान्तों और समुदायों पर उन्हें लागू

किया गया तो सब भारतीयों ने अपने को एक सामान्य पद्धति में अनुभव किया। इन कानूनों के प्रशासन में भारतीयों ने न केवल इस रूप में भाग लिया कि मुकदमों का नियमन उनके द्वारा होता था, बल्कि भारतीय कर्मचारी ही उनको लागू करते और भारतीय वकील उनकी व्याख्या करने में अदालतों की सहायता करते थे। चूँकि मुवक्किलों, वकीलों और जजों के लिए एक ही तरह से और एक जैसे कानूनों का प्रशासन था, इसलिए उनमें हितों और अधिकारों की एकता का विकास होना अनिवार्य था। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत में राजनीतिक आंदोलन का नेतृत्व वकीलों ने ही किया। यदि कानून, प्रशासन, शिक्षा, प्रेस और साहित्य राष्ट्रीय एकता के अभिकरण थे, तो यातायात के साधनों का विकास अखिल भारतीय पैमाने पर राष्ट्रीयता की सफलता का एक अपरिहार्य घटक सिद्ध हुआ। बंगाल, बम्बई और मद्रास के मध्यम वर्गों में बहुत समता थी। पर जब तक वे आपस में आसानी से और जल्दी से विचारों का आदान-प्रदान न कर सकें, तब तक उनमें सामान्य राष्ट्रीय भावना, सामान्य जनमत और कार्रवाई की एकता उत्पन्न नहीं हो सकती थी। रेलों के विकास ने देश के विभिन्न भागों के लोगों में यह संचार और आदान-प्रदान संभव किया, इसलिए यह कहा जा सकता है कि रेलों का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्वपूर्ण सोपान रहा।

मध्यम वर्ग के विकास के साथ-साथ भारत में राजनीतिक जागरण बढ़ता चला गया। 19वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में ही यह नया वर्ग सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेने लगा था। भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने, चाहे वे अंग्रेजी की हों या देशी भाषाओं की, इस आंदोलन को बहुत प्रेरणा दी थी। समाचार-पत्रों और उनके पाठकों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी जिससे यह सूचित होता था कि लोगों की दिलचस्पी राजनीति में बढ़ती जा रही है।

अंग्रेजों में कुछ साफ नजर के लोग थे जो यह समझते थे कि ब्रिटिश शासन हमेशा नहीं रह सकता और किसी न किसी दिन भारत को स्वतंत्रता देनी ही पड़ेगी। कुछ ऐसे लोग भी थे जो उदार दृष्टि तो रखते थे, पर भारतीय समस्याओं की जटिलता से उनकी आँखें चकाचौंध हो गयी थीं, इसलिए वे भविष्य को ठीक देख नहीं सकते थे। कुल मिलाकर शासक वर्ग अपनी पकड़ ढीली करने के लिए तैयार नहीं था। जब यह स्पष्ट होता जा रहा था कि ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक प्रभुता जरूरी नहीं है, तब भी वे साम्राज्यवादी चाल खेलते रहे।

5. स्वतंत्रता :
सांस्कृतिक जागरण

वह राजनीतिक चेतना, आज की सत्तावादी राजनीतिक चेतना से सर्वथा भिन्न थी। उस काल की राजनीतिक चेतना में स्वतंत्रता उसकी निधि थी, शक्तिपूजन उसका धर्म था और नवचिन्तन उसका कर्तव्य। अंग्रेजी राज के शासन के फलस्वरूप भारतवासियों में जो अंधविश्वास, रूढ़िवादिता और हर क्षेत्र में गुलामी का भाव आ गया था उस सबसे उनको मुक्त करने के लिए एक सांस्कृतिक, बौद्धिक जागरण अनिवार्य हो गया था, क्योंकि चेतना के बिना मार्गदर्शन संभव ही नहीं था। इस नवजागरण के लिए अनेक समाज-सुधारक देशभक्तों ने विभिन्न संस्थाओं का निर्माण किया जिनसे भारतीय जीवन में एक नये जागरण का सूत्रपात हुआ। इनमें ब्रह्म समाज, बहावी सम्प्रदाय, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण आश्रम, ब्रिटिश इंडियन एसोशियेसन आदि का प्रमुख स्थान रहा।

ब्रह्म समाज की स्थापना, समाज में प्रचलित दूषित प्रवृत्तियों पर प्रहार कर भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में की थी। इसके पूर्व उन्होंने 1815 में 'आत्मीय सभा' तथा 1816 में 'वेदान्त कालेज' की स्थापना भी कलकत्ते में की थी। वह प्रगतिशील विचारों के प्रतिनिधि और सच्चे समाज-सुधारक थे। विचार प्रकाशन की स्वतंत्रता, कृषक-समाज की उन्नति, पराधीन दलित-शोषित-जर्जरित जातियों का उद्धार, नौकरियों का भारतीयकरण और अन्ततः सभी दृष्टियों से राष्ट्र का उन्नयन करना इनके प्रमुख सुधारात्मक कार्य थे। इन कामों से निश्चय ही जन-जीवन में एक नयी जीवन-चेतना का आविर्भाव हुआ।

राजा राममोहन राय का राजनीतिक संघर्ष उस समय दिखाई पड़ा जब उन्होंने समाचार-पत्र की स्वाधीनता को समाप्त करने से सम्बद्ध अध्यादेश का विरोध किया। उनका कहना था कि स्वतंत्र समाचार-पत्र के बिना जनता की स्थितियों को सही ढंग से सरकार के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकता।

राजा राममोहन राय ने 1826 में लागू जूरी अधिनियम का भी घोर विरोध

किया। इस अधिनियम के अनुसार कानून की दृष्टि में ईसाई धर्मावलम्बी और हिन्दू अथवा मुसलमान धर्मावलम्बी के बीच अन्तर रखने का प्रावधान था। भारतीय हिन्दू अथवा मुसलमान की जाँच यूरोपियन अथवा ईसाई मतावलम्बी भारतीय कर सकते थे, पर किसी यूरोपियन अथवा ईसाई मतावलम्बी भारतीय की जाँच भारतवासी नहीं कर सकते थे। राममोहन राय ने इस गलत नियम के विरुद्ध अनेक हिन्दुओं और मुस्लमानों से हस्ताक्षर करा कर एक प्रतिवेदन इंगलैंड की पार्लियामेंट के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अगस्त 1832 में जूरी अधिनियम में सुधार किया गया और उस अन्तर को समाप्त कर दिया गया। यह संवैधानिक संघर्ष का एक जीता-जागता उदाहरण था।

राजा राममोहन राय ने और भी कई ऐसे कार्य किये जो राजनीतिक चेतना के विकास में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए। सन् 1830 में सरकार ने उस भूमि पर भी कर लगाया जो पहले करमुक्त थी। राजा राममोहन राय ने इसका भी विरोध किया। फिर 1833 में कंपनी के अधिकारों के नवीकरण के अवसर पर भारतीयों के लिए अधिक-से-अधिक अधिकारों की माँग की। इसके लिए वह इंगलैंड गये और वहाँ जाकर उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि लोक सेवा में भारतीयों को अधिक-से-अधिक स्थान मिले।

राजा राममोहन राय के बाद अक्षय कुमार दत्त ने भारतीय जन-जीवन की दुर्दशाओं की ओर कम्पनी सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने सरकार की आलोचना की और उस पर यह आरोप लगाया कि उसके शासन में धार्मिक, शैक्षिक, शारीरिक आदि सभी दृष्टियों से भारतीयों का ह्रास हुआ है। उन्होंने शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सभी मामलों के प्रबंध का भार सरकार को अपने ऊपर उठाने के लिए कहा।

महाराष्ट्र का 'प्रार्थना समाज' मुख्यतः सुधारवादी संस्था के रूप में कार्यरत रहा। इसके संस्थापकों में न्यायाधीश महादेव गोविन्द राणा डे मुख्य थे। इन पर ब्रह्म समाज का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। अतएव इस संस्था के उद्देश्य-निर्धारण के समय इन्होंने उसकी विशेषताओं को ध्यान में रखा था।

यद्यपि प्रार्थना समाज की स्थापना 1864 में हुई और उसमें सक्रियता 1867 में आयी जब देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने महाराष्ट्र की यात्रा की थी, पर इसके मूल का

अनुसंधान 1849 में स्थापित परमहंस समाज से ही किया जा सकता है। चूँकि परमहंस समाज का संबंध सार्वजनिक जीवन से अधिक नहीं रहा, इसलिए वह बहुत दिनों तक अस्तित्व में नहीं रह सका। प्रार्थना समाज ने सभी वर्गों के लोगों के लिए काम किया जिस कारण वह लोकप्रिय बन गया।

स्वामी दयानंद के आगमन के समय तक देश में नये विचारों की लहर उठ चुकी थी। दयानंद सरस्वती ने दिल्ली, पंजाब, बंगाल आदि का भ्रमण किया और देश की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त की। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशव चन्द्र सेन से भी राष्ट्रोद्धार के संबंध में उन्होंने विचार-विमर्श किया। देश के प्रति उनकी उत्कट भक्ति और स्वस्थ दृष्टिकोण 'सत्यार्थ प्रकाश' में अभिव्यक्त हुआ।

सांस्कृतिक संस्थाओं में भारतीय राष्ट्रीय-आन्दोलन को आर्य समाज की देन अनुपम है। इसके द्वारा दयानंद ने भारतीयों में स्वधर्म, स्वाभिमान और स्वराज्य की भावना उत्पन्न की। पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति को उन्होंने श्रेष्ठ सिद्ध किया।

दयानंद ने वेद के महत्व पर अत्यधिक प्रकाश डाला। वैदिक विचारधारा से परिचित होकर भारतीयों का आत्मबल जाग उठा। वे अपने देश की महत्ता को समझने लगे। प्राचीन गौरव के स्मरण से उनमें स्वाभिमान की भावना आयी। इस प्रकार वे स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए सचेष्ट हुए।

गुरुकुलों तथा आर्य समाजी विद्यालयों द्वारा युवकों में स्वदेशानुराग का जो उत्साह भरा गया वह भारतीय स्वाधीनता संग्राम के लिए वरदान सिद्ध हुआ। हिन्दी-प्रचार और नारी-शिक्षा द्वारा उन्होंने राष्ट्रीयता को और भी सबल बनाया।

ईसाई धर्म को रोकना और भारतीय संस्कृति का प्रचार करना थियोसोफिकल सोसायटी का मुख्य उद्देश्य और कार्य था। आयरलैंड की श्रीमती एनीबेसेंट एवं उनके सहकर्मियों को पादरियों के विरुद्ध हिन्दू-धर्म और संस्कृति के लिए परिश्रम करते हुए देख कर भारतीय अपने अतीत पर गौरव का अनुभव करने लगे और वर्तमान को उसके अनुरूप बनाने के प्रयास में लग गये।

आगे चलकर 20वीं सदी के प्रारंभ से विचार और संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिम का प्रवेश काफी व्यापक हुआ। इसके विविध परिणाम सामने आये। उच्च शिक्षा

प्राप्त लोगों ने वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा पद्धतियों को अपनाया। लेकिन उन्होंने उनका प्रयोग भिन्न उद्देश्यों से किया। अधिकांश भारतीय विचारकों ने प्रयास किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन के आधारभूत सिद्धांतों, जिसे आध्यात्मिक और अंतः प्रज्ञात्मक माना जाता था और पश्चिम के ऐंद्रिक ज्ञान-जन्य दृष्टिकोण का, जिसे हीनता के द्योतन के लिए भौतिकवादी कहा जाता था, समन्वय किया जाए। उन्हें विवश भाव से इस प्रकार सामंजस्य का प्रयास करना पड़ा, क्योंकि पाश्चात्य पद्धतियों को जो अद्‌भुत सफलताएँ मिली थीं, और जो विज्ञान और टैक्नोलाजी, शक्ति और संपदा के आश्चर्यजनक विकास के रूप में व्यक्त हुई थीं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष केवल राजनीतिक मुक्ति के लिए सीमित और संकीर्ण आंदोलन नहीं था। यह मोटे तौर पर प्राचीन, जड़ और सामूहिक समाज की पुनर्रचना को स्थापित करने की कोशिश थी जो स्वाधीनता, न्याय, वैयक्तिकता, मानवता और सर्वधर्म-समभाव के मूल्यों और मानदंडों को बढ़ावा दे। उद्देश्य यह था कि कबीलों की व्यवस्था, आंचलिकता और सांप्रदायिकता की जगह प्रादेशिकता, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद के नये संबंधों को स्थापित किया जाए। यह बहुत कठिन कार्य था, विशेषतः उन बाधाओं को देखते हुए जो प्रगति के आड़े आ रही थीं।

इस प्रकार स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास राजनीति के मंच पर घटने वाली घटनाओं के विवरण की कथामात्र नहीं है, बल्कि समग्र सामाजिक विकास के मूलाधार को नये विचारों के उद्‌भव और प्रसार तथा अन्य पक्षों में सन्नद्ध हितों एवं शक्तियों के संघर्ष को समझने-समझाने का भगीरथ प्रयास है। इस इतिहास को विश्व रंगमंच पर होने वाली घटनाओं तथा ब्रिटेन और भारत में होने वाले परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। स्वाधीनता आंदोलन के उतार-चढ़ाव इन तीनों—भारत, ब्रिटेन और विश्व की अन्योन्य क्रिया के परिणाम थे।

इस प्रकार विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध युद्ध के दो पहलू थे—भौतिक क्षमता और वैचारिकता। यह लड़ाई जहाँ भौतिक स्तर पर होनी थी, वहाँ आध्यात्मिक स्तर पर भी होनी थी और जितनी बाहरी दुश्मन के विरुद्ध लड़ी जानी थी उतनी ही अपने मानस में भी। जिन अनेक उल्लेखनीय नेताओं ने 20वीं सदी के उक्त संघर्ष में भाग लिया उनमें से उन्हीं की चर्चा यहाँ अभीष्ट होगी जिनके विचारों ने बड़ी

संख्या में जनता को कर्मठता की ओर प्रवृत्त किया। ये नेता थे— बाल गंगाधर तिलक (जन्म : 1856), रवीन्द्रनाथ ठाकुर (जन्म : 1861), मोहनदास करमचंद गांधी (जन्म : 1869) और श्री अरविन्द घोष (जन्म : 1872)। इन्होंने स्वातंत्र्य आंदोलनों में शीर्षस्थ भाग लिया।

उक्त व्यक्ति केवल राजनेता ही नहीं थे, जनमत के महान निर्माता भी थे। उनके महत्व को हमें जहाँ उनके द्वारा संगठित कार्यकलापों के प्रकाश में आँकना चाहिए, वहीं उनके नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के द्वारा भी। हिन्दुओं और मुसलमानों के विचारों में जहाँ कुछ आश्चर्यजनक समानताएँ थीं वहीं शासन-तंत्र संबंधी समस्याओं तथा स्वाधीनता संघर्ष के तौर-तरीकों और युक्तियों पर उनके दृष्टिकोणों में भिन्नता भी थी, परंतु इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार भारतीय मुक्ति के ध्येय के लिए जूझने वालों को प्रेरणा प्रदान कर रहा था।

तिलक का विचार था कि न केवल युद्ध और शान्ति मानव-मन में आरंभ होते हैं, आधिपत्य और अधीनता की भावनाओं की भी भूमि मन ही है। इसलिए भारतीय मानस में परिवर्तन लाने का प्रयास करना बहुत आवश्यक है। शिक्षित वर्ग में आत्मविश्वास, साहस और उत्साह तथा जनता में अपने हितों के लिए जीवंत रुचि उत्पन्न होनी चाहिए। 19वीं सदी में धार्मिक और सामाजिक सुधारकों, शिक्षाशास्त्रियों, पत्रकारों और राजनीतिक दृष्टि से सजग नेताओं ने उक्त यात्रा का पहला पड़ाव पार कर लिया था। अब समय आ गया था कि यात्रा में तेजी लाई जाए और उसकी परिणति निर्धारित लक्ष्य पर हो।

अरविन्द का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रवादी चेतना को, जो परिवर्तनशील अवधारणा है, जाग्रत करना था। दूसरा समान प्रमुख उद्देश्य था— स्वाधीनता-प्राप्ति। इस उद्देश्य के लिए उनका योगदान अद्वितीय था। प्रथम तो उन्होंने नितान्त स्पष्ट शब्दों में भारतीय संघर्ष के राजनीतिक लक्ष्य का उल्लेख किया। उन्होंने विदेशी शासन के अभिप्राय और निहितार्थ को समझाया और बताया कि किस प्रकार वह राष्ट्रीय आत्मसम्मान तथा भौतिक एवं नैतिक कल्याण के प्रतिकूल है। किसी भी राष्ट्र के लिए, जब तक कि वह विदेशी आधिपत्य में है, अपनी आन्तरिक क्षमता की पूरी ऊँचाइयों तक उठ पाना असंभव है। उन्हीं के शब्दों में, "हिन्दू दर्शन के अनुरूप आत्म-ज्ञान और आत्मानुभूति सभी धर्मों के अंतिम ध्येय हैं। अगर बाहरी प्रभाव

हमें विश्रृंखलित करें और हमारे विकास को अवरुद्ध करें तो यह सोचना कठिन है कि हम कैसे मानव अस्तित्व के सर्वोच्च ध्येय को पा सकेंगे।''[15]

उनका मत था कि पराधीनता मनुष्य को पूरी तरह से 'तामसिक' बना देती है। ''उन्हें एक प्रकार की भौतिक, मानसिक और नैतिक पंगुता दबोच लेती है और अस्तित्व को निम्न स्तर पर दबाए रखती है। वे कीचड़ में बिलबिलाते कीड़ों की तरह होते हैं।''[16] अतएव राष्ट्रवादी आंदोलन का उद्देश्य यह था कि राष्ट्र को उसकी आध्यात्मिक गरिमा से फिर मंडित किया जाए और उसकी पूर्व-शर्त थी राजनीतिक पुनरुत्थान या स्वाधीनता।

रवीन्द्रनाथ के 19वीं सदी के उदारतावाद की यह माँग थी कि बल-प्रयोग की गुंजाइश कम से कम रहे जिससे व्यक्ति और समाज की स्वतंत्रता के लिए अधिक से अधिक अवसर रहे। भारत की परिस्थितियों में जहाँ बल-प्रयोग एक विदेशी नौकरशाही द्वारा होता था, समाज की स्वतंत्र स्वीकृति पर और भी ज्यादा जोर देने की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने यह कहा कि राजनीतिक आंदोलन से भी अधिक आवश्यकता एक आत्म-निर्भर, आत्म-नियंत्रित, प्रगतिशील समाज का निर्णय है। समाज संबंधी उनकी धारणा शिक्षित, शहरी, मध्यवर्गीय अत्यल्पसंख्यकों तक सीमित नहीं थी, उसके अंतर्गत गाँवों में रहने वाली विशाल जनसंख्या भी थी। स्पष्टतः उनका विचार यह था कि जनजीवन में सरकारी हस्तक्षेप को कम किया जाए, यहाँ तक कि अंततः उस हस्तक्षेप की आवश्यकता ही न रह जाए और इस प्रकार संपूर्ण सत्ता जनता के हाथों में हस्तांतरित हो जाए। गांधीजी ने बाद में जो योजना अपनाई उसमें रवीन्द्रनाथ के विचार प्रतिबिंबित थे।

गांधीजी ने मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम, गोरक्षा, पुनर्जन्म तथा कर्मसिद्धांत के पक्ष में भी तर्क दिए। इन मामलों में वह धार्मिक प्रमाणों पर इतना जोर नहीं देते थे जितना तर्क पर। यह और बात है कि उनके तर्क वैध थे या नहीं। परंपरावादियों की दृष्टि में वे विवादास्पद थे। लेकिन गांधीजी आर्ष नियमों के शब्दों से अपने को बँधा हुआ नहीं मानते थे। वह शब्दों की भावना या आशय को ही ग्रहण करते थे जैसा कि उनके द्वारा एक मरणासन्न बछड़े को पीड़ा की छटपटाहट से छुड़ाने के उद्देश्य

15. श्री अरविंद एंड द न्यू थाट, हरिदास और उमा मुखर्जी, पृष्ठ 129
16. श्री अरविंद एंड द न्यू थाट, हरिदास और उमा मुखर्जी, पृष्ठ 219

से उसे मारने के लिए सहमत होने से प्रकट होता है। वह जातिप्रथा के कट्टर शत्रु थे, विशेषतः उसके सबसे भद्दे रूप अस्पृश्यता के। इसकी कड़ी से कड़ी निंदा करते हुए वह थकते न थे। उन्होंने यहाँ तक कह डाला था कि अगर छुआछूत का अभिशाप दूर नहीं होता तो किसी दिन वह हिन्दूधर्म को ले डूबेगा।

गांधीजी का धर्म केवल ध्यान और मनन-चिन्तन तक या अलौकिक सत्ता के दर्शन तक सीमित नहीं था। उनके लिए धर्म ही कर्म का प्रेरक था, सत्य के निरंतर विकासमान परिदृश्यों की उपलब्धि का जीवंत साधन था। उनके लिए जानना ही इच्छा करना था, विश्वास करना ही कर्मयोग में जीवन-पर्यंत अडिग और अटूट रूप में प्रवृत्त होना था। उनके कर्मों का ध्येय आत्म-साक्षात्कार था, पूर्णता की खोज था— व्यक्ति की पूर्णता की एवं समष्टि की पूर्णता की भी। वह अंतिम ध्येय था जो बुद्ध का अभीष्ट था : तब तक निर्वाण अभीप्सित नहीं, जब तक सभी प्राणियों को वह प्राप्त न हो जाए।

इस लक्ष्य तक पहुँचाने वाला कौन-सा र्माग था ? वह था सत्य और अहिंसा का मार्ग, व्यष्टि और समष्टि की प्रगति का अवरोध करने वाले तत्वों को हटाकर उन्हें पूर्णता तक पहुँचाने का मार्ग। इसी प्रक्रिया को उन्होंने 'सत्याग्रह' की संज्ञा दी। इस अन्वेषण के लिए पूर्वापेक्षित है अहिंसा अर्थात् उन के प्रति भी प्यार जो इसके लिए बाधक हैं, और जरूरी हो तो आत्मपीड़न द्वारा उन्हें भी साथ लेना तथा सत्य के लिए तत्पर भाव से वैयक्तिक स्वतंत्रता, संपत्ति, स्वयं जीवन की आहुति दे देना। यह पद्धति थी जिसकी सीख थॉरो और टाल्सटाय ने दी थी। यही बुराई से असहयोग का, विनम्र प्रतिरोध का मार्ग था। अगर प्रतिरोधकर्ता अपने चित्त से घृणाभाव निकाल देता है, अपने उद्देश्यों को पवित्र बना लेता है और मन को सुदृढ़ एवं शांत बना लेता है तो वह अनुभव करेगा कि प्रतिपक्ष थोड़े समय के लिए भले ही तात्कालिक हितों एवं अंध-आवेगों में बह जाए, अंततः वह अपनी भूल सुधारेगा और उस भ्रम को दूर करेगा जो उसकी स्पष्ट-दर्शन-क्षमता को धुंधला रहा है और उसके मन को गुमराह कर रहा है। इस प्रकार यदि उचित साधनों द्वारा उचित साध्य की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है तो सफलता अवश्यंभावी होगी।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दो पक्ष थे। बाहरी दृष्टिकोण से वह एक विदेशी शक्ति के आधिपत्य और शासन को समाप्त करने के लिए चलने वाला संघर्ष था,

लेकिन तत्वतः वह एक नैतिक संघर्ष था। जैसा कि गांधीजी ने बार-बार कहा, स्वराज का अर्थ है उन बेड़ियों को तड़काना जो मनुष्य के मन को बंधन-ग्रस्त किए हुए हैं। ये बेड़ियाँ हैं—भय, स्वार्थपरता, अविश्वास, कायरता और विभिन्न प्रकार के अन्य दुर्गुण। उनकी शिक्षा से भी अधिक उनके जीवन ने भारतीय चरित्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। कायरता और भय का स्थान शौर्य और साहस ने ले लिया, स्वार्थपरता की जगह त्याग की भावना और सदुद्देश्य के लिए कष्ट-संकट सहने के शील ने ले ली। स्वावलम्बन और आत्मसम्मान की एक नयी भावना उभरी और भारत के मस्तक पर अपनी नियति में विश्वास की एक नयी चमक दिखाई दी।

देश के प्रति गांधीजी की सर्वोत्कृष्ट सेवा थी लोगों की अन्तरात्मा को जाग्रत कर गुलामी की अन्यायपूर्ण व्यवस्था को समाप्त करना। स्वाधीनता संग्राम के इस नवजागरण में उन्होंने भारतवर्ष के समस्त वर्गों के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन्हीं में से एक विशेष थे घनश्यामदास बिड़ला।

तीसरा अध्याय

घनश्यामदास
किस साँचे में ढले ?

"पराधीन भारत की इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और देश-प्रेम, राष्ट्रीयता के वातावरण में मैं जन्मा और पला। इसकी मुझे खुशी है। भविष्य की संतान को यह अवसर शायद ही मिले, क्योंकि उस समय के जनमने वालों ने काफी फेर-बदल देखा। रंगमंच पर कई नये पर्दे पड़े और कई सिमटे। मेरे बचपन में भारत परतंत्र था। एशिया के मुल्क भी पिछड़े हुए थे। सारे आलम में इंगलिस्तान का डंका बजता था। रानी विक्टोरिया के राज में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। अंग्रेजों की यश-पताका शिखर पर पहुँच चुकी थी और शान के साथ फहरा रही थी। इसके बाद स्वतंत्रता का संग्राम शुरू हुआ, वह भी मैंने देखा।"[17]

घनश्यामदास तो नाम था उस एक व्यक्ति का, पर वह व्यक्ति क्या था ? उसके स्वभाव, उसकी बनावट, उसके चरित्र किन तत्वों से बने ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं जी. डी. ने अपने शब्दों में दिया है, "मेरा ख्याल है कि मनुष्य भी एक तरह का वृक्ष है और कई पहलुओं से मनुष्य और वृक्ष में कोई फर्क नहीं है। राजस्थान से अच्छे बाजरे का बीज मँगाकर बंगाल की भूमि में बो दीजिए। एक साल के बाद राजस्थानी बाजरा बंगाली बन जाएगा और उसका जांगड़ापन भाग जाएगा। कलकत्ते के गुलाब ले जाकर राजस्थान में लगाओ, तो वह बेहद रंगीला बन जाएगा। बम्बई का हापुस आम का पेड़ बंगाल में नहीं पनपता।··· वैसे ही मनुष्य भी वातावरण का गुलाम है। मैंने जो बचपन में देखा, सुना, जैसी दिनचर्या रही, जैसा समाज का वातावरण रहा, वैसे साँचे में ढल गया।"[18]

यहाँ 'वातावरण' से उनका मतलब है वह विशेष परिवार और घर-समाज, वह

17. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 33
18. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 16-17

विशेष देश-परिवेश और समय जिसमें उन्होंने जन्म लिया। जी. डी. के पिता राजा बलदेवदासजी और पितामह सेठ शिवनारायणजी दोनों मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पितामह में लीक छोड़कर चलने का साहस, परम्परा का पूरा आदर करते हुए भी अपनेआप को युगानुकूल ढाल सकने की क्षमता थी तो पिता में ज्ञान की पिपासा, कठोर आत्मानुशासन, सनातन धर्म-दर्शन में गहरी आस्था, समाज के प्रति कर्तव्यबोध और दानवृत्ति के गुण थे। ऐसे पितामह और पिता के रक्त से सन् 1894 यानी संवत् 1951 विक्रमी की रामनवमी के शुभदिन मात्र तीन हजार की आबादी वाले गाँव पिलानी (राजस्थान-शेखावाटी) में पितामह शिवनारायण बिड़ला द्वारा बनायी गयी हवेली में माँ योगेश्वरी देवी की कोख से जन्म लिया। माँ, अत्यंत सरल प्रकृति की, पति-समान कठिन जीवन-चर्या वाली, लेकिन धर्मभीरु।

घर-परिवार का इतना सम्पन्न होना, उनके बाल जीवन के लिए किसी तरह घातक सिद्ध नहीं हुआ। इसका कारण था उनके घर-परिवार की परंपरा। ''मेरे पितामह और पिता दोनों सरल प्रकृति के, ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले, धर्मभीरु थे। उनकी जीवनचर्या कठिन थी। एक तो वैसे ही मरुभूमि में रहने वालों का जीवन कष्टमय होता है, गर्मी में बेहद गर्मी, जाड़े में बेहद जाड़ा। पानी का अभाव, आये साल अकाल, ऊंटों की यात्रा, सब्जी और फलों का पूर्ण अभाव। सभ्य कही जाने वाली सभी चीजों से अलगाव···।''[19]

जी. डी. के लिए बचपन का वह जीवन उतना ही कठोर था, जितना कि अन्य राजस्थानी धनिकों का होता था। बचपन में वही अनुभव इन्हें मिले जो राजस्थान की परंपरा थी। इन्हें भी वही गर्मी, सर्दी और ऊंट मिले और वही घर-परिवार का कठिन अनुशासनात्मक जीवन।

''बचपन से ही सुबह पाँच बजे उठ जाने की मेरी आदत डाल दी गयी। सवेरे उठकर, निवृत होकर, दातून और स्नान से निबट कर, जो पहला काम करने के लिए पिताजी मुझे बाध्य करते थे, वह थी नित्य की पूजा। यह अनिवार्य थी। नौ साल का हुआ तब तो मुझे एक चन्दन का बोटा, चकला, ताम्री, पंच-पात्र,

19. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 12

विष्णुसहस्त्र-नाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला सौंप दिया गया था। सुबह सात बजे, कि आसन पर बैठ गये, पिता और पितामह के साथ। पहले चन्दन-केशर साथ में घिसकर तिलक लगाओ और उसके बाद विष्णुंसहस्त्र-नाम का पूरा पाठ करो।''[20] और भी कई यम-नियम माता-पिता से मिले। कभी बीमार हो गया तो पिताजी महामृत्युञ्जय का जाप करवा देते थे और उसका संकल्प देना पड़ता था। ''ज्यादा बीमार हो गये तो सुन्दरकाण्ड का पाठ और अधिकाई करनी हो तो शतचण्डी। मैं नहीं कह सकता कि मेरी इन सभी चीजों में श्रद्धा थी। दुर्गासप्तशती का नित्य पाठ मैंने वर्षों किया, पर जब श्रद्धा हट गयी तो छोड़ दिया।''[21]

बाल्यकाल के ऐसे अनेक प्रभाव व्यक्ति के जीवन-पथ पर अंत तक साथ देते हैं। उनका प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं होता, फिर भी व्यक्ति उन्हीं से प्रेरित होता है। बालक घनश्याम का घर-परिवार शुद्ध सनातनधर्मी.था। हिन्दू-समाज के बाह्य आचार-विचार और क्रियाकर्म के बंधनों को केवल मानता ही नहीं था, उन पर पूरा विश्वास भी करता था। इस तरह किसी सीमा तक उनकें पितामह, पिता और बड़े भाई जुगलकिशोरजी आदि पूज्यजनों के हृदय में भारतवर्ष के प्रति प्रबल श्रद्धा की भावना थी। ये पूज्यजन 'हिन्दुत्व' को उसकी पूरी व्यापकता और उदारता में लेते थे। उनमें कहीं भी किसी तरह की संकीर्णता, अंधविश्वास का स्थान न था। इनमें सामाजिक, सामुदायिक कर्तव्यपरायणता का भाव सुदृढ़ था। इनका अडिग विश्वास था कि इसके बिना न कोई घर-परिवार टिक सकता है न कोई देश और समाज। यह विश्वास जी. डी. को अपने पिता से मिला कि सामुदायिक कर्तव्यपरायणता से ही सामुदायिक राष्ट्रीयता की प्रेरणा मिलती है। उस सामाजिक-सामुदायिक कर्म संस्कारों से बाल्यकाल में ही घनश्याम को बड़ा उत्साह मिला। वह उत्साह-भाव यह था कि सेवा और प्रेम जीवन के महानतम संस्कार हैं, उनका पूर्ण विकास हमारी आंतरिक प्रकृति में ही होता है। वह जब व्यवहार में किया जाता है तभी सत्य होकर हमारे सामने आता है। बालक घनश्याम ने 1900 एवं 1901 के भयंकर अकाल में अपने पिता की कर्तव्यपरायणता देखी

20. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 15
21. वही, पृष्ठ 16 .

थी, "मेरे पिताजी ने लोगों को काम देने के मतलब से कई जगह कच्चे तालाब और कुओं की मरम्मत करवानी शुरू की।"

उस दुर्भिक्ष में बाहर से पिलानी में जो कोई भी दीन-दुखी आया, बिड़ला हवेली के सदाव्रत से उसे अन्न जरूर मिला। "क्षुधा की पीड़ा का वह रोमांचकारी दृश्य मैंने बचपन में ही देखा था। मैं उस समय केवल पाँच साल का था, पर मेरे चारों ओर क्या हो रहा है, इसका मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगों का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोपड़ियों का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफी चोट की।"[22]

इस तरह जीवन के सुख-दुख, भाव-अभाव, अकाल-सुकाल, जीवन-मृत्यु, रंग-बिरंग को इतनी गहन संचेतना से देखने और अनुभूत करने की सहज क्षमता ने बारह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते किशोर घनश्याम को इतना संवेदनशील बना दिया कि सब में रहते हुए सबसे अलग 'देखने' लगे।

'देखना' और कर्म-पथ पर चलना, इस व्यक्ति-बीज का जन्म यहीं से होता है। बचपन के देखे हुए सारे जीवन-दृश्य एक ऐसे अति संवेदनशील बालक के मानस-पटल पर पड़े थे, जहाँ कि छाप अमिट थी। बाहर सब कुछ देखने वाली आँख के साथ अंतस् में उसे अनुभूत करने वाली दृष्टि खुल गयी। जीवन-दृश्यों की छाप किसी साधारण मन पर नहीं, बल्कि दर्प से भरे हुए, स्वप्निल, महत्वाकांक्षी किशोर हृदय पर पड़ रही थी। इससे एक ऐसे जिज्ञासु चित्त का उदय हो रहा था, जिसके लिए देखना और अनुभव करना, दोनों एक साथ सहज था। कुल-परंपरा की मर्यादा, घर-परिवार, माता-पिता, पितामह-प्रपितामह के प्रति आदर-प्रेम ने उन्हें वह सुदृढ़ भूमि दी, जहाँ से उन्हें अदम्य आत्मविश्वास प्राप्त हुआ। धर्म में निष्ठा, ईश्वर में श्रद्धा ने उन्हें यह कर्मभूमि दी जहाँ उन्होंने महात्मा गांधी जैसे युगपुरुष के साथ पुत्रवत् भूमिका अदा की। एक बार अपने परिवेश में क्षुधा की पीड़ा का जो रोमांचकारी दृश्य बचपन में देखा, उसका ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि अबाध उत्साह युक्त उद्योग से वह पुरुषार्थ करने निकल पड़े जिससे भारतवासी अपनी गुलामी, क्षुधा दैन्य निराशा, गरीबी, बीमारी, अभाव, अपमान से मुक्त हो सकें।

22. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 31

उनमें 'देखने' की कैसी शक्ति थी ? ऐसा देखना कि संपूर्ण दृश्य स्मृति-पटल पर बन जाए, स्मृति-दृश्य।

स्वतंत्र प्रकृति
और
स्वतंत्रता की अभिलाषा

घनश्यामदास जी सुखी और सम्पन्न माता-पिता की संतान थे। उनके पितामह सही अर्थों में श्रेष्ठिजन का लोक सम्मान प्राप्त कर चुके थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का जमाना था वह। अजमेर और मऊ की छावनी में बड़े साहबों का निवास था और घनश्यामदास जी के पितामह का साहब लोगों से काफी संपर्क था। जब प्रपितामह स्वर्ग सिधारे तब घनश्यामदासजी के पितामह करीब सोलह साल के थे। मालिकों ने इस जवान लड़के को भी अपने पिता के स्थान पर नौकरी में आ जाने का प्रस्ताव किया, पर इनकी स्वतंत्र प्रकृति और उच्चाभिलाषा के कारण नौकरी ने इन्हें आकर्षित नहीं किया और अपना स्वतंत्र व्यापार करने वह बम्बई चले गये। ''बम्बई में मेरे पितामह ने सात साल लगातार परिश्रम और ईमानदारी से व्यवसाय किया और फलस्वरूप कुछ धन-संचय भी किया। सात साल के बाद जब वह पिलानी वापस लौटे तो संचित धन से पहली बुनियाद हवेली की डाली और साथ ही एक कुएँ और एक शिवालय की भी।

''भगवान को भोग लगाकर खाना चाहिए, यह उनका सिद्धान्त था। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः— यह उपनिषद् का वाक्य उन्होंने नहीं पढ़ा था, पर उनका विश्वास था कि भोग लगाकर खाने से भगवान खाने वाले का भला करते हैं।''[23]

प्रथम यात्रा का संचित धन प्रायः हवेली, कुँए और शिवालय में लगाकर उन्होंने फिर बम्बई प्रस्थान किया। कुछ साल बाद उन्होंने अपनी स्वतंत्र दूकान सराफा-धंधे की खोल दी।

एक ओर यम-नियम दूसरी ओर स्वाधीनता-बोध, ये चारित्रिक गुण विरासत में मिले जी. डी. को।

23. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 11

रक्त में इन संस्कारों के साथ जब बालक घनश्यामदास पिलानी गाँव की पाठशाला में गये, तब वह जगह उन्हें 'अद्‌भुत' लगी। "एक पुरानी टूटी-फूटी मंडी में एक गुरु पचासेक लड़कों को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान में धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के बिछात के, बैठाकर पढ़ाते थे··· ।"[24]

शिक्षा की जड़ से उखड़ा हुआ वह पाठशाला, गुलामी से टूटा-फूटा हुआ वह विद्या अनिकेत, गुलाम समाज के अपढ़, संस्कारहीन, चरित्रहीन अध्यापक, सबकुछ "अजीब सी कथा।"

दादाजी और पिताजी को चिंता हुई घनश्याम के शिक्षण की। नया प्रबंध क्या हो, इस उधेड़-बुन में पड़कर बड़ी खोजखाज के बाद "बेंत के जोर से पाठशाला चलाने वाले" एक-से-एक विचित्र अध्यापकों से सामना हुआ। इसी से यह अनुमान हो गया कि यहाँ विद्या कहीं नहीं है। पिलानी से कलकत्ते ले जाए गये। कुल नौ साल की उम्र, कलकत्ते में विशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय में उन्हें दाखिल करवा दिया। पढ़ाई के नाम पर आठ-दस किताबें खरीदकर दे दी गयीं।

"यह मेरे लिए अत्यंत स्वतंत्र अनुभव था। कहाँ मैं गाँव-गंवई का लड़का और कहाँ कलकत्ते के स्कूल का यह अद्‌भुत वातावरण। दसियों अध्यापक, कई क्लासें, सैकड़ों लड़के, यह सब मुझे दिलचस्प तो लगा, पर भयावना भी लगा। लड़के भी कलकतिये, इसलिए गाँव के लड़कों से भिन्न अलग वेश-भूषा। भाषा भी हिन्दी-मिश्रित। इन सबको मैं पचा नहीं पाया। खैर मैं स्कूल में दाखिल तो हो गया, पर मन वहाँ चिपटा नहीं। इसलिए धीरे-धीरे स्कूल से ग़ैरहाज़िर होने लगा।"[25]

यहीं जाना
स्वतंत्रता क्या है ?

गुलामी के स्कूल में न जाकर दिनभर कलकत्ते की गलियों में घूमना और किशोर मन से अनुभव करना कि समय बदल गया, शिक्षा सरकारी हो गयी।

24. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 34
25. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 3८

हमारे देश की शिक्षा जनशिक्षा थीं। उसके पीछे कभी कोई कानून नहीं रहा, कोई जबरदस्ती नहीं रही। उसका स्वतः संचार घर-घर में होता रहा, जैसे सारे शरीर में रक्त प्रवाहित होता है। पर यह कैसी शिक्षा, जिसका आरंभ कलकत्ते शहर से होता है ? व्यवसाय और नौकरी उसके पीछे-पीछे बँधे से चलते हैं। यह शिक्षा गुलामी सिखाती है। यह रेलगाड़ी के डिब्बे में जलने वाले बिजली के बल्ब की तरह है : डिब्बे में रोशनी है, पर जिस प्रदेश से रेलगाड़ी गुजर रही है, वह सैकड़ों मीलों तक अंधकार में लुप्त है। कारखाने में बनी रेलगाड़ी ही सत्य है और अंधकार, अकाल, भूख से त्रस्त समस्त भारत देश अवास्तविक है।

मुझे नहीं चाहिए ऐसी शिक्षा।

मैं ऐसे मास्टर या अध्यापक से भी नहीं पढ़ूँगा।

इसलिए "एकमात्र उपाय था स्वयं पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना।" इसलिए "जितना पढ़ा, उससे हजम कुछ ज्यादा किया। जो पढ़ता, उस पर अपनी स्वतंत्र राय भी कायम करता।"[26]

कलकत्ते की उन्हीं गलियों में स्वाधीनतापूर्वक घूम-घूम कर घनश्याम ने पढ़ा, जाना, देखा कि स्वतंत्रता क्या है ? कहाँ है ? और किससे मुक्त होने में है ?

शहर निवासियों के एक वर्ग को मिल गयी सरकारी शिक्षा और वे कहलाने लगे शिक्षित। स्कूल के बैंच पर बैठकर जिन्होंने अंग्रेजी के सबक दोहराये उनकी आँखें अंग्रेजियत से चकाचौंध हो गयीं, और शेष गुलाम भारत देश के असंख्य गाँव उनकी आँखों से ओझल हो गये। गाँव, जहाँ रोग, अकाल और अज्ञान जमा हो गये, जहाँ न पीने को पानी है न चलने को रास्ते।

कलकत्ते की उन सड़कों और गलियों में "दिनभर चक्कर काट कर" घनश्यामदासजी ने अनुभव किया कि परतंत्रता और स्वतंत्रता के बीच का अंतर कितना है ? भारत देश में अंग्रेजी शिक्षा की ऐसी घातक छुरी अब तक कभी नहीं चलाई गयी थी। ऐसा शिक्षण "छात्र की स्वतंत्र बुद्धि को नष्ट कर देता है और उसे गुलाम बना देता है।"[27]

27. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 43

गुलामी का बुनियादी लक्षण क्या है? यह प्रश्न घनश्यामदासजी ने उसी कलकत्ता में अपने आप से किया। पिलानी से लेकर कलकत्ते तक उन्होंने देखा कि जनशिक्षा के सभी सहज मार्ग लुप्त हो गये हैं और सभी दिशाओं में हीनता का विकास हुआ है। शिक्षा के नाम पर सरकारी अध्यापक जो पढ़ा देता है, बिना समझे-बूझे वही रट लिया जाता है— यही है गुलामी का बुनियादी लक्षण। इस गुलामी से लड़ने का बुनियादी हथियार क्या है? इसका उत्तर घनश्याम ने आत्म-विवेक के स्तर पर प्राप्त किया। उन्होंने विचार को बुनियादी हथियार के रूप में पाया। कोई भी विचार हो, अपना या दूसरे का, पुराना या नया, उस के प्रति स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय लेना ही स्वाधीनता की चेतना है। "विचार का स्वतंत्र निर्णय करें, स्वतंत्रतापूर्वक उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर स्वतंत्र निर्णय करें"[28] यही है स्वाधीनता की बुनियाद, वह बुनियाद जहाँ से व्यक्ति किसी भी कर्म का शुभारम्भ करता है। उसी स्वतंत्र चित्त और आत्म-विवेक से घनश्याम ने देख लिया कि शहर की वह विद्या, वहाँ की नौकरी-चाकरी, उद्योग-धंधे अपने देश-समाज के वातावरण से विच्छन्न हैं। स्कूल के बाहर देश है, फैक्टरी और कार्यालयों के बाहर भारतदेश है। दोनों में कोई सहयोग नहीं, बल्कि विरोध है। इस विच्छेद के कारण हमारे कर्म और विचार बुद्धि में साहस और उत्साह की इतनी कमी है।

परतंत्रता
अपमानजनक

ऐसी प्रबुद्ध मानसिकता के साथ सोलह साल की आयु में अब घनश्याम ने कलकत्ते में अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू कर दिया। उस व्यवसाय के सिलसिले में अनिवार्य रूप से उनका अंग्रेजों से सम्पर्क बढ़ा। "इस सम्पर्क से मुझे अंग्रेजी का ज्ञान बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला। मेरा शब्द-कोश समृद्ध होने लगा। नये-नये मुहावरे भी आने लगे और उच्चारण भी सुधरने लगा। पर केवल भाषा तो विद्या नहीं है। महत्वपूर्ण विषयों का अभाव मुझे खटकने लगा। जब विदेशियों से बात करता, और वे लोग किसी विषय की चर्चा करते तो मैं अपने को गहरे

28. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 45

सागर में पाता। 'हंसमध्ये बको यथा' जैसी अपनी हालत देख कर मुझे शरम और परेशानी सताने लगी।''[29]

इसका मुकाबला करने के लिए घनश्यामदासजी के पास एकमात्र उपाय था— पुस्तकों के अध्ययन का और अपनी स्वतंत्र राय कायम करने का। उस विवेक से वह स्पष्ट देख रहे थे कि समाज की अवस्था के दैन्य से और अशिक्षा की आत्मग्लानि से भारतीयों का मन कहीं नीचे न झुक जाए, बल्कि किसी तरह ऊपर उठ सके, यही चिंता चल रही थी उनकी। और अपना स्वतंत्र व्यवसाय भी चल रहा था कलकत्ते में।

दलाली के व्यवसाय में अंग्रेजों से सीधा सम्पर्क हुआ। अंग्रेजों के अनुशासन और संगठन-शक्ति से वह जितना ही प्रभावित हुए, उतना ही पराधीनता के कारण भारतीय समाज और व्यक्ति में चारित्रिक बिखराव के प्रति उन्हें चिंता होनी शुरू हुई।

व्यवसाय के उस अंग्रेजीकाल में यह नियम चल रहा था कि हर कोई व्यापारी सीधे अंग्रेजी मिलों से माल नहीं खरीद सकता था। मिलों के मालिकों ने उन व्यापारियों की एक लिस्ट बना रखी थी, जिन्हें वे माल बेचते थे। सन् 1911 में किसी भी ऐसे व्यक्ति का नाम लिस्ट में नहीं था, जिससे घनश्यामदासजी अपने दलाली के व्यवसाय में सहयोग ले सकें। इसलिए उन्हें अपने काम में सीधे अंग्रेजों से ही सम्पर्क करने की अनिवार्यता हुई।

उस समय व्यवसाय के समय भी घनश्यामदासजी की वेशभूषा शुद्ध भारतीय थी। उसी वेश में वह 'ब्रिटिश जूट स्टर्लिंग कंपनी' के दफ्तर में पहुँचने के लिए लिफ्ट के अंदर दाखिल हुए। उस दफ्तर में सूटबूट धारी अंग्रेज साहब भी थे। वह लिफ्ट केवल अंग्रेजों के ही लिए थी। लिफ्ट के अंदर अंग्रेज गुस्से से घनश्यामदासजी की ओर देखता रहा। ऊपर पहुँचकर जब उन्होंने कहा कि उन्हें इस कंपनी के अफसर से मिलना है तो उन्हें बाहर इंतजार करने को कहा गया और बैठने के लिए उस बेंच की ओर इशारा किया गया, जिस पर साहब के चपरासी बैठते थे। घनश्यामदासजी वहाँ बैठे नहीं, खड़े ही इंतजार करते रहे। फिर उनसे कहा गया कि साहब उनसे नहीं मिलना चाहता और बेहतर यही होगा कि

29. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 41-42

वे दफ्तर से बाहर न्किल जाएँ। अपमानित घनश्यामदासजी सीढ़ियों से उतरकर दफ्तर से बाहर आ गये। मौन प्रतिज्ञा ली कि दलाली का काम छोड़ देंगे, ताकि वह कभी किसी अंग्रेज द्वारा इस तरह अपमानित न हों।

यह अपमान संभवतः नियति का अनुग्रह था। ठीक उसी तरह जैसे दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के गाल पर लगाया गया एक अंग्रेज का तमाचा। यह अपमान और वह तमाचा दोनों ही इतिहास को मोड़ने वाली घटनाएँ हैं। अंग्रेजों के व्यावसायिक दफ्तर में घनश्यामदासजी का अपमान हुआ। यह अपमान बीज बन गया एक विराट व्यावसायिक वृक्ष का, जिसकी शाखाएँ संसार भर में फैल गयीं।

जिस क्षण घनश्यामदासजी को ब्रिटिश जूट स्टर्लिंग कंपनी के दफ्तर से निकाला गया था, उस समय वह केवल पटसन और बोरियों के एक दलाल मात्र थे। लेकिन यह सब अब भूल जाना पड़ेगा। अपमान-जैसे भावावेश ने उनके भीतर एक शक्ति को उत्पन्न किया। उस शक्ति का निष्कासन चाहिए। निष्कासन दो ही तरह से हो सकता है—एक, नकारात्मक रास्ता—अपमान की प्रतिक्रिया। दूसरा, सकारात्मक रास्ता, अपमान का सृजनात्मक उपयोग।

घनश्यामदासजी को विरासत में मिला था कि यदि बीमार हो गया तो सुंदरकांड का पाठ करो। उससे चित्त भावावेश होने से बचता है। घनश्यामदासजी ने वही किया, अंग्रेज अपमान का सृजनात्मक सदुपयोग। उन्होंने संकल्प किया कि वे गुलाम भारत की ओर से अंग्रेजों को उन्हीं के स्तर पर समुचित उत्तर देंगे। इसके लिए अदम्य उत्साह, आत्मविश्वास और अंग्रेजों के अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक था। इसलिए उनहोंने तिलक का 'गीता रहस्य', दयानंद सरस्वती का 'सत्यार्थ प्रकाश' और एडम स्मिथ का 'द वैल्थ आफ़ नेशंस' पूरे ध्यान से पढ़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने कार्ल मार्क्स, रूसो, थॉरो, टाल्स्टाय, सुकरात, प्लेटो, आरिस्टाटल, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, डिकेंस आदि का गहन अध्ययन किया। उन्हें अंग्रेजों के अधीन भारत में उद्योग-धंधों की स्थिति की सच्चाइयाँ हाथ लगीं। उन दिनों उद्योग-धंधों की गति बहुत धीमी थी। लोगों का ध्यान फिर भी उस ओर गया। लेकिन देश में गरीबी और बेकारी की समस्या सुलझ नहीं रही थी। बहुत सारे बेकार या आधे-बेकार लोग मजदूरों के रूप में उद्योग-धंधों की दुनिया में आ रहे थे। लेकिन यह परिवर्तन इतना धीमा था कि भारत के बढ़ते हुए देहातों पर इसका

कोई प्रभाव नहीं हुआ। व्यापक बेकारी और जमीन पर दबाव का परिणाम यह हुआ कि मज़दूर बहुत बड़ी संख्या में, अपमानजनक स्थितियों में भी काम करने के लिए विदेशों में जाने लगे। वे दक्षिण अफ्रीका, फीजी, ट्रिनिडाड, जमेका, गायना, मारीशस, लंका, बर्मा और मलाया गये। देश में तब बेकारी की बुनियादी समस्याएँ ज्यों-की-त्यों रहीं। घनश्यामदासजी ने देखा कि लेन-देन का सारा आधिपत्य इंपीरियल बैंक के अंग्रेज अधिकारियों के हाथ में है। पटसन ले जाने वाले सारे जहाज अंग्रेजों के हैं।

घनश्यामदासजी के हृदय और मस्तिष्क दोनों में यह प्रश्न उठा कि पराधीन भारत में फिर क्या है ? इसी प्रश्न से उनमें राजनीतिक चेतना बलवती हुई। उस समय मुख्यतः बंगाल और सामान्यतः पूरे भारत देश में नवजागरण की जो लहर उठी थी और जिसके भीतर से स्वतंत्रता संग्राम की जो राजनीतिक चेतना उभर रही थी उससे स्वभावतः घनश्यामदासजी पूर्णतः प्रभावित और प्रेरित हुए।

स्वतंत्रता संग्राम
में
व्यक्ति की भूमिका

भारतीय पुनर्जागरण की जितनी भी धाराएँ उस देश-काल में प्रवाहित हुईं, उन सब के बीच से घनश्यामदास का युवा मानस गुजरा। घर-परिवार की सनातन धर्मी परंपरा और आर्यसमाज दोनों ही पुनर्जागरण की राजनीतिक चेतना की धारा से उन्हें जोड़ रही थी, जिसे हिन्दुत्ववादी विशेषण से सम्बोधित किया जा सकता है। ऐसे ऐतिहासिक क्षणों में घनश्यामदास ने प्रश्न किया था कि मुझ जैसे व्यक्ति की भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्या भूमिका हो सकती है ? क्या इतिहास में व्यक्ति की कोई भूमिका है ? है, तो क्या है ? इसका उत्तर उन्हें मिला था— ''स्वतंत्रता सदा किसी चीज से स्वतंत्रता है। जहाँ स्वतंत्रता सीमा के विरोध में नहीं सोची जाती, वहाँ वह निरर्थक है।''[30]

निस्संदेह बात ऐसी ही थी। अंग्रेजी राज जैसी पराधीनता की सीमा और क्या हो

30. जी.वी. प्लेखनोव का निबंध, 'इतिहास में व्यक्तिं की भूमिका', सन् 1898 में सबसे पहले प्रकाशित हुआ था, पृष्ठ 12, पी.पी. एच., नई दिल्ली।

सकती थी। दूसरा प्रश्न, व्यक्ति-संदर्भ में विरोध करने का साधन और शर्त क्या है? इसका भी उत्तर घनश्यामदास जैसे जिज्ञासु व्यक्ति को अपने भीतर मिला। किसी विशेष प्रकार की प्रतिभा का धनी कोई व्यक्ति अपने चारित्रिक गुणों और साहस के जोर से घटना-क्रम पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सके, इसके लिए खास एक ही शर्त है कि वह प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी एक ऐसे व्यक्ति विशेष से जुड़े जो गुणों और प्रतिभा से उससे भी कई गुणा अधिक और विशिष्ट हो, जो अपने चरित्र के प्रभाव से उस व्यक्ति को उससे ऊँचा आकार दे, उसे समय की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाये।

घनश्यामदासजी अपनी उसी अंतरात्मा की आवाज को पहचान कर उसी 'विशेष व्यक्ति' की तलाश और उसके योग में निकले। उस पथ पर उनकी पहली भेंट हुई बंकिम बाबू की आनन्दमठ में निहित क्रान्तिकारी धारा के आतंकवादी बिपिन गांगुली से।

प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका और देवीदत्त जालान जैसे उत्साही नवयुवकों के साथ 1911 में चौरंगी में म्यूजियम के सामने एक राष्ट्रीय क्लब की स्थापना की, जो शुरू में 'मारवाड़ी क्लब' कहलाया और बाद में जिसका नाम 'राजस्थान क्लब' कर दिया गया। इसमें मारवाड़ी युवकों को हथियार चलाना सिखाया जाता था। व्यायामशाला भी थी। आगे चलकर 1918 में इस युवक मंडली ने 'बड़ा बाजार यंग मैन एसोसियेशन' नामक और संस्था बनायी जो बाद में 'बड़ा बाजार युवक संघ' के नाम से जानी गयी।

कलकत्ता के इन मारवाड़ी नवयुवकों पर उस समय के कांग्रेस के गरम दल की विचारधारा का बहुत प्रभाव था। मारवाड़ी युवकों की व्यायामशाला से उस समय की उग्रवादी चेतना का सहज ही संपर्क जुड़ा। युवकों में यह जोश पैदा होने लगा कि देश की आजादी के लिए कोई शक्तिशाली आंदोलन चले। आतंकवादी बिपिनचन्द्र गांगुली जैसे कुछ बंगाली भी व्यायामशाला में आने लगे। उस व्यायामशाला के प्रमुख सदस्य थे प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया, ओंकारमलजी सर्राफ, कन्हैयालालजी चितलांगिया और फूलचंदजी चौधरी। यह सारे मित्र घनश्यामदासजी को अपने नेता के रूप में देखते थे। घनश्यामदासजी आतंकवादी नहीं थे, मगर देश की आजादी के लिए उनमें उत्साह था। व्यायामशाला केवल व्यायाम तक सीमित नहीं रही। वहाँ ऐसी गोष्ठियाँ भी

होने लगीं, जिनमें राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर विद्वानों के व्याख्यान होते और परस्पर विचार-विमर्श किया जाता। हिन्दू राष्ट्रवाद से लेकर वामपंथी आतंकवाद तक भारतीय नवजागरण की सभी धाराएँ घनश्यामदासजी के मानस में बहने लगीं।

घनश्यामदासजी की प्रेरणा से दो मार्च सन् 1913 को काटन स्ट्रीट स्थित जोडा कोठी की एक सभा में जुगलकिशोरजी बिड़ला, ओंकारमलजी सर्राफ, हरखचंदजी मोहता आदि समाजसेवकों के प्रयत्न से 'मारवाड़ी सहायता समिति' की स्थापना की गयी। कालांतर में इसका नामकरण 'मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी' कर दिया गया।

उस समय मारवाड़ी समाज बाल-विवाह, मृत्यु-भोज, पर्दा-प्रथा, नारी-शिक्षा की ओर उदासीन था और तमाम पुरानी रूढ़ियों का शिकार था। समाज के तत्कालीन कर्णधार, जिनके दल को उस समय 'चपकनिया पार्टी' कहा जाता था, किसी प्रकार के सुधार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी सक्रिय संस्था का नाम था, 'मारवाड़ी एसोसिएशन'। उस संस्था को बंगाल कौंसिल और सेंट्रल असेंबली में अन्य दो संस्थाओं के साथ अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इसी के विरोध में प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, घनश्यामदासजी बिड़ला, बैजनाथजी कोडिया, फूलचंद चौधरी, नागरमलजी मोदी तथा ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया आदि नवयुवकों की एंक टोली तैयार हुई। समाज-सुधार का दावा करने के पहले इस टोली के सदस्यों ने स्वयं आत्मसुधार का संकल्प लिया, जिसमें नित्य प्रातःकाल उठना, स्वाध्याय करना, कुछ-न-कुछ परहित का काम करना और स्वास्थ्य निर्माण के लिए नियमित व्यायाम करना, इन चार प्रमुख नियमों का पालन किया जाना अनिवार्य था। सूर्य-ग्रहण आदि पर्वों पर यह टोली स्वयंसेवकों का काम क़रती थी। ऐसे मेलों पर कभी-कभी सारी रात जागकर काम करना पड़ता था।

देश की आजादी के लिए उनमें इतना उत्साह था कि वह इस दिशा में किसी भी राजनीतिक धारा के कार्यकर्ता से मिलने-जुड़ने के लिए तत्पर हो जाते। "इन दिनों एक बार आतंकवादियों से सम्बद्ध हो जाने के कारण मुझे काफी परेशानी उठानी पड़ी और लगभग तीन महीने गुप्तवास में रहना पड़ा। कुछ सहृदय मित्रों के हस्तक्षेप से ही मैं जेल जाने से बच सका।"[31]

31. कुछ देखा : कुछ सुना, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 53

उन दिनों कलकत्ता के नवयुवकों पर कांग्रेस के गरम दल के प्रवक्ता बालगंगाधार तिलक का बड़ा प्रभाव था। तिलक ने 1916 में अपने बंगाल के दौरे के समय ही प्रभाव डाला था। उनके आगमन से बड़ा बाजार के अंचल में उग्रवादी राजनीति को बढ़ावा मिला और युवकों में यह जोश पैदा हुआ कि देश की आजादी के लिए कोई शक्तिशाली आन्दोलन चले। जब 1920 में तिलक का निधन हुआ तब बड़ा बाजार में शोक की लहर दौड़ गयी और मारवाड़ी युवकों ने बड़ा बाजार से लेकर गंगाघाट तक शोकयात्रा निकाली। 'तिलक स्मारक निधि' के लिए घनश्यामदासजी ने जमनालाल बजाज के साथ आगे बढ़कर काम किया।

युवा घनश्यामदास ने स्पष्ट और निश्चित रूप से यह अनुभव किया कि अंग्रेजों द्वारा शासित और पददलित भारत को फिर से उसके पैरों पर खड़ा करने के लिए एक ही साथ कई मोर्चों पर लड़ाई छेड़नी होगी। इनमें आर्थिक-औद्योगिक मोर्चे का विशेष महत्व होगा। उद्योग-व्यापार की शक्ति से सोया हुआ देश-समाज ही नहीं जगेगा, बल्कि उससे प्राप्त धन-शक्ति का उपयोग स्वतंत्रता संग्राम के कई मोर्चों पर होगा। उस समय पुरातनपंथी मारवाड़ी समाज उद्योगों में जाने के विरुद्ध था। इस क्षेत्र में अंग्रेजों से लोहा लेना उनके लिए कठिन था। दूसरी बात यह कि वह समाज सट्टा, फाटका खेलकर अथवा कमीशन पर अंग्रेजों की बैनियनशिप (मुसद्दीगिरी) करके संतुष्ट था, साथ ही बंगाल की सामंती मानसिकता, भोग-ऐश्वर्य के जाल में फँसा था। उस समाज को यह पूरी चेतना अब तक नहीं थी कि भारत का सबसे बड़ा जमींदार अंग्रेज है।

घनश्यामदासजी अंग्रेजों के अपमान से 'तिलमिलाकर' चुप बैठने वाले नहीं थे। "इसी ठेस ने मेरे भीतर राजनैतिक दिलचस्पी पैदा की"— इसी चेतना से उन्होंने अपने चारों तरफ के लोगों को कहना शुरू किया कि भारत की औद्योगिक प्रगति पुरानी रूढ़ियों को तोड़े बिना सम्भव नहीं है। जो लोग कला-कौशल के कामों को नीच समझते हैं, उद्योग-धंधों में काम करने वालों से घृणा करते हैं, उन्होंने उनकी आलोचना की और कहा कि वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा आदि के बंधन तोड़कर लोगों को औद्योगिक उन्नति में शक्ति लगानी चाहिए। धरती में सोने-चांदी का गाड़ना, गहना बनाना, पूँजी को ब्याज-भाड़े पर चढ़ाते हैं वे आलसियों के दादा गुरु हैं। रतनगढ़ (शेखावाटी) में लोगों ने धर्मशालाएँ बनवायीं। सब खाली पड़ी रहती हैं। जंगल में मंदिर बनवाये, चोरों और जुआरियों

को लाभ हुआ। पंडों-पुजारियों को भोजन कराने और दक्षिणा देने से पूँजी नष्ट होती है। भारत में धर्म के ध्वजाधारियों की कमी नहीं, लाखों-करोड़ों आदमी भूख से प्रतिवर्ष मरते हैं, कहीं भी इन धर्म के ढोंगियों का एक भी यथोचित औषधालय या विद्यालय, कला-कौशल सीखने का प्रबंध नहीं दीख पड़ता। समाज में जो लोग प्रतिष्ठित हैं, वे सदा प्रतिष्ठा के योग्य नहीं हैं। धर्म-नेता ठगी-जाल डालने का ज्ञान बघारते हैं। ऐसा लगता है, ईश्वर, वैकुण्ठ एवं धर्मग्रंथ मानो थोड़े-से लोगों के हाथ बिक चुके हैं, राजनीति ऐसी है कि हाथी के खाने के दाँत अलग और दिखाने के दाँत अलग हैं। नतीजा यह है, वास्तविक ब्राह्मण, विद्वान सदाचारी को शूद्र और ठग, बेईमान, हरामखोरों को द्विजदेव कहते हैं और भक्षक को रक्षक और रक्षक को भक्षक जानते हैं। फिर कल्याण कैसा और कहाँ ?''

अपने व्यक्तिगत उत्साह और उद्यमों से जिन मोर्चों पर घनश्यामदास अंग्रेजों से लोहा ले सकते थे, उस दिशा में वह पूरे संकल्प के साथ अग्रसर होने के लिए तत्पर थे। उस दिशा में सब कुछ करने के लिए उन्होंने भीतर-बाहर से पूरी तैयारी भी कर ली थी। बस, आँखें ढूँढ़ रही थीं उस विशेष व्यक्ति को, जो उनके लिए उनका आदर्श व्यक्ति हो— जो सचमुच उस समय का युगपुरुष हो।

घनश्यामदास बिड़ला नामक व्यक्ति के लिए वह युगपुरुष थे— मोहनदास करमचंद गांधी।

दूसरा भाग

स्वतंत्रता के लिए

पहला अध्याय

महात्मा गांधी से भेंट

घनश्यामदासजी के जीवन में स्वतंत्रता आन्दोलन के बीज अंकुरित हो चुके थे। उनके हृदय में स्वराज के सपने भी बनने लगे थे।

यह समय ऐसा था जब देश की राजनीति उतार पर थी। कांग्रेस दो भागों में बँट गयी थी— एक था गरम दल और दूसरा था नरम। उसके साथ-साथ युद्धकालीन रुकावटें और पाबंदियाँ भी थीं। दूसरी ओर लड़ाई के दौरान उद्योग-धंधे बढ़ रहे थे और उनमें बहुत ज्यादा मुनाफा हो रहा था। बंगाल की जूट मिलों में सौ फीसदी से लेकर दो सौ फीसदी तक सालाना मुनाफा हो रहा था। इस मुनाफे के कुछ हिस्से से भारतीय लखपति, करोड़पति हो रहे थे।

घनश्यामदास बिड़ला, जिन्हें अब उनके मित्र जी. डी. कहने लगे थे, इस समय के उस मर्म बिंदु को देखने लगे थे जहाँ समूची आर्थिक स्थिति पर एक औपनिवेशिक पिछड़ेपन की गहरी छाप थी। वे अनुभव कर रहे थे कि भारतीय उद्योगों की स्थापना के कार्य को ब्रिटिश उद्योगपति बिलकुल सहन नहीं कर पा रहे थे। वे हर तरह का भरसक विरोध उत्पन्न कर रहे थे। इस चुनौती का पहली बार जमशेदजी टाटा, बालचंद हीराचंद और घनश्यामदास बिड़ला ने मुकाबला किया। यह समय आर्थिक पृथक्तावाद का था। जिस तरह भारतीय रेलों में अलग-अलग श्रेणियाँ (क्लास) अंग्रेजों ने बनायी थीं, उसी तरह का विभाजन उन्होंने समूची अर्थव्यवस्था में पैदा कर दिया था। इसी पृथक्तावाद को अफ्रीका में गांधीजी ने पहली बार अनुभव किया। गांधीजी ने उसके अंत के लिए लड़ाई छेड़ी। इसी के समानांतर भारत में भी अंग्रेजों ने दो श्रेणियाँ बनायी थीं— एक अंग्रेज मालिक और दूसरा भारतीय नौकर। गांधीजी की तरह ही घनश्यामदासजी ने भी इस अपमानजनक स्थिति को अच्छी तरह पहचान लिया था। इसी पहचान ने उनमें

यह विश्वास भर दिया कि जब तक वह अपना उद्योग न लगा लें, उनका स्वाभिमान आहत ही रहेगा।

कलकत्ता में उनकी मित्रमंडली पर भारतीय राजनीति के गरम दल का प्रभाव बढ़ रहा था। घनश्यामदासजी स्वयं तिलक और लाला लाजपतराय जैसे नेताओं के प्रति आकृष्ट थे। गरम दल के प्रभाव से उनकी बिपिन गांगुली से दोस्ती बढ़ी। साथ ही इनके कानों में कर्मवीर गांधी का नाम गूँजने लगा था। गांधीजी से मिलने का शुभ-संयोग भी उन्हें शीघ्र मिला।

यह 1914 का अंत था या 15 का प्रारंभ, लेकिन निश्चित रूप से वह जाड़े का समय था। लंदन से गांधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ता आने की उनकी तैयारी थी। यह खबर सुनकर कलकत्ता के उस समय के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के मन में उत्साह उमड़ पड़ा।

घनश्यामदासजी ने तब बीस की आयु पूरी की थी। ''पाँच सवारों में अपना नाम लिखाने की चाह लिए मैं भी फिरता था। मेलों में वालंटियर बनकर भीड़ में लोगों की रक्षा करना, बाढ़-पीड़ित या अकाल-पीड़ित लोगों की सेवा के लिए सहायता-केन्द्र खोलना, चंदा माँगना और देना, नेताओं का स्वागत करना, उनके व्याख्यानों में उपस्थित होना, यह उन दिनों के सार्वजनिक जीवन में रस लेने वाले नौजवानों के कर्तव्य की चौहद्दी थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इस चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी। मेरी भी यही चौहद्दी थी, जिसके भीतर रस और उत्साह के साथ मैं चक्कर काटा करता था।''[32]

इस समय अंग्रेज-सत्ता हरेक बगावत को कुचलने में तुली थी। शोषण की निर्दय प्रक्रिया से गरीबी बढ़ रही थी। भारतवासी बेबस हो गये थे, जिंदगी के अंधेरे में असहाय एवं लक्ष्यहीन बन रहे थे।

ऐसे समय में गांधीजी अफ्रीका से लंदन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे भारत का दौरा किया। कलकत्ता में भी इसी सिलसिले में उनके आगमन की तैयारी थी। गांधीजी ताजी हवा के एक प्रबल प्रवाह की तरह थे। वह रोशनी की उस किरण

32. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 17

की तरह थे, जो अंधकार को लील गयी और जिसने लोगों की आँखों के सामने से परदा हटा दिया।

गांधीजी के प्रथम-दर्शन ने युवक घनश्यामदासजी में कुतूहल पैदा किया। उन्होंने पहली ही नजर में जैसे उन्हें संपूर्ण रूप से देख लिया। ''एक सादा सफेद अंगरखा, धोती, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, नंगे पाँव, यह उनकी वेशभूषा थी। हम लोगों ने बड़ी तैयारी से उनका स्वागत किया। उनकी गाड़ी को हाथ से खींचकर जुलूस निकाला, पर स्वागतों में भी उनका ढंग निराला ही था। मैं उनकी गाड़ी के पीछे साईस की जगह पर खड़ा होकर 'कर्मवीर गांधी की जय' गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहा था। गांधीजी के साथी ने, जो उनकी बगल में बैठा था, मुझसे कहा, 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत–– ऐसा पुकारो। गांधीजी इससे प्रसन्न होंगे'। मैंने भी अपना राग बदल दिया।''[33]

घनश्यामदासजी ने उनके व्याख्यान सुने और यह अनुभव किया कि वह और नेताओं से एकदम भिन्न व्यक्तित्व वाले हैं। वह बिलकुल सीधे-सादे थे। उनके व्याख्यानों में एक तरह की नीरसता थी; न जोश था, न कोई अस्वाभाविकता, न उपदेश ही देने की व्यासवृत्ति, पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी, जो श्रोताओं पर छाप डाल रही थी।

कलकत्ता में उन्होंने कुल पाँच व्याख्यान दिये। एक व्याख्यान में गांधीजी ने कांग्रेस के बारे में कहा, ''यदि कांग्रेस ने और कुछ नहीं किया तो कम-से-कम इतना जरूर किया है कि उसने अपना गन्तव्य स्थान खोज लिया है और राष्ट्र के विचारों और प्रवृत्तियों को एक बिन्दु पर लाकर ठहरा दिया है। उसने भारत के करोड़ों निरीह और बेबस लोगों के दिलों में एक जागृति पैदा कर दी है। कांग्रेस ने भारतवासियों के विचारों और आकांक्षाओं को एक स्पष्ट राष्ट्रीय रूप दे दिया, जिसके द्वारा उन्होंने अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय-साहित्य कौ, अपने सर्व-सामान्य धंधों, कारीगरियों और कलाओं को, यहाँ तक कि अपनी सर्व-सामान्य आकांक्षाओं और आदर्शों तक को खोज निकाला है।''[34] सारे व्याख्यानों में श्रोता की हैसियत से घनश्यामदासजी ने भाग लिया। घनश्यामदासजी उनके विचारों से नहीं, बल्कि

33. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 18
34. कांग्रेस का इतिहास, पट्टाभि सीतारामय्या, पृष्ठ 18-19

उनके आचरण से अत्यधिक प्रभावित हुए। गांधीजी के उठने-बैठने का ढंग, उनका सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, इन सब चीजों ने घनश्यामदासजी पर एक मोहिनी सी डाल दी।

गांधीजी जब कलकत्ता से जाने लगे, घनश्यामदासजी ने पास आकर पूछा, "क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे खतो-किताबत हो सकती है?"

गांधीजी ने कहा, "हाँ।"

इसकी परीक्षा उन्होंने थोड़े ही दिनों बाद ली। उन्हें पत्र लिखा। उत्तर में तुरंत एक पोस्टकार्ड आया, जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की किफायत भी थी।

घनश्यामदासजी को पहले तो यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी दे सकता है, वह भी उनके जैसे एक अनजान और साधारण नौजवान को। उस पत्र से उन्हें बहुत प्रोत्साहन मिला। उन्होंने सहज ही एक जीवन-कसौटी प्राप्त कर ली कि मनुष्य के अत्यंत साधारण आचरण से पता चल जाता है कि उसमें सत्य कहाँ तक है। जो छोटी-छोटी बातों में सचाई का प्रयोग नहीं करता, जो अपने सारे आचरणों के संबंध में अव्यवस्थित है, ऐसे मनुष्य के जीवन से किसी बात की आशा नहीं करनी चाहिए। जीवन की भव्यता, उसकी सुंदरता की किरण व्यवस्था से ही फूटती है, अव्यवस्था से नहीं।

इसी बीच घनश्यामदासजी के मन में कलकत्ता से बाहर किसी सुरम्य स्थान में विश्राम के लिए एक छोटे-से घर की परिकल्पना आयी। फलस्वरूप उन्होंने रांची में एक जमींदारी खरीद ली। गौरीदत्तजी मंडेलिया को यह जमींदारी सँभालने का काम सौंपा गया। घनश्यामदासजी के जीवन में एक और प्रकाश उभरा। 18 सितंबर, 1916 को पिलानी में उनकी प्रथम संतान हुई। उस कन्या का नाम रखा गया— चंद्रकला।

इसी वर्ष वामपंथी देशभक्त बिपिन गांगुली से घनश्यामदासजी की दोस्ती ने एक भयंकर संकट खड़ा कर दिया। गांगुली का एक मित्र रोडा कंपनी में काम करता था। उसके पास विलायत से हथियारों की एक खेप आयी थी। उसने माल उतारते हुए हथियारों से भरी पेटियाँ कहीं छिपा दीं और बिपिन गांगुली के बताये

हुए पते पर उन्हें भिजवा दिया गया। एक पेटी में पिस्तौल थे, दूसरी में कारतूस। वास्तव में यह सारा सामान गांगुली के कब्जे में था। इससे पहले उसे यह खबर मिले कि पुलिस छापा मारने आ रही है, उसने कारतूस की एक पेटी घनश्यामदासजी के कमरे में छिपवा दी। उस कमरे से भी वह पेटी कहीं और भेज दी गयी। पेटी इधर-से-उधर जाती कि पीछे-पीछे पुलिस पहुँचती। अंत में घनश्यामदासजी के मित्र देवीदयाल सर्राफ ने कुलियों का भेष रखा। उस पेटी को सिर पर रखकर वह उसे हुगली में फेंक आये।

पुलिस वालों ने हुगली क्षेत्र के सारे बग्घी वालों को घेरा और धमकाया। फिर उन्हीं में से कुछ लोगों ने पुलिस को बता दिया कि एक पेटी इधर-से-उधर पहुँचायी गयी है। इस पर बिपिन गांगुली के सारे मारवाड़ी मित्रों की तलाशी ली गयी। घनश्यामदासजी के अनन्य साथी प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका के घर से क्रान्तिकारी अतुलनाथ के पत्र बरामद हुए। प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका को दुमका में चार साल के लिए नजरबंद कर दिया गया। क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने वाले फूलचंदजी चौधरी को बंगाल से निष्कासित कर दिया गया। कन्हैयालालजी चितलांगिया को उस कारतूस पेटी-कांड में भारत रक्षा कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किया गया। ओंकारमल सर्राफ और ज्वालाप्रसाद कानोड़िया को भी नजरबंद किया गया।

उन दिनों बिड़ला-परिवार कालीगोदाम के रिहायशी कमरे छोड़कर जकरिया स्ट्रीट के कोने पर स्थित छाजूरामजी चौधरी के मकान में किरायेदार हो गया था। पुलिस ने घनश्यामदासजी को गिरफ्तार करने के लिए, इस मकान पर और कालीगोदाम की गद्दी पर एक साथ छापा मारा। यह घटना 1916 की है। उस समय जनमत के प्रहरी समाचार-पत्र 'भारत मित्र' ने एक संपादकीय लिखकर इन तलाशियों और गिरफ्तारियों पर प्रकाश डाला, ''बड़े बाजार में जो तलाशियाँ और धरपकड़ हुई हैं, उससे लोगों में एक प्रकार की घबराहट फैल गयी है। जिन्हें अब तक लोग सदाचारी और परोपकारी समझते थे, उनसे ऐसा क्या अपराध बन पड़ा है कि पुलिस ने उनकी तलाशी ली और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। जिन घनश्यामदास बिड़ला की तलाशी लेने पुलिस छाजूरामजी के घर गयी, उनकी फर्म 'श्रीयुत् बलदेवदास जुगलकिशोर' ने सेठ ताराचंद घनश्यामदासजी के साझे से कुछ दिन पहले एक मोटर एम्बुलेंस सरकार को दी है।''

इस संपादकीय लिखने के 19 दिन पहले ही 'भारत मित्र' कार्यालय की भी तलाशी हुई थी।

संयोग से घनश्यामदासजी एक ही दिन पहले छुट्टियाँ मनाने उटकमंड चले गये थे। बिड़ला-परिवार ने यहाँ चुपचाप खबर कर दी कि पुलिस की निगाह से बचने के लिए फौरन छिप जाओ। घनश्यामदासजी तीसरे दर्जे के मुसाफिर बनकर छिपते-छिपाते पहले मदुरै और फिर नाथद्वारा गये। नाथद्वारा से पुष्करजी पहुँचे और वहाँ तीर्थयात्रियों की भीड़ में भूमिगत हो गये। वहाँ से पिलानी बहुत दूर नहीं थी, किंतु पिलानी जाने का कोई सवाल उठ ही नहीं सकता था। पुलिस वहाँ पहले से ही ताक लगाये बैठी थी। कलकत्ता के डाक्टर सर कैलाशचंद्र बोस के बिड़ला-परिवार और पुलिस अधिकारी, दोनों से ही अच्छे संबंध थे। उन्हीं के आश्वासन और कोशिशों से घनश्यामदासजी के नाम निकला हुआ वारंट रद्द हुआ। इस तरह पूरे तीन महीने भटकने के बाद घनश्यामदासजी कलकत्ता वापस लौट सके।

संभवतः इसी छिपने-भटकने की प्रक्रिया से यह बात उनके मानस में उजागर हुई कि आतंकवादियों के साथ मिलकर इस संग्राम में वे सफल भूमिका नहीं निभा सकेंगे। उन्हें गांधीजी का सत्य-अहिंसा का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर लगा। उसमें वे किस तरह से गांधीजी की सहायता कर सकेंगे, इस योजना का बीजारोपण उन्हीं क्षणों में हुआ।

दूसरा अध्याय

स्वराज दृष्टि : आर्थिक मोर्चा

घनश्यामदासजी का महात्मा गांधी से जिस तरह और जिस धरातल पर संपर्क हुआ, उसे उन्होंने अपने जीवन की सौभाग्यपूर्ण घटना के रूप में माना। और यह माना की इसके पीछे नियति का हाथ है, क्योंकि घनश्यामदासजी और उनके घर-परिवार की कोई राजनीतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। "मैं इस योग्य कहाँ था कि किसी विश्वविख्यात व्यक्ति की दृष्टि में आ पाता।"[35]

उस समय स्वराज के इस पथ पर पढ़े-लिखे गैर-राजनीतिक लोग भी आगे आ रहे थे। धनवान इस पथ पर आने से अभी हिचक रहे थे। पर जैसे-जैसे युद्ध का समय बढ़ता जा रहा था, वैसे-वैसे इस पथ पर चलने वाले लोगों की संख्या भी बढती जा रही थी। कलकत्ता में रहते हुए उन दिनों घनश्यामदासजी इस बात जमींदार, व्यापारी, वकील, डॉक्टर आदि वर्ग के लोगों ने इसमें भाग शुरु शुरू किया है जो भारतीय भाषाओं में अखबार निकाल रहे थे। इस समय तक जमींदार, व्यापारी, वकील डाक्टर आदि वर्ग के लोगों ने इसमें भाग लेना शुरू नहीं किया था।[36] फलस्वरूप कांग्रेस के पास प्रचार-कार्य के लिए धनराशि का अभाव था।

इस धनाभाव को दूर करने में घनश्यामदासजी किस तरह अपने जीवन का योगदान दे सकते हैं, यह बात उनके संकल्पवान चित्त में घर कर गयी।

उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरे जीवन में गांधीजी' में स्वीकार किया है कि "अधिकांश देशवासियों की तरह मुझ पर भी गांधीजी का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिए मैं भारत के स्वतंत्र होने के दिन की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करता

35. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 110
36. नेशनलिज्म एंड कोलोनिलिज्म इन माडर्न इंडिया, बिपिन चंद्र पाल, पृष्ठ 133

था। पर साथ ही जब अंग्रेजों और उनकी पार्लियामेंट ने यह घोषणा की कि भारत को स्वतंत्र करना उनका भी लक्ष्य है तो मैंने उनकी नेकनीयती पर कभी संदेह नहीं किया। अपने कार्यकलाप के प्रारम्भिक युग में गांधीजी का भी ऐसा विश्वास था, पर रोलट रिपोर्ट ने और उसके फलस्वरूप बने हुए कानून ने, जिसे वास्तव में कभी अमल नहीं लाया गया, इस विश्वास की नींव खोखली कर दी।''[37]

गांधीजी के व्यक्तित्व के धार्मिक पक्ष से, जो बुनियादी तौर पर नैतिक था, घनश्यामदासजी सबसे अधिक प्रभावित हुए। उनके धर्म का आधार था वह नैतिक मूल्य जिसे गांधीजी ने प्रेम या सत्य के कानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उन्हें एक ही चीज या एक ही चीज के अलग-अलग पहलू मालूम हुए जिसकी ओर घनश्यामदासजी बिड़ला अत्यधिक आकृष्ट हुए।

गांधीजी को ब्रिटिश राज के अपमानजनक पक्ष का पूरा ज्ञान था। कुछ भारतवासी अपने निहित स्वार्थों के कारण ब्रिटिश राज के साथ हो गये थे। लेकिन गांधीजी के कारण लोगों के जीवन का नया मापदंड बना और ब्रिटिश राज की असलियत पर रोशनी पड़ी। अंग्रेजों के खिलाफ स्वतंत्रता की लड़ाई के प्रति भारतवासियों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हुआ। अंग्रेज वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान-शौकत अब जनता की गरीबी और शोषण के माध्यम बने। गांधीजी ने 'स्वदेशी' की सुप्त भावना को जगाया। लोगों के मन में यह बात समा गयी कि हर विदेशी वस्तु दासता की प्रतीक है। उसका बायकाट या बहिष्कार किए बिना आज़ादी नहीं प्राप्त की जा सकती। इसके फलस्वरूप लोगों में आत्मसम्मान की चेतना जगने लगी। इस कारण व्यापारी-वर्ग और उद्योग-धंधों के मालिक भी इस पथ पर आगे आये। उस समय तक इस वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन को कोई विशेष सहयोग नहीं दिया था, क्योंकि वे आतंकवादी नीतियों से घबरा जाते थे। गांधीजी के आने के बाद जब इस आन्दोलन को अहिंसात्मक रूप मिला तो व्यापार-उद्योग वाले लोग इस आन्दोलन को खुलकर अपना सहयोग देने लगे। इस वर्ग का उदय न तो अंग्रेज शासक-वर्ग के सहयोग से हुआ था और न ही उनकी पूँजी से। यह वर्ग इंगलैंड और भारतीयों के बीच बिचौलिया भी नहीं था,

37. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 120

बल्कि अपनी ही शक्ति के बल पर बढ़ा था। अंग्रेज उद्योगपतियों के साथ इसका एकमात्र रिश्ता था प्रतिस्पर्धा का।[38]

घनश्यामदासजी के व्यक्तित्व की बनावट अपने समय के प्रायः सभी उद्योगपतियों से बिलकुल अलग थी, उस में राजनीति का अंश बिलकुल कम था। उतना ही कम था जितना कि महात्मा गांधी जैसे नैतिक पुरुष में था। गांधीजी के बारे में स्वयं घनश्यामदासजी ने जितना कुछ लिखा है, दोनों के बीच जितना कुछ पत्र-व्यवहार हुआ है, उस सबसे यह प्रकट है कि "एक हिन्दू के नाते मेरी जो भावना थी उसके कारण मेरे जीवन पर गांधीजी का प्रभाव सबसे अधिक था। मेरा जन्म एक ऐसे व्यापारी परिवार में हुआ है, जो सदा से सनातन धर्म की परम्परा का पालन करता आया है। मेरे दादा और उन जैसे दूसरे लोगों की तुलना इंगलैंड और अमरीका के 'क्वेकरों' के साथ की जा सकती है। 'क्वेकरों' की ही तरह उन्होंने भी व्यापार में खूब धन कमाया, साथ ही उन्होंने अच्छे कामों में खुले हाथ खर्च करना अपना कर्तव्य समझा। 'क्वेकरों' की ही तरह वे भी कट्टरपंथी नहीं थे, अर्थात् वे जात-पाँत के किसी कठोर बंधन में जकड़े हुए नहीं थे।"[39]

इन प्रमाणों से यह प्रकट है कि गांधीजी का जो प्रभाव घनश्यामदासजी पर पड़ा वह "उनके एक शक्तिशाली राजनीतिक नेता होने के कारण उतना नहीं पड़ा, जितना कि उनकी धर्मपरायणता, उनकी नेकनीयती और उनकी सत्य की खोज करने की प्रवृत्ति के कारण पड़ा। अकसर मैं उनके तर्कों को नहीं समझ पाता था और कभी-कभी मैं उनसे असहमत भी हो जाता था, लेकिन मुझे यह विश्वास सदा बना रहता था कि वह जो कुछ कहते या करते हैं, वह अवश्य ही ठीक होगा, मैं उनका अभिप्राय न समझा होऊँ, यह बात दूसरी है। उन्होंने मुझसे जितना भी रुपया माँगा (और वह कहा करते थे कि जिन कामों में वह लगे हुए हैं, उनका भिक्षा-पात्र सदैव आगे बढ़ा रहता है), इस विश्वास के साथ माँगा कि उन्हें वह रकम अवश्य मिल जायेगी क्योंकि उनके लिए मेरा सर्वस्व हाजिर था।"[40]

गांधीजी के साथ उस अनोखे समय और वातावरण में जो स्वराज दृष्टि

38. इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास एंड इंपीरियलिज्म बिफोर 1947, बिपिन चंद्र पाल
39. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 120
40. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 121

घनश्यामदासजी ने पाई वह बिल्कुल सहज, पर गहरी थी। वह घर-परिवार और समाज की जिस पृष्ठभूमि और वातावरण में जन्मे और पले थे और जिससे उन्हें अपना 'स्वधर्म' मिला था, उसी के अनुरूप उन पर गांधीजी का प्रभाव पड़ा था। उस प्रभाव के भीतर से ही घनश्यामदासजी को वह स्वराज दृष्टि मिली थी जो उनके स्वभाव और स्वधर्म के पूर्णतः अनुकूल थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकारा है कि "राजनीतिक के साथ मेरा जो कुछ भी संबंध रहा है, वह उसके आर्थिक क्षेत्र में ही रहा है, लेकिन मैं भारत में रहने वाले अंग्रेजों के मन में गांधीजी के उच्च उद्देश्यों के बारे में अविश्वास की बढ़ती हुई भावना को, और साथ ही भारतवासियों के मन में भारत-प्रवासी अंग्रेजों के प्रति ही नहीं, बल्कि अंग्रेज कूटनीतिज्ञों और ब्रिटिश पार्लियामेंट तक के प्रति अविश्वास की जबरदस्त भावना को रोकने में सचेष्ट रहा।"[41]

आर्थिक क्षेत्र में उस समय भारतवर्ष की जो-जो समस्याएँ थीं, उनके खास-खास मुद्दों को कांग्रेस के प्रारम्भिक राजनीतिज्ञों ने भली-भाँति समझ तो लिया था, परन्तु वे समस्याएँ ऐसी थीं कि उनको हल करने का रास्ता उन्हें दिखाई न पड़ता था। यह बात वे जान गये थे कि लंकाशायर के मुकाबले में भारतीय हित छोटे और गौण समझे जाते थे, साथ ही यह बात भी उन्होंने बखूबी जान ली थी कि ग्रामीण दस्तकारी और कला-कौशल को चाहे निश्चित रूप से नष्ट न किया जाता हो, मगर उनके प्रति लापरवाही जरूर की जाती है।

एक के बाद एक, भारतीयों द्वारा शुरू किए गये उद्योग का या तो शुरुआत में ही गला घोंट दिया जाता था, या उसे किसी न किसी तरीके से अंग्रेज उद्योपतियों के हाथ में सौंप दिया जाता था। अकसर यह भी होता था कि ऐसे उद्योगों को इंगलैंड के हित में नियंत्रित कर दिया जाता था। अंग्रेजी शासन की यही कोशिश रहती थी कि भारत के लोग व्यापार और उद्योग के क्षेत्र से हटकर केवल खेती का ही काम करें।

1906 में, दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में, कलकत्ता में कांग्रेस का जो प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ उसमें पंडित मदनमोहन मालवीय ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि हमारे उद्योग-धंधों में हमें सफलता क्यों नहीं मिलती। उन्होंने कहा, कि

41. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 120

हमारे देश का कच्चा माल देश से बाहर चला जाता है और विदेशों से तैयार होकर उसका माल हमारे पास आता हैं। अगर हम स्वतंत्र होते तो ऐसा न होने देते। उस हालत में हम भी उसी प्रकार अपने उद्योग का संरक्षण करते जिस प्रकार कि सब देश अपने उद्योगों की शैशवावस्था में करते हैं। लोकमान्य तिलक ने इस बात पर अफसोस जाहिर किया कि विदेशी माल की सबसे ज्यादा खपत मध्य-श्रेणी वालों में ही है। उन्होंने कहा, हमारे अन्दर स्वावलम्बन, दृढ़-निश्चय और त्याग की भावना होनी चाहिए। स्वदेशी की भावना उत्पन्न होने पर, और 1906 तथा उसके बाद के वर्षों में बहिष्कार-आंदोलन से उसे प्रोत्साहन मिलने के फलस्वरूप, भारतवर्ष का ध्यान भारतीय उद्योग-धंधों के पुनर्जीवन की ओर खिंचा।

उस समय का पूरा इतिहास साक्षी है कि जीवन के हर क्षेत्र में, विशेषकर, आर्थिक क्षेत्र में भारतीय उद्यमी वर्ग का अंग्रेज शासन वर्ग के साथ संघर्ष चलता रहा। यह वर्ग पूर्णतः अपने सीमित साधनों के बल पर पनप रहा था। वह किसी भी हालत में अंग्रेजों के अधीन या उनके साथ रहने को तैयार नहीं था। उन्हें आवश्यकता थी केवल नेतृत्व की, और नेतृत्व घनश्यामदासजी ने प्रदान किया।

घनश्यामदासजी ने देखा कि अंग्रेजी व्यापार ने भारतीय बाजार पर पूरी तरह कब्जा कर रखा है। क्योंकि वस्तुओं पर कर बहुत कम है, फलतः उनकी वस्तुएँ सस्ते दामों पर उपलब्ध हैं। भारतीय व्यापारी-वर्ग अपनी वस्तुओं पर कर कम करने की माँग हमेशा करता रहा। उनकी एक और माँग थी कि उस कच्चे माल पर निर्यात कर बढ़ा दिया जाए जो देशी उद्योगों के लिए आवश्यक था। उस समय उन्होंने यह भी देखा कि जिसे भारतीय उद्योग कहा जाता है वह वास्तव में भारतीय कच्चे माल और श्रम-शक्ति से चलाया जाने वाला ब्रिटिश उद्योग ही था जो भारत में ब्रिटेन के लिए मुनाफा कमाने में लगा हुआ था। इसका कारण यह था कि उद्योगों में लगाई गयी पूँजी, उद्यमशीलता और तकनीकी कुशलता बहुतायत से ब्रिटिश लोगों की ही थी।

भारत में विदेशी पूँजी के आधिपत्य का एक अन्य पहलू यह था कि उसने कुछ प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। अधिकांश पूँजी बागानों, पटसन उद्योगों, कोयला खनन और रेलों में लगी हुई थी। ये सब कच्चे माल का उत्पादन करने वाले उद्योग थे। और जो परिवहन था वह भी उसी उद्योग-व्यापार को ही नियंत्रित करने में लगा

था। दूसरे शब्दों में पूँजीनिवेश, भारत से कच्चे माल के निर्यात और भारत में ब्रिटेन द्वारा निर्मित माल के आयात और वितरण को बढ़ावा देने वाला था। वह कुछ तरह से तो आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देता था और कुछ अन्य प्रकार से बाधक बनता था। उद्योग पर ब्रिटिश शिकंजा मैनेजिंग ऐजेंसी पद्धति द्वारा और भी कस दिया गया था।

अंग्रेज कहा करते थे कि भारत की आर्थिक स्थिति बिना विदेशी पूँजी-निवेश के कभी नहीं सुधर सकती। भारतीय पूँजीपतियों ने इस बात से उत्पन्न संकट का ठीक-ठीक अनुमान लगाया। इसलिए किसी भी पूँजीपति ने उस काल में अंग्रेजों के साझे में व्यापार या उद्योग नहीं लगाया। वह नहीं चाहते थे कि मशीनरी, मशीनी औजार, जहाजरानी, रसायन, उर्वरक, खनिज आदि जैसे महत्वपूर्ण उद्योग विदेशी पूँजी में लगें। वह जानते थे कि उन क्षेत्रों में आने का अर्थ था, भारतीय उद्योग का हमेशा पिछड़ी ही दशा में रह जाना।

स्वराज के पथ पर राष्ट्रीय आंदोलन में घनश्यामदासजी ने इस प्रकार सहायता की कि एक ओर उन्हें और उनके सहयोगियों को शासक वर्ग से अधिकार मिलते रहें तो दूसरी ओर अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ उनकी लड़ाई भी ज़ारी रहे। गांधीजी के निरंतर संपर्क में रहते हुए उन्होंने यह समझ लिया था कि राष्ट्रीय आंदोलन तब तक चलता रहेगा जब तक स्वराज नहीं मिल जाएगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश को उन्नत और समृद्ध बनाने के कई सपने उनके मन में थे।

इस आंदोलन में उत्तरोत्तर शक्ति भरने के लिए घनश्यामदासजी और उनके सहयोगी, जैसे सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, बिट्ठलदास थैकरसे, बालचंद हीराचंद, जमनालाल बजाज और लाला श्रीराम आदि ने बहुत सूझ-बूझ के साथ एक नीति अपनायी जिसे कहेंगे 'समझौता, दबाव और फिर से समझौते की नीति'।

जो अधिकार ब्रिटिश सरकार से उन्हें समझौते से मिल जाते थे, वे पहले उसका पूरा लाभ उठा लेते थे। फिर सरकार पर दोबारा दबाव डालना शुरू कर देते और फिर समझौते की स्थिति पर आ जाते थे। इस नीति के कारण ब्रिटिश सरकार पर दबाव भी रहता था और साथ-साथ राष्ट्रीय आंदोलन को भी बल मिलता रहता था। घनश्यामदासजी जानते थे कि सीधी मुठभेड़ से जनता में अशांति फैल जाएगी।

घनश्यामदासजी इसे 'अव्यवस्था' की स्थिति कहा करते थे जो आर्थिक विकास में बाधक थी।

स्वराज के पथ का यह वह चरण था जब एक ओर 'आर्यसमाजी' और स्वराजी के आपस में मतभेद बढ़ रहे थे, दूसरी ओर अल्पसंख्यकों एवं हरिजनों की समस्या को अंग्रेज बल दे रहे थे। ऐसे समय में घनश्यामदासजी जैसे गांधीजी के अनुयायियों के मन में हिंसा और अहिंसा को लेकर अंतर्द्वंद्व छिड़ा हुआ था। घनश्यामदासजी के व्यक्तित्व पर पूज्य मालवीयजी का भी असर था। पिलानी से 11 जून, 1924 को महात्मा गांधी को लिखे पत्र में इस अंतर्द्वंद्व का साक्ष्य उपलब्ध है :

"आपने मुझे अहिंसा का उपदेश दिया और मैंने भी उसे बिना शंका के सुन लिया, किन्तु आपसे दूर होने के पश्चात् मुझे समय-समय पर शंकाएँ होती हैं। इसमें तो मुझे रत्ती भर भी शंका नहीं कि अहिंसा एक उत्तम ध्येय है। किन्तु आप जैसे द्वंद्व-विमुक्त पुरुष संसार की भलाई के लिए किसी मनुष्य का यदि वध कर दें तो क्या इसको अहिंसा कहा जा सकता है··· । निष्काम भाव से किया हुआ कर्म एक प्रकार का अकर्म ही है। किन्तु साधारण श्रेणी के मनुष्य, जो द्वंद्व से छूटे नहीं, उनके हाथ से किया हुआ वध तो अवश्य ही हिंसा ही है। किन्तु क्या ऐसी हिंसा के लिए विधि नहीं है ? आपने तो स्वयं ऐसा कहा है कि भाग जाने की अपेक्षा प्रहार करना कहीं अधिक अच्छा है। इस हालत में लोगों को अंतिम श्रेणी की शिक्षा देकर प्रहार करने से रोकना कहाँ तक फलदायक होगा, मेरी बुद्धि में नहीं आता। आप मुसलमानों की लाठियाँ खाने का उपदेश भी देते हैं। इस अंतिम ध्येय को लोग प्राप्त कर सकते हैं या नहीं इसमें मुझे पूरा शक है। मुझे तो ऐसा भय भी होता है कि कहीं ऐसा न हो कि लोग न तो उस उच्चतम अहिंसा को प्राप्त कर सकें और न अपनी बहू-बेटियों की रक्षा के लिए तलवार ही चलाएँ। हिन्दू-सभा एवं आर्यसमाजी भाइयों ने जब से तलवार चलाने के लिए लोगों को उत्तेजित किया है, तब से मुसलमान लोग भी वार करने में थोड़ा भय मानते हैं। मैं जानता हूँ कि ऐसा होने से झगड़ा एक दफे बढ़ता ही है।"[42]

इस तरह के प्रश्नों और अंतर्द्वंद्वों के निराकरण में गांधीजी के साथ

42. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 123

घनश्यामदासजी के काफी पत्र-व्यवहार हुए। उन्होंने समझ लिया कि अहिंसात्मक नीति ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह 'अव्यवस्था' की स्थिति उत्पन्न होने नहीं देती और प्रगति चाहे धीरे ही क्यों न हो, मंगलकारी ढंग से होती है।

समझौता, दबाव और फिर समझौते की नीति का भी अहिंसा के सिद्धांतों के साथ अच्छा ताल-मेल बैठता था। इसका ब्रिटिश सरकार पर व्यापक प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप देश को कुछ नये और लाभदायक परिणाम प्राप्त हुए। 1922 में लिखी हुई कीमत पर कपड़ा मिले, इसकी घोषणा हुई। 1930 में कपड़ा आयात पर पच्चीस प्रतिशत कर लगाया गया। 1933 में बढ़ाकर उसे पचहत्तर प्रतिशत कर दिया गया। 1932 में चीनी उद्योग को भी सुरक्षा प्राप्त हुई। उसी वर्ष रिजर्व बैंक की योजना भी हाथ में ली गयी।

भारतीय व्यापार और उद्योग के प्रति ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण के बदलने का एक महत्वपूर्ण कारण था। देश की आबादी तेजी से बढ़ रही थी। कृषिभूमि के ऊपर दबाव बढ़ रहा था। कृषि-क्षेत्र में लोग बेकार हो रहे थे। इधर गांधीजी के प्रयत्नों के कारण भारत की ग्रामीण जनता में भी स्वराज का उत्साह भर रहा था। कृषि-क्षेत्र के लोग, जिनके पास बहुत कम काम रह गया था, अनायास ही इस आंदोलन के साथ जुड़ने लगे थे।

स्वभावतः भारत के औद्योगिक विकास में अंग्रेजी शासक-वर्ग की कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसके बावजूद शासन हर प्रकार की विस्फोटक स्थिति से बचना चाहता था। जनता राष्ट्रीय आंदोलन-क्षेत्र से दूर रहे, इसलिए ब्रिटिश शासक-वर्ग भारतीय उद्योग-व्यापार की उन्नति में विवशतः रुचि लेने लगा। यह एक ऐसा क्षेत्र था, जिसमें बहुत लोगों को अच्छा रोजगार मिल सकता था और यह रोजगार उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखने में सहायक भी था।

प्रथम विश्वयुद्ध के इस काल में राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक विकास, दोनों की माँग जोर पकड़ती चली जा रही थी। घनश्यामदासजी ने इस समय यह अनुभव किया कि आर्थिक विकास के बिना स्वतंत्रता आम आदमी के लिए अर्थहीन हो जाएगी। इस सत्य को आत्मसात कर उन्होंने उसके दूसरे पक्ष को भी समझ लिया कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना न तो कोई आर्थिक प्रगति हो सकती है, न देश समृद्ध हो सकता है। भारतीय वाणिज्य और उद्योग मंडल (इंडियन चैंबर

आफ कामर्स एंड इंडस्ट्रीज) की स्थापना में उनका बहुत बड़ा हाथ था। सन् 1927 में इसकी स्थापना हुई।

इस उद्योग मंडल ने भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों को एक केन्द्रीय मंच प्रदान कर उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को एक निश्चित दिशा में प्रवाहित करने की चेष्टा की। उन दिनों ब्रिटिश सरकार सभी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारतीय हितों के तथाकथित प्रतिनिधित्व के लिए अंग्रेज उद्योगपतियों को ही मनोनीत करती थी। भारतीय व्यापार और उद्योग मंडल ने घनश्यामदासजी के प्रयत्नों के कारण ब्रिटिश सरकार पर अपना प्रभाव डाला कि ऐसे सम्मेलनों में भारतीय हितों का प्रतिनिधित्व भारतीयों को ही करने दिया जाए। साथ ही मंडल ने राज्य की राजस्व कर-नीति तथा अन्य आर्थिक नीतियों के निर्माण की ओर भी समय-समय पर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ सुझाव भी दिए। घनश्यामदासजी अपने अन्य सहयोगियों, जैसे पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, कस्तूरभाई लालचंद आदि के साथ उद्योग मंडल के क्रिया-कलापों में सदा अग्रणी रहे।

तीसरा अध्याय

स्वदेशी आंदोलन : राष्ट्र-सम्मान का प्रश्न

1905 में जब 'बंगाल विभाजन' को लागू किया गया तो देश व्यथापूर्ण रोष से हिल गया। उस विस्फोटक स्थिति में ब्रिटिश न्याय और सद्भाव में विश्वास समाप्त हो गया। शिकायतें दूर करने के संवैधानिक तरीकों की अपील खत्म हो गयी और सरकार पर दबाव डालने के नये ढंग लोकप्रिय बन गये। स्वदेशी और बहिष्कार को नये अस्त्रों के रूप में अपनाया गया। मूक आज्ञाकारिता और सरकारी कृपा पर निर्भरता की पुरानी राह का स्थान सरकारी आदेशों की अवज्ञा और स्वतंत्र संस्थाओं के विकास ने ले लिया। वर्ष के दौरान एक ओर जनता को आत्मनिश्चय और दूसरी ओर उसे कुचल देने की सरकारी कोशिशों के बीच कठोर संघर्ष की शुरुआत हुई।

एक ओर तो सार्वजनिक सभाओं और अखबारों के जरिए प्रचार-कार्य जोरों के साथ चल रहा था और विशाल प्रदर्शन देशभक्ति की भावना जगा रहे थे, दूसरी ओर अधिक ठोस और स्थायी रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किया गया जिससे शासकों पर संगठित दबाव डाला जा सके। इसका दुहरा उद्देश्य था : राजनीतिक और आर्थिक। ब्रिटिश लोगों को इसके द्वारा चेतावनी दी गयी कि अगर भारत में उनके एजेंट भारतीय जनमत की उपेक्षा करते रहेंगे, अगर ब्रिटिश पार्लियामेंट भारतीय अर्थव्यवस्था को खतरे में डालकर मुक्त-व्यापार की नीति पर चलती रहेगी और अगर भारत सरकार लंकाशायर के निर्माताओं की मातहती स्वीकार करती रहेगी तो उसके आर्थिक हित खतरे में पड़ जायेंगे। उसका दूसरा उद्देश्य देशी उद्योगों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान करना था, क्योंकि सरकार वैसा नहीं कर सकी थी। इस त्रिसूत्री कार्यक्रम के तीन विभाग थे : स्वदेशी और बहिष्कार, राष्ट्रीय इतिहास और संस्कृति का गौरव जगाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की अभिवृद्धि तथा स्वावलंबन, देशभक्ति और स्वतंत्र चिंतन को बढ़ावा देना।

आंदोलन केवल आर्थिक नहीं था, वरन् राजनीतिक अस्त्र के रूप में विकसित हो गया था। इससे भी महत्व की बात यह थी कि वह शीघ्र ही भारत की स्वाधीनता के लिए आकांक्षा, राष्ट्रीय पहचान अथवा आत्माभिव्यक्ति का प्रतीक बन गया। उसने ऐसी भावना की खोज का प्रयास किया, जो अतीत की विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं और वर्तमान के विविध समुदायों को एकत्व में गूंथने वाला प्रच्छन्न संबंधसूत्र बन जाए। इस व्यापकतर स्वदेशी आंदोलन के नेता बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष थे — पश्चिम और उत्तर भारत में तिलक और लाजपतराय थे।

बंग-भंग के प्रश्न को भारतवर्ष ने अपने आत्मसम्मान के प्रश्न से जोड़ लिया। बंगाल राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र था और वहीं से वंदेमातरम् की ध्वनि से धरती और आकाश गूँज उठा। उस समय देश का वातावरण इतना उत्तेजित और क्रियाशील था कि बंग-भंग को समाप्त करना स्वराज प्राप्त करने के समान बन गया। भारतवासियों के हृदय में यह बात जम गयी, ''अंग्रेजों से भक्ति-भाव करना वृथा है, प्रार्थना वृथा है और उनके आगे रोना वृथा है। दुर्बल की वह नहीं सुनते हैं।''[43]

बंगाल विभाजन के समय स्वदेशी आंदोलन बड़े प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ। उस समय विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर अत्यधिक जोर दिया गया। सभी जातियों और वर्गों के लोगों ने स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया। भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों ने भी इस विचार को विस्तार से व्यक्त किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रलाल राय, रजनीकांत सेन आदि प्रसिद्ध साहित्यकारों ने भी स्वातंत्र्य भावना के विकास में पूर्ण सहयोग दिया। मुसलमानों ने भी इसमें हाथ बँटाया; अब्दुल रसूल, गजनवी, लियाकत हुसैन आदि ने स्वदेशी आंदोलन की गति तीव्र कर दी।

बंग-भंग ने देश में स्वावलम्बन का पथ प्रशस्त किया। विरोध-प्रदर्शन के साथ अनेक लोगों का ध्यान राष्ट्रीय उद्योग की ओर आकृष्ट हुआ। एक प्रकार से स्वदेशी आंदोलन से प्रभावित होकर ही टाटा ने लौह और इस्पात का कारखाना खोला।

43. बंग-विच्छेद, बालमुकुन्द गुप्त, पृष्ठ 58

फिर बंगाल में कुटीर उद्योगों का विकास भी इसी कारण हुआ। अस्तु, स्वदेशी विचारधारा ने अंब ठोस रूप ग्रहण कर लिया था, जिसका संकेत पूना निवासी श्री गोपाल राव देशमुख ने 1848 में किया था। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि बर्न आयरन वर्क्स, हावड़ा, फोर्ट ग्लांस्टे जूट मिल, ईस्ट इंडियन रेलवे, कलकत्ता टेलिग्राफ, बंगाल गवर्नमेंट प्रेस, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया प्रेस आदि ने हड़ताल कर स्वदेशी आंदोलन को विस्तार प्रदान किया।

स्वदेशी आंदोलन का उद्देश्य एक प्रकार से देश को स्वाधीन बनाना ही हो गया था। इसलिए इसे न तो बंग-विभाजन के विरोध तक सीमित किया जा सकता है और न ही उसका संबंध केवल आर्थिक क्षेत्र से जोड़ा जा सकता है। यह आंदोलन संपूर्ण राष्ट्र के उत्थान का व्यापक प्रयत्न था। और तो और, सुगंभीर विचारक गोखले ने भी इसे ''ए लैण्डमार्क इन द हिस्ट्री ऑफ नेशनल प्रोग्रेस'' माना। स्वदेशी आंदोलन पर महात्मा गांधी ने भी अत्यधिक बल दिया। उनके योग से स्वदेशी आंदोलन का चरित्र सही अर्थों में राष्ट्रीय हो गया। पहली बार महात्मा गांधी ने इससे राजनीतिक क्षेत्र को व्यापक बनाकर उसमें राष्ट्रीय शिक्षा, भारतीय संस्कृति, भारत का स्वतंत्र अस्तित्व आदि बुनियादी तत्वों को जोड़ दिया। उस समय के कट्टर क्रांतिकारी नेताओं ने अंग्रेजी सरकार से पूर्ण असहयोग की नीति अपनाई। अरविंद घोष ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि राजनीतिक स्वतंत्रता किसी भी देश के लिए प्राणवायु की भाँति होती है, ऐसी स्थिति में विदेशी सत्ता को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। तिलक, लाला लाजपतराय,. विपिन चन्द्र पाल एवं इस विचारधारा के अन्य नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं का भी यही मत था। वे किसी भी क्षेत्र में और किसी भी रूप में अंग्रेजी शासन को स्वीकार करने के पूर्ण विरोधी थे। परन्तु गोखले एवं उनके विचार से सहमत अन्य नेता कट्टर क्रांतिकारियों की नीति से असहमत थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में अभी ऐसा सोचना अव्यावहारिक था। फिर भी, तिलक के कथन का उस समय इतना प्रभाव था कि उसके समक्ष गोखले की वाणी कुछ समय के लिए मंद सी पड़ गयी।

भारत में हिंसात्मक क्रांति का वातावरण निर्मित हो चुका था। भारत और इंगलैंड में ऐसा आभास मिलने लगा था कि 1857 से भी बड़ी क्रांति होने वाली है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी सरकार ने धोखे का सहारा लेकर प्रज्वलित अग्नि को शांत करने का प्रयास किया। मार्ले और मिण्टो ने उदारवादियों के सुधार एवं कर्जन के दमन,

दोनों को एक साथ मिलाकर भारत पर शासन करने की नयी नीति अपनायी। संयोग से उन्हें सुधारवादी गोखले का सहयोग प्राप्त हो गया। मार्ले-मिण्टो-सुधार 'द इंडियन कौंसिल ऐक्ट ऑफ 1909' के रूप में प्रकट हुआ। इसके द्वारा भारतीय शासन-विधान में कई प्रकार के परिवर्तन किए गये। जैसे, पहली बार गवर्नर-जनरल की कौंसिल में भारतीय सदस्य को स्थान मिला। इस अधिनियम के पारित होने से केन्द्रीय विधायिका सभा में गैर-सरकारी सदस्यों को विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से चुनकर जाना था। निर्वाचन का अधिकार प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों, स्थानीय संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, वाणिज्य संघों एवं जमींदारों को था। इस ऐक्ट के द्वारा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार प्रदान कर दिया गया। यहीं से साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का आरंभ हुआ। 1909 में ही कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में इसका विरोध किया गया। उग्रवादी तो मार्ले-मिण्टो-सुधार को बड़ा ढोंग मानते ही थे, अब इस बात से वे और असंतुष्ट तथा क्षुब्ध हो गये। इसलिए जब 25 जनवरी, 1910 को लार्ड मिण्टो ने नयी विधायिका परिषद् का उद्घाटन किया, तो उग्रवादियों ने उसके विरोध में अपनी गतिविधि में और तीव्रता लाने का प्रयास किया। इसी क्रम में कलकत्ते में एक बड़े पुलिस अफसर को मृत्यु के आगोश में जाना पड़ा।

इस प्रकार की घटनाएँ धीरे-धीरे संपूर्ण देश में होने लगीं। इसलिए नये वायसराय लार्ड हार्डिंग ने दिसम्बर 1911 में 'बंग-विभाजन' को समाप्त कर दिया। उन्हें ऐसी आशा थी कि इस काम से लोग प्रसन्न होंगे और वातावरण शांत हो जायेगा। पर कुछ दिनों के भीतर ही उनके ऊपर बम फेंकने का प्रयास हुआ। अब अंग्रेजी सरकार को अनुभव हुआ कि भारतवासियों का असंतोष बहुत गहरे जा चुका है और अब उसे दूर करना बहुत आसान नहीं रह गया है। इस अवधि में साम्प्रदायिकता की भावना भी अमानवीय रूप में प्रकट होने लगी थी। इससे राजनीतिक गतिविधियों में तनाव बढ़ता ही जाता था। फिर प्रथम महायुद्ध की आशंका ने अंग्रेजी सरकार और भारतीयों को एक विचित्र स्थिति में डाल दिया। अगस्त, 1914 में प्रथम महायुद्ध आरंभ हुआ। इस समय भारत में राष्ट्रीयता की भावना बड़ी तीव्र थी। चूँकि युद्ध में टर्की ब्रिटेन के विरुद्ध था, भारतीय मुसलमान भी अंग्रेजों के विरोधी हो चुके थे। दूसरे, इस बीच मुस्लिम लीग और कांग्रेस के नरम दल और गरम दल में मेल की संभावना से भारत में एक ही स्वर उठने लगा था 'स्वशासन'।

ऐसे ही माहौल में जबकि प्रथम यूरोपीय महायुद्धकालीन राष्ट्रीयता का अभियान मंद पड़ रहा था, क्रांतिकारी आंदोलन से भारतीय स्वतंत्रता के प्रति ओज और शौर्य का उन्मेष हुआ, देश के विभिन्न भागों में सशस्त्र क्रांति का संगठन हुआ और ऐसा प्रयास स्वतंत्रता-प्राप्ति तक निरंतर चलता रहा। अधिकांश संस्थाएँ गुप्त दलों के रूप में थीं, क्योंकि शासन-सूत्र अंग्रेजों के हाथ में था और वे क्रांतिकारियों को सदा सताते रहते थे।

क्रांतिकारी सभी प्रकार से अंग्रेजों का सामना करते थे। अस्तु, उन्हें पग-पग पर अच्छे-अच्छे शस्त्रों की आवश्यकता पड़ती थी। सभी कल-कारखानों और आयात-निर्यात पर अंग्रेजों का अधिकार था, इसलिए क्रांतिकारी खुले रूप में हथियारों को खरीद नहीं सकते थे। इन्हीं कारखानों से क्रांतिकारियों ने बम, गोलियाँ, आदि बनाने के गुप्त कारखानों का निर्माण किया, जिससे अधिकाधिक संख्या में गोलियाँ, बारूद और बम मिल सकें।

इन्हीं परिस्थितियों में घनश्यामदासजी का संपर्क क्रांतिकारियों से हुआ था। पर वह स्वभावतः उन क्रांतिकारी गतिविधियों से संतुष्ट नहीं थे। उन्हें एक ऐसे युगपुरुष की तलाश थी, जिनसे प्रेरणा लेकर उन्हीं की छत्र-छाया में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में वह अपना योगदान दे सकें।

वह युगपुरुष थे महात्मा गांधी, जिनके आगमन से राष्ट्रीय आंदोलन को सर्वथा एक नया रूप प्राप्त हुआ। गांधीजी ने भारत की आत्मा को पहचाना, वह आत्मा जो गाँवों में निवास करती है। भारत मुख्यतः गाँवों का देश है। अस्तु, उन्होंने सोचा कि जब तक गाँवों में स्वतंत्रता की ज्योति नहीं फैलायी जायेगी, तब तक राष्ट्र की बहुमुखी शक्ति एक बिन्दु पर नहीं मिल सकती। ऐसा नहीं करने पर विदेशी शासन को चुनौती देना सहज नहीं है। इसी से उन्होंने किसानों, मजदूरों, अस्पृश्य जातियों के कंधों को सबल बनाते और मिलाते हुए देश के धनी तथा शिक्षित वर्ग को साथ लेकर हिंदी-भारती के स्वर में स्वतंत्रता का शंख फूँका।

आत्म-विश्वास सफलता का मूल है। सत्य तथा अहिंसा इसके सच्चे सहायक तत्व हैं और सत्याग्रह एवं असहयोग इसके मुख्य क्रियात्मक रूप। गांधीजी ने इन सब का प्रयोग राजनीतिक कार्यों में किया। गांधीजी ने एक नये नियम का, जो प्रेम का नियम है, एक नये दर्शन का, जो कि अहिंसा का दर्शन है, प्रयोग किया।

उन्होंने 'हरिजन' (2-1-37) में स्पष्टतः अपना अभिप्राय व्यक्त किया था कि ''मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाए कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है।''[44] इसके पूर्व ये सभी तत्व धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित थे। राजनीति छल-प्रपंचों की क्रीड़ा-स्थली समझी जाती थी, जैसा कि अंग्रेजी सरकार की नीतियों और कार्यों से स्पष्ट है।

गांधीजी आशावादी के साथ ही सच्ची सफलता के अन्वेषी थे। अतएव उन्होंने अजेय आत्म-शक्ति की वृद्धि कर अंग्रेजों की भौतिक शक्तियों को पराजित करने का संकल्प किया। उन्होंने रक्तपात के बदले शांतिपूर्ण ढंग से राजनीतिक सफलता प्राप्त करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि में शस्त्रास्त्रों से अधिक शक्ति नैतिकता में होती है। ऐसे ही गांधीजी के सीधे संपर्क में घनश्यामदासजी आये और पूरे आत्मविश्वास के साथ तन-मन-धन से स्वतंत्रता-संग्राम से जुड़ गये। उन्होंने इस युद्ध में बहुत ही शीघ्र इस संघर्ष का आर्थिक मोर्चा सँभाल लिया।

44. मेरे सपनों का भारत, महात्मा गांधी, पृष्ठ 11-12

चौथा अध्याय

उद्योग :
स्वराज के पथ पर

19वीं सदी के उत्तरार्ध में जो नया व्यापारी वर्ग भारत में उदित हुआ, वह राजनीति में संलग्न नहीं था। पारसियों के अलावा यह भारतीय व्यापारी समुदाय शिक्षा-क्षेत्र में भी पिछड़ा हुआ था, क्योंकि इस वर्ग की पाश्चात्य शिक्षा को ग्रहण करने की शक्ति और गति दोनों धीमी थीं।[45] मारवाड़ी व्यापारी वर्ग अपने लड़कों को अभी भी परंपरागत शिक्षा देने में रुचि रखते थे, जोकि धर्म और रोकड़ बही खाता शिक्षा पर आधारित थी। चौदह वर्ष की आयु से पहले ही उन्हें पारिवारिक व्यवसाय में लगा दिया जाता था। 1920 से पहले व्यावहारिक रूप में स्त्री-शिक्षा का व्यापारी वर्ग में सर्वथा अभाव था। इन्हीं कारणों से भारतीय व्यापारी वर्ग राजनीति के प्रति जागरूक नहीं था। इसी तरह 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक राष्ट्रीय राजनीति की संरचना में व्यापारी वर्ग का बहुत ही कम हाथ रहा। बम्बई में कुछ धनिक व्यापारी नवयुवकों ने जो कि अधिकांश रूप से पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त किए हुए पारसी नवयुवक थे, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को आर्थिक सहायता दी।[46] किन्तु जैसे-जैसे राष्ट्रीय राजनीति 1890 के दौरान उग्र रूप धारण करती गयी, अंग्रेजी सरकार के भय से यह सहायता भी कम होती चली गयी।[47] यद्यपि कुछ प्रतिष्ठित व्यापारियों ने बम्बई की नगरपालिका-राजनीति में भाग लेना प्रारंभ किया, किन्तु उनकी भी रुचि स्थानीय समस्याओं से आगे नहीं बढ़ सकी।

स्वदेशी आंदोलन के दौरान पश्चिम भारत के मिल मालिकों ने राष्ट्रीय आंदोलन

45. सी. डोबिन, 'अर्बन लीडरशिप इन वैस्टर्न इंडिया, पालिटिक्स एंड कम्यूनिटिज़ इन बाम्बे सिटी', 1840-1885 आक्सफोर्ड, 1972, पृष्ठ 214-216
46. क्लादे मारकोविच, 'इंडियन बिजनेस एंड नेशलिस्ट पालिटिक्स —1931-39', पृष्ठ 36
47. ए.पी. कन्नगरा, 'इंडियन मिल ओनर्स एंड इंडियन नेशनेलिज्म बिफोर 1914, पास्ट एंड प्रजेण्ट', 40, 1968, पृष्ठ 147-64

में किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं दिया। यहाँ तक कि कलकत्ता के मारवाड़ी कपड़ा व्यापारियों ने तो इसका खुलकर विरोध भी किया। एक इतिहासकार के अनुसार भारतीय व्यापारी वर्ग उन दिनों अंग्रेज सरकार के साथ था।[48] यह कहना अधिक उचित होगा कि वे राजनीति से इसलिए भी दूर थे, क्योंकि उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के कारण वे अपना हित सत्ता के साथ रहने में ही समझते थे और इसी में उन्हें लाभ भी था।

पहली बार, गांधीजी द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व संभालने के बाद इस वर्ग में नये-नये विचारों का विकास हुआ। इससे कलकत्ते का मारवाड़ी वर्ग यह समझ गया कि स्वदेशी आंदोलनों की बढ़ती गति ही उन्हें अंग्रेजी सरकार पर दबाव डालने का मौका दे सकती है। फिर भी बहुत से लोग राष्ट्रीय आंदोलन में पूर्णतया शामिल होने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। इस तरह के आंदोलन से जुड़ने से उन्हें कई कठिनाइयाँ हो सकती थीं। एक तो उन्हें इस बात का खतरा था कि इस तरह का आंदोलन धीरे-धीरे अनियंत्रित जन-आंदोलन का रूप ले सकता है और अपरिपक्व उग्र सुधारवादी लोगों का आंदोलन बन सकता है। दूसरे, इस दौरान सरकारी नीति में जो फेरबदल हुए, वे भी भारतीय व्यापारियों के लिए अधिक हितकर हो गये थे। तीसरे, अधिकांश व्यापारिक फर्मों का भविष्य अंग्रेजी सरकार की कृपा-दृष्टि पर निर्भर करता था। इस कारण भी भारतीय व्यापारी वर्ग राजनीति से जुड़ने के प्रति उदासीन था।

इस सबके बावजूद भारतीय व्यापारी वर्ग पर गांधीजी की स्पष्ट छाप थी। 1921 में उन्होंने तिलक स्वराज कोष के जरिये व्यापारियों से बड़ी रकम इकट्ठी की।[49] अहमदाबाद में गांधीजी का प्रभाव विशेष रूप से रहा, क्योंकि उन्होंने वहाँ के मजदूर आंदोलनों में भाग लिया था। किन्तु कलकत्ता एवं बम्बई के व्यापारी वर्ग की प्रतिक्रिया गांधीजी द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों के प्रति अधिक उत्साहवर्धक नहीं थी।

48. विपिन चंद्रा, 'दि राइज़ एंड ग्रोथ ऑफ इकनौमिक नेशनेलिज्म इन इंडिया, इकनौमिक पालिसीज ऑफ इंडियन नेशनल लीडरशिप 1880-1905', दिल्ली, 1966, पृष्ठ 753
49. गोपाल कृष्ण, 'दि डवलपमेंट ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस एज़ ए मास आर्गेनाइजेशन', 1966, पृष्ठ 413-30

ऐसी ही स्थिति में, कलकत्ते में एक विशेष वर्ग का विकास हुआ, जिसने अपने समाज में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने का कार्य प्रारम्भ किया। यह वर्ग कब उत्पन्न हुआ, इसकी सही जानकारी नहीं है। अनुमानों के आधार पर 19वीं सदी के उत्तरार्ध में इसका विकास माना जा सकता है। इसके विकास में धर्म और जातीय गौरव तथा आत्मसम्मान का आधार मुख्य था। इस वर्ग विशेष का मुख्य उद्देश्य राजनीति में रुचि रखने वाले व्यापारी वर्ग को अपने साथ सम्मिलित करना था। आगे इसी दौर में युवा घनश्यामदास का उन मारवाड़ी नवयुवकों से मेलजोल बढ़ा, जो समाज में नयी जागृति लाने के लिए लालायित थे और जिनके प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक नेताओं से घनिष्ठ संबंध थे। ऐसे लोगों में प्रमुख थे प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका। वह तब कलकत्ता में उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। बाद में उन्होंने वकील, समाज-सुधारक और सांसद के रूप में अच्छा नाम कमाया।

प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका और देवीदत्त जालान जैसे लड़कों ने घनश्यामदास बिड़ला के साथ मिलकर 1911 में चौरंगी में म्यूजियम के सामने एक क्लब की स्थापना की, जो शुरू में 'मारवाड़ी स्पोर्टिंग क्लब' कहलाया और बाद में जिसका नाम 'राजस्थान क्लब' कर दिया गया। इस क्लब में तब मारवाड़ी नवयुवकों को हथियार चलाना सिखाया जाता था। इस वर्ग की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि यह वर्ग एक प्रभावशाली व्यक्ति या एक प्रभावशाली उद्योग-समूह के नेतृत्व में कार्य किया करता था। अन्य व्यापारिक फर्में इस प्रभावशाली व्यक्ति या प्रभावशाली उद्योग समूह से मात्र जुड़ी हुई थीं। उस समय देश में मुख्यतः तीन वर्गों ने राजनीति में रुचि दिखाई। टाटा समूह ने, जो उस समय भारत का सबसे बड़ा व्यावसायिक वर्ग था तथा जिसके अपने विभिन्न व्यावसायिक लाभ के उद्देश्य थे, बम्बई मिल-मालिकों के उस समूह को जो संगठन की नींव थे, संगठित किया।

विभिन्न फर्मों और उद्योगों का यह संगठन न तो जात-पाँत की नींव पर आधारित था और न किसी विशेष समुदाय से ही ताल्लुक रखता था। क्योंकि उस संगठन में पारसी, वानिस और भाटिया के अतिरिक्त दो अन्य गुजराती हिन्दू जातियों को भी सम्मिलित किया गया था। इन सब वर्गों के समान आर्थिक हित, समान राजनीतिक दृष्टिकोण एवं समान अभिरुचियाँ थीं। ये लोग नरम दल या पुराने मध्यमार्गीय कांग्रेसियों के काफी नजदीक थे। अतः इन्होंने गांधीवादी कांग्रेस में

कभी भी अधिक अभिरुचि नहीं दिखाई। इस संगठन को वे लोग अंग्रेजी शासन के विरुद्ध बहुत ही उग्रवादी संगठन मानते थे। बम्बई के व्यावसायिक वर्ग के इस संगठन के प्रमुखों में मोदी एक प्रमुख आर्थिक विशेषज्ञ थे। मोदी टाटा समूह के बहुत निकट थे। कोवासजी जहाँगीर जो कि संगठन को आर्थिक सहायता देते थे, टाटा समूह के साथ भी संबंध रखते थे। ये दोनों लोग बहुत समय तक सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के प्रमुख वक्ता और प्रभावशाली सदस्य रहे।

ठाकुरदास गुट उच्च एवं विकसित सूती वस्त्र उद्योगों का प्रतिनिधित्व करता था। यद्यपि ठाकुरदासजी के बम्बई के मुख्य उद्योगपतियों के साथ, विशेषकर टाटा समूह के साथ, नजदीकी संबंध थे, परन्तु उनका राजनीतिक दृष्टिकोण इनसे भिन्न था। उन्होंने न तो गांधीवादी राष्ट्रीय राजनीति के प्रति कोई रुचि प्रदर्शित की और न उदारवादियों की कोई सहायता ही की। घनश्यामदास बिड़ला की तरह पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का दृष्टिकोण अधिक व्यापक था। उन्होंने अपना ध्यान कलकत्ता और बम्बई की राजनीति तक ही सीमित न रखकर भारतीय उद्योगपतियों को संगठित करने में लगाया, जिससे कि एफ.आई.सी.सी.आई. के विकास में मदद की जा सके। घनश्यामदासजी के साथ पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के मित्रतापूर्ण संबंधों ने बम्बई तथा कलकत्ता के व्यापारिक वर्गों के बीच आपसी संबंध स्थापित कर उस शक्ति को राष्ट्रीय स्वतंत्रता-धारा से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य किया।

देश का तीसरा प्रमुख व्यावसायिक वर्ग बेमेल था तथा इसकी दूसरी मुख्य कड़ी बालचंद हीराचंद थे। उनके साथ गुजरात के कुछ प्रमुख व्यापारिक वर्ग, जैसे मोरारजी किलाचंद तथा खटाऊ थे, जो समुद्री व्यापार कंपनी 'सिन्धिया शिपिंग कारपोरेशन' में साझेदार थे। परन्तु इनकी कुछ अन्य अभिरुचियाँ भी थीं। जैसे मोरारजी का सूती वस्त्र उद्योग के साथ संबंध, खटाऊ का सूती वस्त्र तथा सीमेंट तथा किलाचंद की सूती वस्त्र और खाद्य सामग्री के व्यापार में रुचि। बालचंद आर्थिक राष्ट्रवादी एवं भारतीय व्यापारिक वर्गों में सबसे उग्रवादी सुधारक थे। इन्होंने सिंधिया कंपनी के विकास के लिए अंग्रेज सरकार से दोहरी टक्कर ली। पहली, समुद्री व्यापार की ब्याज की दरों के विरुद्ध तथा दूसरी, सरकार की नीतियों के विरुद्ध। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास कांग्रेस के बहुत नज़दीक नहीं थे, यहाँ तक कि उन्होंने कई बार कांग्रेस की नीतियों का खुलकर विरोध भी किया। पर

घनश्यामदास बिड़ला उत्तरोत्तर महात्मा गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस के समीप होते चले गये। इन्होंने अपनी आर्थिक दृष्टि में राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि माना।

इसी राष्ट्रीय चेतना के प्रमुख धनी बम्बई के जमुनालाल बजाज घनश्यामदास के सम्मान्य मित्र बने। ये दोनों व्यापारी वर्ग के किसी भी गुट में शामिल नहीं थे। ये दोनों कांग्रेस के पक्के समर्थक थे। जमुनालाल बजाज जो कि मारवाड़ के बड़े सूती वस्त्र उद्योगपतियों में से एक थे, कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में गिने जाते थे।

कलकत्ता के मारवाड़ी समाज में चपकनियाँ कहलाए जाने वाले पुरातनपन्थियों से कई मामलों में घनश्यामदास और उसके साथियों की टकराहट हुई। नवयुवक मण्डली परदे के विरुद्ध थी और चाहती थी कि स्त्रियों को घूँघट निकालने के लिए बाध्य न किया जाए। स्त्रियों पर लगे हुए बंधन ढीले किए जाएँ, स्त्रियों को बाजार से गीत गाते हुए जाने के लिए बाध्य न किया जाए। ब्याह-शादियों में सीठनां यानी गा-गाकर गालियाँ देना बंद किया जाए। तेरहवीं पर बिरादरी भोज न किया जाए।

परंपरावादी कलकत्तिया मारवाड़ी घनश्यामदासजी और उनके साथियों के इसलिए भी विरुद्ध थे कि उनके धार्मिक-सामाजिक विचारों पर उन्हें आर्य समाज का प्रभाव दीख रहा था। उन्हें इन नवयुवकों का राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में जुड़ना और गोरांग प्रभुओं से बिगाड़ करना भी खतरनाक लग रहा था। महोश्रवरियों में शुरू में केवल घनश्यामदासजी ही नयी विचारधारा के प्रतिनिधि प्रचारक और प्रवक्ता थे, मगर धीरे-धीरे उन्होंने बिरादरी के और कई प्रमुख व्यक्तियों को अपनी ओर मिला लिया।

राष्ट्रीय संदर्भों में व्यापारी, उद्योगपति समाज में परस्पर विरोध के उदाहरण बम्बई, कलकत्ता के अलावा अहमदाबाद में भी उभरे। कारण एक ओर राष्ट्रहित, स्वतंत्रता की कामना और दूसरी ओर अंग्रेजों से भय और व्यापारिक स्वार्थ। अहमदाबाद में कस्तूर भाई, लाल भाई और शंकर लाल बाला भाई के बीच जो विरोध उत्पन्न हुआ, उसका प्रमुख कारण देशहित के प्रति दोनों का भिन्न दृष्टिकोण था। कस्तूर भाई गांधी के विचारों से काफी प्रभावित थे तथा गांधीवादी श्रमसंघ से समझौता करना चाहते थे। परन्तु मजदूर महाजन शंकरलाल देशहित के कम समर्थक थे तथा इन्होंने गांधीवादी श्रम संगठन के प्रति कठोर रुख अपनाया।

कानपुर में भी बड़ा व्यापारिक वर्ग दो भागों में बँट गया। पहला गुट सर जे.पी. श्रीवास्तव का था जो हिन्दू महासभा का समर्थक था। दूसरा गुट पद्मपत सिंघानिया का था जो सामाजिक सुधारवादी तथा कांग्रेस के समर्थकों का था। बड़े व्यावसायिक वर्ग एवं कांग्रेस के संबंध भारतीय व्यापारिक वर्ग की राजनीति के प्रमुख अंग होते हुए भी भारत की संपूर्ण राजनीति उन संबंधों पर ही निर्भर नहीं थी। अन्य राजनीतिक संगठन जैसे नरम दल तथा हिन्दू महासभा ने भी छोटे तौर पर व्यावसायिक वर्ग के समर्थन को बहुत बार अपनी ओर आकृष्ट किया।

राष्ट्रीय राजनीति क्षेत्र के महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, चितरंजनदास, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और श्रीनिवास शास्त्री आदि व्यक्तियों के चरित्र और कर्म का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि व्यापारी वर्ग राजनीति में रुचि लेने के लिए बाध्य हो गये। इस समय कुछ ऐसे परिवर्तन भी हुए, जिन्होंने व्यापारी-वर्ग की जिज्ञासाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। इन परिवर्तनों का प्रमाण घनश्यामदास बिड़ला के व्यक्तित्व से सबसे ज्यादा मिला। वह एक ओर गांधीजी, लाला लाजपतराय और मदनमोहन मालवीयजी जैसे प्रखर नेताओं के परम भक्त, मित्र और उनके कार्यक्रमों के साथी थे, दूसरी ओर वह अंग्रेजों से चुनौती लेकर उद्योग और स्वराज का योग बैठा रहे थे। बम्बई में शेयर बाजार का महत्व दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा था। मिलों की स्थापना के लिए पूँजी जुटाने का केन्द्र बम्बई ही था। बम्बई शेयर बाजार पर गुजरातियों-भाटियों का वर्चस्व था। इन लोगों ने बिड़लाओं को स्टाक एक्सचेंज का कार्ड नहीं लेने दिया। तब रामेश्वरदास बिड़ला ने श्री सासून, फजल भाई, सर इब्राहिम, हुकमीचंदजी, जमुनालाल जी और नवचंद जी जैसे लोगों के सहयोग से नया शेयर बाजार बनाया, जो बहुत जोर-शोर से चल निकला। अंत में पुराने स्टाक एक्सचेंज वालों को नये स्टाक एक्सचेंज वालों से समझौता करना पड़ा।

युवा घनश्यामदास की बड़ी इच्छा थी कि वह कोई मिल पूरी तरह खुद ही अपने हाथ में लें और औद्योगिक संसार का पूरा अनुभव इसके माध्यम से करें। पहली बड़ी लड़ाई समाप्त होते-होते कुछ कपड़ा मिलें डगमगाने लगी थीं और उनके मालिक उन्हें बेचने को तैयार थे। ऐसी ही एक मिल दिल्ली में बिकाऊ थी, 'गिलहारी मिल' जो बांगला परिवार वालों की थी। लोग चाहते थे कि मिल खरीदने से पहले घनश्यामदास उसको अच्छी तरह जाँच-परख कर लें और मालिकों से

मोल-भाव भी करें। नरसिंहदासजी कोठारी ने उन्हें बताया था कि अगर थोड़ा ठहर कर सौदा करोगे तो भाव काफी टूटेगा। किन्तु घनश्यामदासजी में इस तरह की सलाह मानने के लिए बहुत उत्साह नहीं हुआ। उन्होंने उस समय ही दो ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किए, जो बाद में उसकी औद्योगिक नीति-रीति के विशिष्ट अंग बने। पहला यह कि अंतिम लक्ष्य पुरानी मिलें खरीदना न होकर नयी मिलें स्थापित करना होगा। अनुभव के लिए ही पुरानी मिलें खरीदी जा रही हैं, बड़ा भारी लाभ कमाने के लिए नहीं। दूसरा सिद्धांत यह कि औद्योगिक क्षेत्र में जब कोई बड़ा फैसला कर लिया गया हो, तब किसी छोटे मसले के लिए उसे लटकाये नहीं रखा जा सकता। मिल सस्ती बिक रही है और हमें अनुभव के लिए उसकी जरूरत है, उसे खरीदने का फैसला मुख्य है।

उद्योग क्षेत्र में घनश्यामदासजी का अंग्रेज उद्योगपतियों से सीधा संघर्ष था, इसमें परंपरागत ढंग की गद्दी काफी नहीं थी। अब जरूरत इस बात की थी कि उद्योगों के संचालन के लिए मैनेजिंग एजेंसी पद्धति की कोई व्यवस्था की जाए। इसलिए 1918 में 20 लाख रुपये की पूँजी से कलकत्ता में 'बिड़ला ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड' की स्थापना हुई और इसके साथ ही घनश्यामदासजी बिड़ला बंधुओं में अग्रणी हुए।

बिड़ला ब्रदर्स ने सबसे पहले जूट की मिल लगाने की ओर ध्यान दिया। घनश्यामदासजी को दलाल के रूप में जूट और पटसन के व्यापार का अच्छा अनुभव था और अंग्रेजी मिल-मालिकों से परिचय होने के नाते वह जूट के उद्योग को भी कुछ-कुछ समझने लगे थे। इसी समय कुछ अन्य भारतीय उद्यमी भी जूट-उद्योग में प्रविष्ट होने के लिए यत्नशील थे। इनमें से एक हुकमचंदजी तो मिल लगाने में सफल भी हुए। अंग्रेजों को मारवाड़ियों का जूट उद्योग के क्षेत्र में आना पसंद नहीं था, इसलिए उन्होंने घनश्यामदासजी की राह में हर तरह के रोड़े अटकाये। इस मिल के लिए हुगली नदी के किनारे मौजा पुजाली के जमींदारों से जो जमीन ली गयी थी, अंग्रेजों के इशारे पर जमींदारों ने उसका कब्जा बिड़लाओं को नहीं दिया। मामला कोर्ट-कचहरी में गया। इसी तरह अंग्रेजों ने पौंड-रुपये की विनिमय दर अकारण बहुत अधिक बदल दी। परिणामतः घनश्यामदासजी ने विदेशों में जिन मशीनों के लिए आर्डर दे रखे थे, उनकी लागत इस एक झटके

से ही लगभग दुगुनी हो गयी। फिर भी घनश्यामदास जी ने हिम्मत नहीं हारी और मिल स्थापित करने में जुटे रहे।

उन दिनों एंड्रयूल एंड कंपनी लिमिटेड जूट मिल चलाने वाली प्रमुख मैनेजिंग एजेंसी थी। यद्यपि इसी एजेंसी ने बिड़लाओं के द्वारा जूट मिल स्थापित किए जाने का सबसे अधिक विरोध किया था, इसी ने ही उनके मार्ग में तमाम अड़चनें डलवायी थीं, तथापि अब इसकी शरण में जाने के अलावा और कोई चारा न था। जैसे ही घनश्यामदासजी इस कंपनी के बड़े साहब के दफ्तर में घुसे, उसने बतौर अभिवादन व्यंग्य-बाणों की झड़ी लगा दी। उन जाहिल हिन्दोस्तानियों का मखौल उड़ाया जो अपने बाप-दादों के अपनाए हुए काम को छोड़कर आधुनिक उद्योगों के क्षेत्रों में गोरों से टक्कर लेने चलते हैं, जिन्हें आता-जाता कुछ नहीं है, मगर जो मिल-मालिक बन जाना चाहते हैं। इस तरह की बातें सुनकर घनश्यामदासजी का युवा खून खौल उठा। वह अपने उद्योग-संकल्प पर और दृढ़ हो गये।

दिल्ली की पुरानी मिल के लिए बाहर से बढ़िया नयी मशीनें मँगवायी जायें, घनश्यामदासजी ने यह निर्णय लिया। इसके लिए उन्होंने आर्डर भी दे डाला। तभी वह माता-पिता से मिलने बनारस गये। यह बात अगस्त 1920 की है। वहाँ मालवीयजी ने उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय के समारोह में आमंत्रित किया। उसमें राजा-महाराजाओं की ओर से विश्वविद्यालय के निर्माण-विस्तार के लिए अनुदानों की घोषणा की जाने वाली थी। मालवीयजी बलदेवदासजी के विशेष मित्र थे। वे उनके परिवार के ही एक अंग बन गये थे। घनश्यामदासजी से मालवीयजी पुत्रवत् स्नेह करते थे।

उस समारोह में मालवीयजी ने घनश्यामदासजी से पूछा, ''क्या आप लोग भी ग्वालियर महाराजा की तरह पाँच लाख रुपये अनुदान की घोषणा कर सकते हैं ?''

घनश्यामदास बिड़ला सोचने लगे, इतनी बड़ी राशि बगैर काकोजी और बड़े भाई जुगलकिशोरजी से पूछे कैसे दे दें ? लेकिन दूसरे ही क्षण उन्होंने कहा, ''पंडितजी, आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।''

जब मालवीयजी ने मंच से यह घोषणा की कि महाराजा सिंधिया और घनश्यामदास बिड़ला ने हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए पाँच-पाँच लाख रुपये देना

स्वीकार किया है, तब वहाँ उपस्थित बड़े-बड़े लोगों को यह जिज्ञासा हुई कि यह घनश्यामदास बिड़ला है कौन ? इसी जिज्ञासा के फलस्वरूप ग्वालियर के महाराजा से घनश्यामदासजी का परिचय बढ़ा और दोनों में मैत्री हो गयी। ग्वालियर महाराजा की ओर से यह आग्रह हुआ कि बिड़ला-बंधु ग्वालियर रियासत में उद्योग लगाएँ। इसी को लेकर दोनों में पत्र-व्यवहार हुआ। 30 सितम्बर, 1920 के अपने पत्र में घनश्यामदासजी ने महाराजा को लिखा कि वह ग्वालियर में मिल लगाने को तैयार हैं। इसके उत्तर में महाराजा ने यह पत्र दिया :

माधो विलास, शिवपुरी
7 अक्तूबर, 1920

प्रिय मित्र,

आपके 30 सितम्बर के पत्र के लिए आंतरिक धन्यवाद। ग्वालियर में मिल लगाने के लिए आपके जो विचार हैं, उनके लिए मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। आपका ग्वालियर आना हमारे लिए वरदानस्वरूप होगा। मैं आशा करता हूँ, आप मुझे निराश नहीं करेंगे। उम्मीद है, आप सानन्द हैं।

आपका

मा. सिंधिया

इसके लिए ग्वालियर राज्य की ओर से सुविधाएँ देने का प्रस्ताव भी रखा गया। घनश्यामदासजी को यह प्रस्ताव बहुत आकर्षक लगा और उन्होंने तत्काल यह निर्णय कर लिया कि दिल्ली की मिल के लिए जो नयी मशीनें आ रही हैं, उन्हें ही ग्वालियर की मिल में लगा दिया जाए। इसकी सूचना देते हुए घनश्यामदासजी ने महाराजा को 17 नवंबर को मिल के नक्शे के साथ पत्र लिखा। उसके उत्तर में 19 नवंबर, 1920 को अपनी कृतज्ञता जताते हुए महाराजा ने यह पत्र दिया :

''आपका खत तारीख 17 का मिला। पढ़कर निहायत खुशी हुई। जैसा कि आपने इस वक्त मेरे साथ बरताव किया, उसका मैं बड़ा ममनून और मशकूर हूँ। अब परमेशुर से यही माँगना है कि जो आपने नमूना करके बताया, उस नमूने की ओर लोग देखकर ग्वालियर दौड़ आएं और इस रियासत को सर-सब्ज और आबाद करें, जिसकी निस्बत सिर्फ मैं ही नहीं, बल्के कुल रियासत शुक्रगुजार और ममनून होगी··· ।''

इस क्रिया-कलाप और नव-निर्माण के पीछे घनश्यामदासजी के मन में दो भावनाएँ काम कर रही थीं — देश समृद्ध बने और देश में रोजगार बढ़े।

देश का जो सपना उनकी आँखों में था, उसमें देश खुशहाल, आत्मनिर्भर और समृद्ध था। गांधीजी के चरखे का विरोध उन्होंने कभी नहीं किया, पर वह जानते थे, चरखा आज के युग की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। इसलिए उद्योग लगाना और स्वदेशी कपड़ा बनाना उनका लक्ष्य रहा।

हिन्दू विश्वविद्यालय के समारोह में अनुदान देने की बात पर घनश्यामदासजी थोड़ी देर हिचके थे। यह हिचक और झिझक उनके स्वभाव के विरुद्ध थी, जबकि वह हमेशा चाहते थे कि परोपकार के कार्य में न हिचकें और न झिझकें। इस तरह सन् 21 तक घनश्यामदासजी मारवाड़ी समाज और व्यापारी बिरादरी के एक प्रवक्ता और नेता के रूप में मान्य हो चले थे। इसलिए सन् 21-22 में जब भारत सरकार ने राजस्व नीति के बारे में सुझाव देने के लिए 'फिस्कल कमीशन' बैठाया, तब सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जैसे अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के साथ घनश्यामदास बिड़ला को उसकी सदस्यता प्रदान की गयी।

उस समय तक लोगों ने घनश्यामदासजी का एक दूसरा पक्ष भी देखा। वह अक्सर गांधीजी के साथ लोगों को दिखने लगे थे। इसी कारण जब 26 मार्च, 1921 को कलकत्ता में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ग्यारहवाँ अधिवेशन हुआ, तब स्वागताध्यक्ष का पद घनश्यामदासजी को ही सौंपा गया।

27 साल की आयु होते-होते घनश्यामदासजी की समृद्धि की बुनियादें जड़ पकड़ चुकी थीं। अब वह उद्योग समुदाय और सरकार दोनों की ही नज़रों में अपनी बुद्धिमत्ता और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। उनका दृष्टिकोण एक व्यावहारिक देशभक्त का था। वह ठोस काम में विश्वास करते थे। व्यर्थ की नारेबाजी और अपनी वीरता के प्रदर्शन में उनका विश्वास नहीं था।

घनश्यामदासजी ने अपने निजी स्वार्थ के लिए कभी भी देश-हित की उपेक्षा नहीं की। उन्हें पूरी तरह से इस बात का ज्ञान था कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन तथा भारत की समृद्धि भारतीय औद्योगिक उन्नति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति ही स्वतंत्रता आंदोलन का बल दे सकती है।

इस कारण बहुत पहले से ही वह औद्योगिक प्रतिष्ठानों को शक्तिशाली बनाने की चेष्टा में लग गये थे, ताकि स्वतंत्रता आंदोलन को आर्थिक बल मिल सके।

तीसरा भाग

योगदान

पहला अध्याय

स्वतंत्रता संघर्ष के लक्ष्य

बंगाल के अंग-भंग की घटना अंग्रेजों और भारतवासियों की इच्छाशक्तियों के टकराव के रूप में प्रकट होने लगी। एक ओर साम्राज्यवादी ब्रिटेन की इच्छाशक्ति और दूसरी ओर भारतीय जनता का मनोबल, इनके दृश्य जनसमुदाय के समक्ष उभरने लगे। विशेषकर जब लोगों को यह पता चला कि ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना का भारत-सचिव ने अनुमोदन कर दिया है तो उन्हें गहरा आघात पहुँचा और आंदोलन और भी जोर पकड़ गया। यहीं से स्वराज संघर्ष की दिशा में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई। सक्रिय और आक्रामक आंदोलन छिड़ गया और स्वावलंबन की नयी भारतीय भावना का संदेश जन-जन के मन तक पहुँचाया जाने लगा। प्रतिदिन जोश बढ़ता गया। स्वदेशी और बहिष्कार संबंधी प्रस्तावों को बड़े उत्साह से स्वीकार किया गया। आंदोलन बंगाल की सीमाओं से बाहर फैल गया। संयुक्त प्रांत, पंजाब, महाराष्ट्र और देश के अन्य भागों में जागृति आरंभ हुई। कलकत्ता केन्द्र बना रहा और कार्यक्रमों के निर्माण तथा आंदोलन के तरीकों के बारे में देश-भर का मार्गदर्शन करता रहा।

अब जो रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया, उसमें विदेशी वस्त्र बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज के लक्ष्य की ओर बढ़ने की आकांक्षा को शामिल किया गया। आंदोलन राजनीतिक विचारों के ध्रुवीकरण की दिशा में भी बढ़ रहा था। जिस तेजी से आंदोलन बढ़ा, उसके लिए कई बातें अनुकूल थीं। बंगाल का यह सौभाग्य था कि उसने अनेक सुयोग्य नेता दिए। उन तूफानी दिनों में कलकत्ता में और जिलों में भी उदात्त निष्ठा और नैतिकता, उच्च बौद्धिक क्षमता, संगठन-शक्ति, साहस, दृढ़ता, वक्तृत्व-शक्ति तथा मातृभूमि के प्रति सोत्साह समर्पण की भावना वाले अनेक व्यक्ति थे। उनकी सूची बहुत लम्बी है, लेकिन कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं: गुरुदास बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सतीशचंद्र

मुखर्जी, मोतीलाल घोष, आनन्द मोहन बोस, रमेश चंद्र दत्त, बिपिन चन्द्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त, अम्बिका चरण मजुमदार तथा के.के. मित्र।[50]

कलकत्ते में घनश्यामदासजी ने उस समय देखा, कांग्रेस भी दो गुटों में बँटी है। एक गुट के नेता देशबंधु चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू थे। यह गुट परिवर्तनवादी कहलाता था। उसका मत था कि समय सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रतिकूल है। इस गुट के लोग चाहते थे कि नवीन विधानमंडलों में प्रवेश से राजनीतिक प्रचार के जो अवसर मिलेंगे, उनका लाभ उठाया जाए तथा कांग्रेस को इस बात के लिए राजी किया जाए कि विधानमंडलों के प्रवेश पर जो रोक लगाई गयी है, वह हटा दी जाए।

दूसरा गुट अपरिवर्तनवादी था। उसका कहना था सविनय अवज्ञा ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे सरकार निष्क्रिय की जा सकती है और स्वराज प्राप्त किया जा सकता है। उनके अनुसार विधानमंडलों में प्रवेश का कार्यक्रम शक्ति का अपव्यय था। इसके अलावा ऐसा करने के लिए सन् 1920 में नागपुर में जो कार्यक्रम निर्धारित किया गया था, वह भी त्यागना पड़ता।

परिवर्तनवादियों ने गांधीजी की रिहाई के पूर्व ही अपना रास्ता तय कर लिया था। किन्तु दिसम्बर, 1922 में गया अधिवेशन में ये लोग विधानमंडलों में प्रवेश की अनुमति कांग्रेस से प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाए। लेकिन इससे परिवर्तनवादी हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने चुनाव लड़ने के लिए जनवरी 1923 में नववर्ष के दिन स्वराज पार्टी स्थापित की। अपरिवर्तनवादी कांग्रेस में फूट पड़ने के भय से अत्यन्त सशंक हो उठे। सितम्बर, 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन किया गया। इसमें स्वराज पार्टी को अपना कार्यक्रम जारी रखने की अनुमति दे दी गयी। जब दिसम्बर में काकीनाडा में नियमित अधिवेशन हुआ, तब दिल्ली अधिवेशन के प्रस्ताव की पुष्टि कर दी गयी।

मार्च 1924 में गांधीजी जब गंभीर शल्यचिकित्सा के बाद बम्बई के जुहू तट पर आरोग्य लाभ के लिए जेल से आये, तब अप्रैल में उनके दर्शन करने घनश्यामदासजी उनके पास पहुँचे। उन्हीं दिनों देशबंधु चितरंजनदास और

50. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास (खंड 3), ताराचंद, पृष्ठ 335

मोतीलाल नेहरू विधानमंडलों के बहिष्कार को समाप्त करने के लिए उन्हें मनाने आये तो गांधीजी ने उनकी बात नहीं मानी। गांधीजी दोनों नेताओं की दलीलों से संतुष्ट नहीं हुए। फिर भी गांधीजी इन नेताओं के मार्ग में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करना चाहते थे और न उनकी यह इच्छा थी कि उन दोनों नेताओं के खिलाफ कोई प्रचार किया जाए। सच तो यह था कि बाद में बंगाल सरकार ने जब चितरंजनदास और स्वराजवादियों के खिलाफ अभियान छेड़ा और 25 अक्तूबर, 1924 को अध्यादेश जारी करके उनके घरों की तलाशियों और व्यापक गिरफ्तारियों की मंजूरी दे दी तो गांधीजी तुरंत कलकत्ता गये। 6 नवम्बर, 1924 को जो वक्तव्य स्वराजवादियों का समर्थन करते हुए प्रकाशित किया गया, उस पर गांधीजी, देशबंधु और मोतीलाल नेहरू, तीनों के हस्ताक्षर थे। वक्तव्य में सिफारिश की गयी थी कि स्वराज पार्टी को केन्द्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों के सिलसिले में कांग्रेस के अभिन्न अंग के रूप में और कांग्रेस की ओर से कार्य करते रहना चाहिए। बाद में अखिल भारतीय कांग्रेस ने बेलगाँव कांग्रेस अधिवेशन में यह सिफारिश स्वीकार कर ली और वक्तव्य पर अपनी मंजूरी की मोहर लगा दी।

अपने इस उदारतापूर्ण कार्य से गांधीजी ने कांग्रेसजनों के दो गुटों की आंतरिक कलह समाप्त कर दी। दोनों गुटों के कार्यकर्ता समान राष्ट्रीय हितों के संवर्धन के लिए एक-दूसरे की सहायता करते हुए कार्यक्रमों को कार्यरूप देने के लिए मुक्त हो गये।

गांधीजी के सत्संग में आकर घनश्यामदासजी जान गये कि स्वाधीनता की लड़ाई अंग्रेजी सरकार तथा उसकी सशस्त्र सेनाओं और शिक्षित मध्यवर्गीय भारतीयों के बीच नहीं है। दरअसल उन्हें ''शिक्षितों के हृदय की कठोरता'' नापसंद थी। गांधीजी का ख्याल था कि ये लोग संसदीय-व्यवस्था और पदों के अत्यधिक लोलुप हैं, इसलिए स्वाधीनता संघर्ष में दिलोजान से नहीं जुट सकते, क्योंकि उसके लिए लम्बे अरसे तक बहुत अधिक बलिदानों की आवश्यकता है। अतएव भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के बारे में उनके और शिक्षित वर्ग के दृष्टिकोण में मौलिक अंतर था।

सन् 1924 में गांधीजी के सामने बड़ी विषम स्थिति थी। कांग्रेसजन असहयोग और बहिष्कार की बातें तो करते थे, किन्तु उनमें संघर्ष की भावना जैसे लुप्त हो

गयी थी। अनेक कांग्रेस नेता निष्क्रियता और विफलता से बचने के लिए विधानमंडलों में प्रवेश के अपेक्षाकृत कम कठिन विकल्प को प्रतिरोध का भाव बनाए रखने का साधन समझने लगे थे।

असहयोग के दिनों में उपाधि-त्याग आमबात हो गयी थी, किन्तु नयी परिस्थितियों में लोग बहिष्कार आंदोलन से आकृष्ट नहीं हो रहे थे। वकील अपने व्यवसाय के सिलसिले में अदालतों में जाने लगे थे। सरकारी या सरकार द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में छात्र बड़ी संख्या में पहुँचने लगे थे। पाँच सूत्री बहिष्कार अभियान में स्वदेशी तथा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की जो बात थी, उसके प्रति भी लोगों का समर्थन आधा-अधूरा था।

आंदोलन के इसी चरण से स्वराज संघर्ष के लिए जनमत खड़ा करने के लिए समाचार-पत्र की अनिवार्यता महसूस की। उन दिनों कलकत्ते में कुछ बंगला समाचार-पत्रों ने बंगला के साथ-साथ हिन्दी में समाचार तथा आलेख प्रकाशित करने शुरू किए। इस दिशा में भारतीयों द्वारा संपादित अंग्रेजी अखबारों ने और बंगला भाषा-पत्रों ने जनमत को दिशा-निर्देश देने में प्रमुख भूमिका निभाई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा संपादित 'बंगाली' और मोतीलाल घोष के 'अमृतबाजार पत्रिका' ने सरकार की अत्यंत निर्भीकता से आलोचना की। उनसे भी अधिक तीखे प्रहार कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले बंगला समाचार-पत्रों 'संजीवनी', 'हितवादी', 'बसुमति' तथा मैनन सिंह के 'चारु मिहिर', खलना के 'हितैषी', 'ढाका प्रकाश' ने किए। सबसे अधिक स्पष्टवक्ता पत्र ब्रह्म बांधव उपाध्याय द्वारा संपादित 'संध्या' था। बंगला पत्रों का उन लोगों में काफी प्रचलन था, जो अंग्रेजी नहीं जानते थे और ब्रिटिश विरोधी अभिमत के प्रचार-प्रसार में उनके प्रभाव ने बहुत अधिक काम किया।

स्वदेशी और बहिष्कार के प्रचार-प्रसार और आंदोलन के समर्थन का मुख्य साधन बंगाली युवा-वर्ग था और इन सबके पीछे आर्थिक और भावात्मक सहयोग था कलकत्ते में स्थापित होते हुए नये युवा उद्योगपतियों का।

इस क्षेत्र में 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के साथ जब महात्मा गांधी का पदार्पण हुआ, तभी से घनश्यामदासजी का सहयोग इस कार्य में शुरू हुआ।

13 मई, 1924 जुहू, बम्बई से घनश्यामदासजी को लिखा हुआ महात्मा गांधी का यह पत्र उल्लेखनीय है : "आपकी तरफ से मुझे 5,000 रुपये मिल गये हैं। 'यंग इंडिया', 'नवजीवन' के लिए आप उचित समझें, उतना द्रव्य भेज दें। करीब 50 नकल मुफ्त देने की आवश्यकता है।"[51]

इसके साथ ही घनश्यामदासजी ने गांधीजी का ध्यान भारतीय समाज के धर्मसंकट और कौटुम्बिक दुर्बलताओं की ओर भी आकृष्ट किया। उन्होंने आग्रह किया, "आप 'नवजीवन' में सामाजिक विषयों पर कुछ लिखें तो लोगों का अत्यंत उपकार भी हो सकता है।" उस समय भारतीय जनमानस में बड़ा विचारमंथन हो रहा था, क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन में अहिंसा के नाम से हिंसा का नाटक खेला जा रहा था। लोगों के दिल और दिमाग में गांधीजी की अहिंसा के प्रति तमाम शंकाएँ उठ रही थीं। लोग गांधीजी से शंका-निवारण करना चाह रहे थे, पर व्यावहारिक रूप से उनसे सीधे प्रश्न करने में असमर्थ थे। घनश्यामदासजी के दिमाग में यह बात आयी कि 'नवजीवन' को ही ऐसा विचारमंच क्यों न बनाया जाए, जिसके माध्यम से लोग गांधीजी से ही शंका-निवारण कर सकें। इसकी पहल स्वयं घनश्यामदासजी ने की। 11 जून, 1924 को पिलानी से उन्होंने गांधीजी को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम और हिंसा-अहिंसा के संदर्भ में उनसे मार्गनिर्देश की कामना की। इस समय घनश्यामदासजी की चिंता समाचार-पत्र प्रकाशन और जनमत स्थापित करने की दिशा में अत्यधिक थी।

स्वराज के पथ पर कैसे अग्रसर हुआ जाए, इसकी रूपरेखा उनके सामने स्पष्ट हो गयी। जनवरी 1921 में घनश्यामदासजी बिड़ला ने महाराजा कासिम बाजार और सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के साथ मिलकर कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले एक अंग्रेजी दैनिक 'द बंगाली' को खरीद लिया। इसके अतिरिक्त 'न्यू एम्पायर' नामक एक अंग्रेजी दैनिक पत्र को भी अपने स्वत्वाधिकार में कर लिया। समाचार-पत्रों पर उन दिनों बेतरह अंकुश लगे थे। उन्होंने इन दोनों पत्रों को राष्ट्रीय विचारधारा का मुख-पत्र बनाया। बिड़लाजी ने अपनी देख-रेख में नये प्रबंध के अंतर्गत प्रकाशित पत्र के 19 जनवरी, 1922 के संपादकीय में नयी राष्ट्रीय नीति की घोषणा इन शब्दों में की, "न्यायोचित और सही बात के लिए अड़कर खड़े होना, 'बंगाली'

51. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 122

का ठीक और शुभ घड़ी में खड़े होना और सही ईमानदार भावना के साथ खड़े होना।"[52] आगे चलकर इसी दिशा में अक्तूबर 1924 को मदनमोहन मालवीयजी के साथ मिलकर घनश्यामदासजी ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को खरीदा और मालवीयजी के संरक्षण में इसे स्वतंत्रता संग्राम के लिए न्यौछावर कर दिया।

1924 का समय 'हिन्दुस्तान टाइम्स' जैसे समाचार-पत्र के माध्यम से दो रूपों में प्रकट हो रहा था। एक, विश्व के सबसे बड़े साहूकार देश, तैयार माल के विश्व-निर्यात की मुक्त मंडी और विश्व अर्थव्यवस्था की धुरी के रूप में ब्रिटेन का महत्व कम हो गया था। मुख्य साहूकार देश के रूप में अमरीका ने ब्रिटेन का स्थान ले लिया था, क्योंकि उसका उत्पादन बढ़ चुका था और उसके उद्योग विकसित हो चुके थे। इस प्रकार ब्रिटेन के औद्योगिक विकास की गति में गिरावट, विश्व व्यापार में उसके हिस्से में कमी, उसके आयात में वृद्धि, विदेशी पूँजी निवेश से होने वाले लाभ के ह्रास और डोमिनियनों तथा उपनिवेशों में उद्योगों के विस्तार से उसकी आर्थिक शक्ति स्थान-च्युत हो गयी।इस कमज़ोरी को दूर करने के लिए दुबारा स्वर्णमान का सहारा लिया गया। लेकिन उसके नतीजे पूरी तरह लाभदायक नहीं रहे। राष्ट्रीय आय में गिरावट और बेरोज़गारी में वृद्धि तथा तेजी-मंदी के दुश्चक्र के महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक परिणाम प्रकट हुए।

दूसरी ओर सामाजिक असंतोष राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिबिंबित हो रहा था। विश्वयुद्ध से पहले कंजर्वेटिव और लिबरल दलों में जो सामाजिक समरूपता थी, वह समाप्त हो रही थी। एक तीसरा दल उभर रहा था, जिसका वर्गगत आधार भिन्न था, आर्थिक हित भिन्न थे, सैद्धांतिक दृष्टिकोण भिन्न था तथा सरकार के कार्यों और उद्देश्यों की धारणा भिन्न थी। उसने घरेलू और विदेश नीतियों को नयी दिशाएँ देने का प्रयास किया।

अक्तूबर 1924 के आम चुनावों में कंजर्वेटिव दल भारी बहुमत से सत्ता में आया। अगले पाँच वर्षों के लिए प्रधानमंत्री स्टेनली वाल्डविन इंगलैंड की शासकीय मेधा के रूप में चमके। यह स्वदेश में ब्रिटिश राजनीति का एक शांतिपूर्ण युग था। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लीग ऑफ नेशंस की प्रतिष्ठा और प्रभाव लगातार घटता

52. देशभक्त उद्योग प्रवर्तक, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 25

जा रहा था। विभिन्न शक्तियों के बीच सौहार्द के लिए एक-दो लड़खड़ाते प्रयास किए गये। 1926 में लोकार्नो संधि और 1928 में केलाग-ब्रायंड संधि के अंतर्गत राष्ट्रीय नीति के अंग के रूप में युद्ध की भर्त्सना की गयी। लेकिन ये दोनों ही संधियाँ न जर्मनी को वार्साई की संधि को निराकृत करने के लिए सक्रिय होने से, न जापान को मंचूरिया पर हमला करने से और न इटली को इथियोपिया पर आक्रमण करने से रोक सकीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की स्थिति ब्रिटेन के लिए कतई अनुकूल नहीं थी, जिसकी यदि रोज़ी नहीं तो समृद्धि अवश्य ही अधिकांशतः उसके विदेशी व्यापार पर निर्भर थी। इस प्रकार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित वह 'समय' ब्रिटेन के लिए परस्पर टकराहट वाली प्रवृत्तियों का था। इनमें से कुछ से यह संकेत मिलता था कि उसकी शक्ति क्षीण हो रही है और विश्व के मामलों में उसे मुँह की खानी पड़ रही है। हालाँकि ह्रास के लक्षणों का औचित्य सिद्ध कर सकने वाली कोई बात नहीं दिखाई देती थी, तथापि ब्रिटिश लेखकों की खिन्न कलम से आसन्न त्रासदी और विशृंखल समाज की विचित्र कल्पनाएँ उभर रही थीं।

सन् 1921 में बंगाल में प्रशासन का भारतीयकरण करने के लिए नयी कौंसिल का गठन हुआ। उस समय घनश्यामदासजी बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य मनोनीत किए गये। वहाँ भारतीय वित्त-व्यवस्था तथा संरक्षण-नीति का उन्होंने प्रतिपादन किया। इसी से प्रभावित होकर उन दिनों अंग्रेज सरकार ने उन्हें सम्मान देने के लिए 'नाइटहुड' या 'सर' की उपाधि देनी चाही, परंतु जिस व्यक्ति के मन में राष्ट्रीयता इतने गहरे बैठी हुई थी, वह ब्रिटिश सरकार की दी हुई उपाधि कैसे स्वीकार करता? उनके इस निर्णय से गांधीजी प्रभावित हुए। उन्होंने यह बात घनश्यामदासजी से स्पष्ट भी कर दी। गांधीजी घनश्यामदासजी को अपना अभिन्न सहयोगी मानने लगे।

दूसरा अध्याय

केन्द्रीय विधानसभा में देश-हित के लिए संघर्ष

जनवरी 1924 में इंगलैंड में लेबर पार्टी पदारूढ़ हो गयी। परंतु हाउस ऑफ कामन्स में इसका बहुमत नहीं था, इसलिए सरकार चलाने के लिए इसे उदार दल के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। रेमसे मैक्डोनल्ड प्रधानमंत्री और लार्ड ओलीवर भारत सचिव बने। भारत के राजनीतिक क्षेत्रों में लेबर सरकार के पदारूढ़ होने पर हर्ष व्यक्त किया गया और उसका अभिनंदन किया गया। बड़ी-बड़ी आशाएँ हुईं, क्योंकि लेबर पार्टी भारत को स्वराज देने के लिए वचनबद्ध थी।

परंतु सत्ता-प्राप्ति के बाद उसका स्वर बदल गया। ब्रिटिश राजनीति का यह माना हुआ सिद्धांत था कि भारत का प्रश्न दलगत प्रश्न नहीं है। यह समूचे राष्ट्र का प्रश्न है। लेबर सरकार भी इसी सिद्धांत पर चलने लगी। 31 जनवरी, 1924 को रीडिंग ने विधानसभा से कहा कि "यह ब्रिटिश राष्ट्र की नीति है, किसी दल की नीति नहीं है।" संसद में लेबर पार्टी के प्रवक्ताओं ने सारी पुरानी दलीलें दोहराईं, परंतु कांग्रेस का यह दावा मानने से इंकार किया कि उसकी माँग राष्ट्र की माँग है।

इन आधारों पर भारत के लिए स्वशासन की माँग का कांग्रेस का दावा ठुकरा दिया गया। क्योंकि कांग्रेस न तो आम लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी, न दलित जातियों का और न मुसलमानों का और ये ही सब लोग मिलकर भारतीय जनता का बहुमत बनाने वाले थे। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों और जमींदारों के हितों पर भी विचार करना था। ये लोग कांग्रेस के साथ नहीं थे।

इससे यह नतीजा निकलता था कि शिक्षित हिन्दुओं का शोर मचाने वाला, किन्तु छोटा सा दल सम्पूर्ण भारत की ओर से बोलने का साहस कर रहा था।

इंगलैंड और भारत की इन घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड की संसद और भारत की विधानसभा में दूर-दूर से और तीसरे दलों के माध्यम से बात

शुरू हुई। सरकार ने कांग्रेस से कहा कि सुधारों का उपयोग करने के विषय में सहयोग किया जाए। सरकार ने इस बात पर भी जोर दिया कि उत्तरदायी सरकार का स्वरूप और उसकी ओर बढ़ने की गति और मंजिलों का निश्चय करने का अधिकार संसद को ही है।

भारत के राष्ट्रीय सदस्यों का कहना था कि नकली राजनीतिक तंत्र का उपयोग करना संभव नहीं है। केवल यह किया जा सकता है कि इसकी व्यर्थता बतला दी जाये। स्वराज पार्टी ने काउंसिलों में इसलिए प्रवेश किया कि 1919 के कानून को अव्यावहारिक बतलाया जाए और यह दिखलाया जाए कि प्रांतों में सत्ता का हस्तान्तरण केवल दिखावा है और निस्सार है।

विधानसभा के प्रथम अधिवेशन में ही यह स्पष्ट हो गया कि बहस निस्सार थी और बहुमत का कोई प्रभाव नहीं होता था। जनतंत्रीय तरीका नहीं माना जाता था। अगले अधिवेशनों और वर्षों में बार-बार इसकी पुष्टि होती रही। जब कार्यकारिणी अनुत्तरदायी थी और विधानसभा का चुनाव पूर्णरूप से नहीं हुआ था, तो दूसरा नतीजा ही क्या हो सकता था ?

5 फरवरी, 1924 को रंगाचारियर ने विधानसभा में एक प्रस्ताव पेश किया कि 1919 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट का संशोधन किया जाये।

साइमन सांविधिक आयोग भारत में उस समय आया, जब यहाँ भारी आर्थिक संकट था। 1926 का वर्ष, शांत वर्षों में अंतिम वर्ष था। फिर 1927 में भावी तूफान के चिह्न प्रकट होने लगे। कृषि और उद्योग में संकट बढ़ने लगा। 74 प्रतिशत लोग कृषक थे, जो भयंकर निर्धनता से दबे हुए थे, क्योंकि इनमें लाखों आदमी मुश्किल से अपना पेट भर पाते थे। इसके अतिरिक्त इनका ऋण भार बढ़ता जाता था, इनकी जमीनों के टुकड़े हो रहे थे। पूर्ण बेरोजगारी या अर्द्धबेरोजगारी थी।

इस बढ़ते हुए संकट का तात्कालिक कारण यह था, भारत से आयात होने वाले कच्चे माल के मूल्य 1926-27 में अचानक विश्व के बाजारों में गिर गये। 1925-26 में निर्यात से जो आय हुई थी, उसमें 20 प्रतिशत की कमी आ गयी। भारत को आयात के सामान का, जो मशीन से बना हुआ माल होता था, अधिक

मूल्य देना पड़ा। यह प्रवृत्ति अगले वर्ष बनी रही। 1925-26 में निर्यात 385 करोड़, 1926-27 में 309 करोड़ और 1929-30 में 311 करोड़ का हुआ। रुई, पटसन, अनाज आदि से आय में कमी होने से गाँव के लोगों को बड़ी ठेस लगी। इससे उनका जीवनस्तर नीचा हो गया, जिससे उनका असंतोष बढ़ गया। इसका किसी भी दिन विस्फोट हो सकता था, जैसा कि 1928 में बारदोली में हुआ।

बाहर से आयी हुई चीजों जैसे कि कपड़े के मूल्य में वृद्धि के कारण मजदूरों पर भार बढ़ गया। उनकी मजदूरी मूल्य वृद्धि के साथ-साथ नहीं बढ़ी थी। इस असंतोष के कारण भारत के उद्योगों में जैसे कपड़े और पटसन के कारखानों में और रेलवे में हड़तालें हुईं। केवल 1926 में 11 लाख श्रम दिवस नष्ट हो गये। हड़तालें शांतिमय थीं। 1927-28 में यह क्षति दुगुनी हो गयी। अगले वर्ष 31 लाख 6 हजार श्रमदिन व्यर्थ गये। बम्बई प्रांत के टाटा के लोहे और इस्पात के कारखानों, बंगाल के पटसन के कारखानों और पूर्व भारत और दक्षिण भारत रेलवे के श्रमकारों ने लम्बी-लम्बी हड़तालें कीं। बंगाल में बमनगचिया में गोली चली।

सन् 1928-29 की सरकारी रिपोर्ट में लिखा है, ''पिछले वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष भारत का औद्योगिक जीवन अधिक विघ्नमय रहा।''

1929-30 में संसार की आर्थिक मंदी जो अमरीका से शुरू हुई थी, यूरोप महाद्वीप में आ पहुँची और फिर उसकी छाया भारत की आर्थिक अवस्था पर भी पड़ने लगी। भारत के विदेश व्यापार को और भारतीय उद्योगों को जोर का धक्का लगा और संकट सर्वव्यापी हो गया।

भारत की इस राजनीतिक आर्थिक पृष्ठभूमि में सन् 1927 में घनश्यामदासजी गोरखपुर-बनारस गैर मुस्लिम ग्रामीण निर्वाचन क्षेत्र से केन्द्रीय विधानसभा (सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली) के सदस्य निर्वाचित हुए।

उन दिनों लाला लाजपत राय और पंडित मदनमोहन मालवीय ने स्वराज्य दल बनाकर पंडित मोतीलाल नेहरू का साथ दिया। कुछ समय बाद मोतीलाल नेहरू से किन्हीं प्रश्नों पर मतभेद होने के कारण लालाजी और मालवीयजी ने स्वतंत्र राष्ट्रीय दल का गठन किया। घनश्यामदासजी को भी उन्होंने उस दल का सदस्य बनाया। आगे चलकर इस दल ने गोरखपुर-बनारस निर्वाचन क्षेत्र से काशी के

सुप्रसिद्ध विद्वान भगवानदासजी के सुपुत्र श्री प्रकाशजी के विरुद्ध घनश्यामदासजी को चुनाव लड़वाया। चुनाव में घनश्यामदासजी विजयी हुए।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि चुनाव दो विनम्र और शीलवान व्यक्तियों के बीच था। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि श्री प्रकाशजी चुनाव में पराजित हो गये, लेकिन उनके घनश्यामदासजी के साथ वैसे ही मधुर संबंध बने रहे। वास्तव में यह मधुर संबंध समय के साथ और भी बढ़ते गये और अपनी मृत्यु तक वह न केवल घनश्यामदासजी, बल्कि माधवप्रसादजी और लक्ष्मीनिवासजी के भी अभिन्न मित्र बने रहे।

उस समय राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय रहने पर भी घनश्यामदासजी एक दूसरे स्तर पर भी कार्यरत थे। वह हमेशा राष्ट्रीय पूँजी की खोज और उसके निर्माण में लगे रहते थे। राजनीति के क्षेत्र में ऐसी दृष्टि रहने के कारण ही उन्हें विजय प्राप्त हुई। एक सम्पत्ति गांधीजी के रूप में उन्हें मिल चुकी थी, वह जान गये थे कि गांधीजी एक राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं, जिनके हाथों में 'अर्थ' आते ही वस्तुतः चमत्कार हो सकता है। इसीलिए उन्होंने अपना ध्यान देश की समृद्धि की ओर लगाया, ताकि राष्ट्रीय सम्पत्ति क्रियाशील और अर्थवान हो।

घनश्यामदासजी 1927 से 1930 तक केन्द्रीय विधानसभा के सदस्य थे। उन्होंने विधानसभा की कार्यवाहियों में सक्रिय रूप से भाग लिया और देश के हित को अग्रसर करने का सदैव प्रयास किया। निःसंदेह, उनकी विशेष रुचि आर्थिक मामलों में थी, क्योंकि वह उस क्षेत्र के एक विशेषज्ञ थे, किंतु सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक विषयों में भी उनकी रुचि कम नहीं थी। विधानसभा में उनके भाषणों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्पष्ट एवं दृढ़ विचारों वाले व्यक्ति थे, जो अपनी बात घुमा-फिरा कर कहने के बजाए स्पष्ट शब्दों में कहने के आदी थे। कभी-कभी उनके कथन में एक अजीब सा तीखापन होता था, जो इस बात का द्योतक था कि वह तत्कालीन विदेशी शासन की नीतियों से बिल्कुल सहमत नहीं थे और उसका शीघ्रातिशीघ्र अंत देखना चाहते थे। उनके मन में एक प्रकार की छटपटाहट थी, अपने देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त होकर प्रगति एवं सम्पन्नता के पथ पर अग्रसर होते हुए देखने की। विदेशी शासकों की नेकनियती पर उन्हें अधिक विश्वास नहीं था और उनकी मान्यता थी कि अंग्रेज इस देश का हर दृष्टि

से शोषण करने, यहाँ के देशवासियों को हतोत्साहित और हीनभावनाग्रस्त करने तथा उन्हें उनकी संस्कृति से काटने के लिए सदैव प्रयत्नशील थे।

यह बात 1927 के जनवरी मास की 25 तारीख की है। उस दिन विधानसभा में 'गोल्ड स्टैंडर्ड एंड रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया बिल' (स्वर्ण मानक और भारतीय रिज़र्व बैंक विधेयक) पर बहस चल रही थी। घनश्यामदासजी ने उस बहस के दौरान, अन्य बातों के साथ, प्रस्तावित भारतीय रिज़र्व बैंक की प्रबंध व्यवस्था में भारतीयों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाते हुए कहा था कि उक्त बिल (विधेयक) में रिज़र्व बैंक से संबंधित बोर्ड और प्रबंध व्यवस्था में भारतीयों के प्रतिनिधित्व के बारे में पर्याप्त स्थान नहीं है। इस बात की कोई गारंटी भी नहीं है कि इस नये रिज़र्व बैंक के प्रशासन में वित्त विशेषज्ञों के एक विशेष समूह अथवा एक विशेष समुदाय का प्रभुत्व नहीं होगा। उनका विचार था कि नये भारतीय रिज़र्व बैंक के बोर्ड एवं प्रबंध व्यवस्था में भारतीयों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और उसकी गतिविधियों पर उनका उचित नियंत्रण भी होना चाहिए।[53] उसी बिल पर और आगे विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था कि इस बात की भी व्यवस्था होनी चाहिए कि हमारे देश के स्वर्ण का भारत सरकार की प्रतिभूतियों के सिवाय स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में या किन्हीं अन्य प्रतिभूतियों में बड़े पैमाने पर विनिधान नहीं किया जाना चाहिए।[54] बैंक अनुसूची के संबंध में उन्होंने कहा कि उसमें जिन बैंक के नाम सम्मिलित किए गये हैं, उनमें से बहुत से बैंक तो ऐसे हैं, जिनका भारतीय उद्योगों या भारतीय व्यापार से कोई विशेष संबंध नहीं है। उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि उस अनुसूची में जापान, फ्रांस और इंगलैंड के कुछ ऐसे बैंकों के नाम हैं, जिनका भारतीय व्यापार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी प्रकार का संबंध नहीं है। उनका सुझाव था कि भारत के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखते हुए तथा भारतीय उद्योगों और व्यापार के फायदे की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उक्त अनुसूची में और अधिक भारतीय बैंकों के नाम सम्मिलित किए जाएँ और ऐसे बैंकों के नाम उनमें से निकाल दिए जाएँ, जिनका भारतीय कारोबार और व्यापार से अधिक सरोकार नहीं है।[55]

53. विधानसभा वाद-विवाद (1927) भाग I, पृष्ठ 75
54. विधानसभा वाद-विवाद (1927) भाग I, पृष्ठ 75
55. विधानसभा वाद-विवाद (1927) भाग I, पृष्ठ 76

स्टील इंडस्ट्री प्रोटेक्शन बिल (इस्पात उद्योग संरक्षण विधेयक) पर बहस के दौरान विधानसभा के कई सदस्यों ने यह शंका व्यक्त की थी कि उस बिल में साम्राज्य अधिमान (इंपीरियल प्रिफरेंस) की नीति अंतर्निहित है, जो उचित नहीं। इस नीति का तात्पर्य दूसरे देशों से आये हुए माल (इस्पात) की अपेक्षा इंगलैंड से आने वाले माल पर कम कर लगाना था। घनश्यामदासजी ने भी इस नीति का कड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि इंगलैंड के समान ही यूरोपीय देशों में भी मानक गुणवत्ता वाले इस्पात का उत्पादन होता है और यदि कोई भेदभाव किया जाये तो यूरोपीय देशों से कम मूल्य पर मानक गुणवत्ता वाले इस्पात का आयात भारत में हो सकता है। उन्होंने कहा कि उक्त बिल के अधीन संबंधित माल पर शुल्क इस आधार पर अधिरोपित किया जायेगा कि वह माल किस देश से आया है। शुल्क के अधिरोपण के लिए माल की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, जो उचित नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि ''मैं यूनाइटेड किंगडम के निर्माताओं को अधिमान देने में कोई बुराई नहीं समझता, यदि वह पारस्परिकता का प्रश्न होता या इससे भारतीय उपभोक्ताओं को नुकसान न पहुँचता। किन्तु सरकार ने जिस योजना का प्रस्ताव रखा है, उसे देखते हुए आँकड़ों द्वारा यह साबित किया जा सकता है कि भारतीय उपभोक्ताओं को ब्रिटेन के निर्माताओं के संरक्षण के लिए उच्चतर कीमत देनी होगी। उक्त विभेदक शुल्क की योजना के अधीन यूनाइटेड किंगडम के निर्माताओं को अपने उत्पादों की गुणवत्ता को घटाने का लालच होगा और इससे इस देश का नुकसान होगा।[56] जो माल स्वयं इंगलैंड में अस्वीकृत हो जायेगा, उसका भी भारी मात्रा में आयात भारत में किया जायेगा। उनका कहना था कि यदि हमें भारत में एक अधिमानी बाजार उपलब्ध करना है तो इस बात की क्या गारंटी है कि ऐसा अस्वीकृत माल भारत में भारी मात्रा में भर नहीं दिया जायेगा। यह एक गंभीर खतरा है, जिसके विरुद्ध कुछ करना आवश्यक है।

तारीख 13 सितम्बर, 1928 को विधानसभा में 'रिजर्वेशन ऑफ द कोस्टल ट्रेफिक ऑफ इंडिया बिल' (भारतीय तटीय यातायात आरक्षण विधेयक) पर बहस के दौरान बोलते हुए घनश्यामदासजी ने कहा था कि ''यह कहना अर्थहीन है कि एकाधिकार के अधीन या तटीय व्यापार को भारतीयों के लिए आरक्षित करने से

56. विधान्सभा वाद-विवाद (1927) भाग I, पृष्ठ 768

मालभाड़ा बढ़ जायेगा और उपभोक्ता को हानि होगी। हमें इस बारे में पूर्णतः स्पष्ट होना चाहिए। इस सदन के अंग्रेज सदस्यगण, भारतीय उपभोक्ता के हित-संरक्षण के पक्ष में नहीं हैं। उन्हें स्वभावतः अपने हितों का सहारा लेना है। उन्हें भारतीय उपभोक्ता के हितों की बात नहीं करनी चाहिए। मैं तो समझता हूँ कि यह मात्र ढोंग है। यह कहना बेईमानी की बात है कि वे (यूरोपीय सदस्य) इस बिल का विरोध भारतीय उपभोक्ता के हितों के आधार पर कर रहे हैं।''[57] इसी विषय में उन्होंने आगे बताया, ''अभी तक यूरोपीय पोतस्वामी इस क्षेत्र से भारतीय कम्पनियों को बाहर रखने में सफल रहे हैं और इसके लिए उन्होंने सभी प्रकार के सही और गलत तरीके अपनाए हैं। इसका परिणाम यह है कि इस समय तटीय व्यापार पर व्यावहारिक रूप से दो अंग्रेजी कंपनियों का एकाधिकार है।''[58] एक बिल पर अपनी बहस को जारी रखते हुए उन्होंने एक स्थल पर कहा, ''अधिग्रहण और स्वत्वहरण के विषय में बहुत कुछ कहा गया है और यह बात सबको अच्छी तरह से मालूम है कि यह शब्द सर्वप्रथम सर चार्ल्स इनेस द्वारा प्रयोग में लाया गया था··· यदि इस शब्द का यह अर्थ, जो श्री हाजी ने बताया है, सही है कि 'स्वत्वहरण' से तात्पर्य है सम्पत्ति या सांपत्तिक अधिकारों का कब्जा छीनना, तो मैं यह जानना चाहूँगा कि कौन अपनी सम्पत्ति से बेकब्जा किया जा रहा है ? यदि वे सोचते हैं कि भारतीय व्यापार को इस प्रकार संगठित ढंग से मार डालना उनकी दृष्टि में एक साम्पत्तिक अधिकार है, तो मुझे कहना होगा कि यह साम्पत्तिक अधिकार उनसे यथाशीघ्र छीन लिया जाना चाहिए। इस संबंध में वाद-विवाद के दौरान यह सुझाया गया है तथा विभिन्न यूरोपीय चेम्बरों द्वारा इस सदन को भेजी गयी उनकी राय में भी यह कहा गया है कि यदि यह बिल पारित कर दिया जाता है तो इससे अन्य प्रांतों को क्षति पहुँचा कर केवल बम्बई को लाभ मिलेगा। मेरे विचार से यह एक गंदी चाल है जो एक प्रांत को दूसरे प्रांत के विरुद्ध उकसाने के लिए चली गयी है। किन्तु मैं अपने यूरोपीय मित्रों को बता देना चाहता हूँ कि सौभाग्यवश हमारे प्रांत उस जाल में नहीं फँसे हैं, जो उनके लिए बिछाया गया है··· ।''[59]

57. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 726
58. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 727
59. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 728

उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "यह बात सब लोगों को अच्छी तरह से मालूम है कि विश्व के लगभग सभी देशों ने किसी न किसी प्रकार से अपने वाणिज्यिक समुद्री बेड़े की रक्षा की है। मैं भारत सरकार से यह जानना चाहूँगा कि उसने अभी तक क्या किया है ? पिछले 50 वर्षों से भारतीय तटीय क्षेत्रों में अंग्रेजी जहाज चलते रहे हैं। पर उसका परिणाम क्या है ? वह आँकड़ों की सहायता से हमें यह बताएँ कि जहाजरानी में अब तक कितने भारतीयों को प्रशिक्षित किया गया है ?..."[60]

भारतीय उद्योगों के हितों के लिए घनश्यामदासजी की चिन्ता बार-बार उनके भाषणों में झलकती थी। उनकी सदैव यह कोशिश रहती थी कि भारतीय उद्योग पनपते रहें और उनके हितों पर कोई आँच न आये। इसी का एक उदाहरण मैच इंडस्ट्री प्रोटेक्शन (विधेयक) पर होने वाली बहस के दौरान उनका वह भाषण है, जो उन्होंने विधानसभा में 17 सितम्बर, 1928 को दिया था।

अपने उस भाषण में उन्होंने कहा था, "माचिस उद्योग के संरक्षण के लिए इस रिपोर्ट के रूप में देश के समक्ष एक मूल्यवान दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए मैं सर पेस्टनजी जिनवाला को अपनी हार्दिक बधाई देता हूँ। मैं उनकी सिफारिशों को पूरी तौर से स्वीकार कर लेने के लिए भारत सरकार को भी बधाई देता हूँ। लगभग पाँच वर्ष पूर्व, जब इस देश में संरक्षण की नीति प्रारंभ की गयी थी, तब कुछ आलोचकों ने इस नीति को स्वीकार करने के लिए सरकार की कार्रवाई की तुरंत आलोचना की थी। उनका कहना था कि संरक्षण की नीति से पूँजीपतियों को फायदा होगा, किन्तु उपभोक्ताओं पर भार बढ़ जायेगा। किन्तु टैरिफ बोर्ड की रिपोर्ट से यह साबित हो गया है कि जहाँ तक माचिस उद्योग का संबंध है, यदि उचित संरक्षण प्रदान किया जाता है तो यथासमय, स्वदेशी उद्योग न केवल विदेशी आयातों से प्रतिस्पर्धा कर सकता है, बल्कि वह स्वयं अपने देश के उपभोक्ता के लिए काफी कम कीमत का माल उत्पादन कर सकता है।... 1927 में स्वीडन से आयात की हुई माचिस दो रुपये तीन आना प्रति ग्रूस के हिसाब से बिकती थी, जबकि भारतीय निर्माता अपनी माचिस एक रुपये दो आने छह पाई प्रति ग्रूस की कीमत पर बेच पाता था और यह कीमत आयातित माचिसों की कीमत से एक रुपया छह पाई

60. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 729

प्रति ग्रूस कम थी। इससे संरक्षण की बात निश्चित रूप से साबित होती है। यह भी साबित होता है कि संरक्षण से न केवल स्वदेशी उत्पादक, बल्कि अंततोगत्वा स्वयं उपभोक्ता की भी सहायता होती है।··· जब हम उपभोक्ता पर कोई भार अधिरोपित करते हैं, तब हमारा उद्देश्य केवल एक होना चाहिए, अर्थात् स्वदेशी उद्योग की सहायता करना। यह पाया जाता है कि उपभोक्ता पर नया भार अधिरोपित करके हम स्वयं अपने उद्योगों की सहायता नहीं कर रहे हैं, बल्कि विदेशी उद्योगों की सहायता कर रहे हैं··· ।''[61]

उन्होंने इसी प्रसंग में आगे कहा था, ''वर्तमान में मेरा एक सुझाव है। मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि शुल्क की वर्तमान दर को अनिश्चित काल के लिए बनाये रखा जाए···। स्वीडन की कंपनी एक अत्यंत शक्तिशाली उद्यम है। यदि वर्तमान शुल्क समाप्त कर दिया जाता है तो परिणाम यह हो सकता है कि स्वीडिश आयातक पुनः अपना माल भर देना शुरू कर देंगे और इस प्रकार भारतीय उद्योग को नष्ट कर देंगे। इसीलिए मैं समझता हूँ कि फिलहाल सरकार को चाहिए कि वह संरक्षण की अवधि की कोई सीमा निश्चित किए बिना उस समय तक शुल्क की वर्तमान दर को बनाए रखे, जब तक कि विदेशी आयातकों से होने वाले सभी संकट पूरी तौर से समाप्त न हो जायें।''[62]

घनश्यामदासजी, विधानसभा के एक सदस्य के रूप में सामाजिक विषयों में भी पर्याप्त रुचि रखते थे। चाइल्ड मैरिज रेस्ट्रेंट बिल (बाल विवाह अवरोध विधेयक) पर जो शारदा बिल के नाम से भी जाना जाता है, बोलते हुए उन्होंने 28 मार्च, 1928 को विधानसभा में कहा था, ''समाज सुधारक इस प्रकार के विधान के लिए लम्बे अरसे से जोर देते रहे हैं, किन्तु हमारे मन में सदैव भय बना रहा कि कदाचित सरकार ही उस विधेयक का विरोध करने में पहल करेगी, जिसे पुनः स्थापित करने का श्रेय मेरे माननीय मित्र राय साहब हरविलास शारदा को जाता है। किन्तु मैं माननीय गृह सदस्य का अभिनंदन करता हूँ और सरकार को

61. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 967-968
62. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 968

बधाई देता हूँ कि उन्होंने इस विषय में सही रुख अपनाया है और यह बात स्पष्ट कर दी है कि वे इस विधेयक का विरोध नहीं करेंगे, बल्कि उसका समर्थन करेंगे।''[63]

इस बिल के विषय में आगे बोलते हुए उन्होंने कहा था कि ''वह (श्री एम.के. आचार्य) सनातनी समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उस सनातनी समुदाय की ओर से सरकार से अपील करते हैं और उसे चेतावनी देते हैं कि वह इस विधेयक का समर्थन करें। अभी तक मैं यह समझता था कि सनातनियों के सबसे बड़े नेता पंडित मदन मोहन मालवीय हैं, पर मुझे आश्चर्य हुआ, जब श्री आचार्य ने यह घोषणा की कि इस सदन में सनातनियों का प्रतिनिधित्व वह करते हैं। किंतु मुझे इस बात का विश्वास है कि यदि पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे सनातनी इस विधेयक का समर्थन करते हैं तो कट्टर से कट्टर सनातनी भी इसका समर्थन करेगा। श्री आचार्य ने केवल चेतावनी और धमकी दी है तथा अपील की है, इसके अतिरिक्त उनके भाषण में कुछ भी तत्व नहीं है। मैं चाहता था कि वह इस विधान के विरुद्ध इस सदन में कोई ठोस तर्क प्रस्तुत करते। उनका कहना है कि 'मैं सामाजिक विषयों में किसी राजनीतिक विधान को पसंद नहीं करता हूँ।' मैं उनसे इस संबंध में एक प्रश्न पूछना चाहूँगा। उन्होंने सदन में बड़ी उत्तेजना के साथ यह कहा कि किसी सभ्य सरकार को, उन्हें यदि वह चाहें तो अपनी 14 वर्ष से कम आयु की पुत्री का विवाह करने से रोकने का क्या अधिकार है। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के सभी सनातनी हिन्दू इस बात से सहमत होंगे कि पति की मृत्यु के पश्चात विधवा का यह धर्म होना चाहिए कि वह अपने मृत पति के साथ अपने को जला दे और सती हो जाए। क्या उनमें इतना राजनीतिक साहस है कि वह सती प्रथा का प्रचार करें और समय आने पर उसका पालन करें? ऐसे महानुभाव यहाँ आकर इस विधान का इस आधार पर विरोध करते हैं कि उसमें राजनीतिक व्यवस्था है।··· सत्य तो यह है कि आज हमारे सभी सामाजिक नियम शासनिक विधान द्वारा शासित होते हैं। विधान का कोई भी अर्थ नहीं होगा, यदि उसमें किसी शासन की व्यवस्था न हो। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि पंडित मदन मोहन मालवीय इस बिल का समर्थन करते हैं, वह यह कहते हैं, 'मुझे प्रसन्नता है कि इस विधेयक को मेरे सुझावों के आधार पर, जो मैंने उस समय दिए थे,

63. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग II, पृष्ठ 977

जब इस पर विधानसभा में विचार किया गया था, नया रूप दिया गया है'... तो अन्य सनातनी हिन्दू भी इसका समर्थन करेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि पंडित मदन मोहन मालवीय, श्री आचार्य से कहीं बड़े सनातनी हैं। अतः मैं, जो एक कट्टर सनातनी हूँ, इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।''[64]

तारीख 5 फरवरी, 1929 को विधानसभा में पब्लिक सेफ्टी बिल (लोक सुरक्षा विधेयक) पर बहस के दौरान घनश्यामदासजी ने कहा था, ''मैं और अन्य भारतीय पूँजीपति, ऐसे किसी भी सिद्धांत का कड़ा विरोध करते हैं, जो सरकार में एक ऐसी शक्ति निहित करता हो, जिसके सहारे वह किसी भी व्यक्ति को, उसका विचारण किए बिना, देश से बाहर भेज सकती है या उसे नजरबंद कर सकती है।... हमने 1818 के रेग्यूलेशन तीन को बनाए रखने का सदैव कड़ा विरोध किया है और सरकार का हमसे यह आशा करना उचित नहीं है कि हम ऐसे विधान को कानून पुस्तक में सम्मिलित किए जाने का समर्थन करेंगे... मैं कानूनी पहलू के बारे में जानने का दावा नहीं करता हूँ, किन्तु मैं एक प्रश्न पूछना चाहूँगा, क्या विश्व में ऐसा कोई देश है, जहाँ की सरकार को इस बात का साहस हो कि वह देश के लोकप्रिय नेताओं को ऐसे असाधारण विधान के अधीन नजरबंद कर सके ? क्या विश्व में ऐसा कोई देश है, जहाँ लोकप्रिय नेताओं को पुलिस द्वारा बेरोकटोक पीटा जा सके ? भारत के साथ अन्य देशों की तुलना करना व्यर्थ है। विगत काल का कड़ुवा अनुभव हमें इस बात से आगाह करने के लिए पर्याप्त है कि यदि 1818 के रेग्युलेशन तीन जैसे विधान के अधीन लाला लाजपतराय और डाक्टर बेसेंट को नजरबंद किया जा सकता है, जो शक्ति का नितांत दुरुपयोग है, तो वर्तमान सरकार को उसी स्वरूप की कोई और शक्तियाँ प्रदान करना बहुत अधिक खतरनाक होगा। वर्तमान सरकार का जो गठन है, उसके अनुसार वह न तो यहाँ की जनता के प्रति उत्तरदायी है और न जनता उसे हटा सकती है। यदि हम पिछले तीस वर्षों का इतिहास देखें तो भारत में एक के बाद दूसरी दमनकारी विधियाँ पारित की गयी हैं, परन्तु उनसे कोई सफलता नहीं मिली है। लगभग सभी दमनकारी विधियों का परिणाम खून-खराबा रहा है। जैसा कि हम सभी जानते हैं, रौलेट बिल के परिणामस्वरूप पंजाब में रक्तपात हुआ। इन सभी दमनकारी विधियों से स्थिति

64. विधानसभा वाद-विवाद (1928) भाग I, पृष्ठ 1978-1979

में कोई सुधार नहीं हुआ। मुझे पूरा विश्वास है कि जब तक लोगों को वह चीज नहीं मिलेगी, जो वे चाहते हैं, तब तक इस देश में शांति और सद्भाव की स्थापना नहीं हो सकती और उसकी जिम्मेदारी सरकार पर होगी। लोग स्वराज चाहते हैं और वे विदेशी शासन से मुक्ति चाहते हैं। उनकी यही इच्छा इन सभी आंदोलनों में प्रतिलक्षित होती है।''[65]

घनश्यामदासजी ने केन्द्रीय विधानसभा के एक सदस्य के रूप में जो भूमिका निबाही, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक राष्ट्रवादी, निर्भीक, प्रगतिशील एवं सूझबूझ के धनी व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी योग्यताओं का पूरा उपयोग देश-हित की रक्षा के लिए किया।

65. विधानसभा वाद-विवाद (1929) भाग I, पृष्ठ 485-486

तीसरा अध्याय

गोलमेज परिषद् में

घनश्यामदासजी के अनुसार जाग्रत राष्ट्रीयता के दो ध्येय थे— एक स्वतत्रता और दूसरा एकता। पहला ध्येय तो भारत के मस्तिष्क में समा गया था। इसे राजनीतिक वास्तविकता का रूप देना बाकी था, जो अब केवल कुछ समय की बात थी। परन्तु एकता के विषय में कई प्रश्न खड़े हो गये थे। एकता एक रूप होनी चाहिए या संघीय। संघीय एकता एकताओं की एकता होती है।

1930 में कांग्रेस का विचार था कि ऐक्य एकरूपात्मक होना चाहिए। मुस्लिम-लीग का विचार था कि यह संघात्मक होना चाहिए। इसलिए इस विषय में झगड़ा था। जिन्ना का दावा था कि मुस्लिम समुदाय कांग्रेस की स्वतंत्रता की घोषणा से सहमत नहीं है। उसने सत्याग्रह आंदोलन में सम्मिलित होने से इंकार किया था। सत्याग्रही लोगों का कहना था कि मुसलमानों का बहुमत कांग्रेस के साथ है।

इन समस्याओं के हल के लिए सन् 1929 के अंत में गांधीजी के गोलमेज परिषद् में लंदन जाने का सवाल उठा। इस परिषद् को बुलाने का उद्देश्य यह था कि साइमन कमीशन में सिर्फ ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों को रखने से भारतवासियों के मन पर जो बुरा असर पड़ा था, दूर हो जाये और जिस गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल का रास्ता साफ करने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त किया गया था, उसका मसविदा तैयार करने में भारत के लोग भी हिस्सा ले सकें। घनश्यामदासजी ने इस बात की कोशिश की कि भारत की ओर से गांधीजी इस परिषद् में जाएँ। लेकिन उन दिनों वह अपने सविनय अवज्ञा आंदोलन का दूसरा दौर शुरू करने वाले थे और उसमें बहुत ही व्यस्त थे। घनश्यामदासजी ने उन्हें पिलानी से 11 नवम्बर, 1929 को इस पत्र में लिखा :

"मेरी राय में वाइसराय एवं बेन नेकनीयती के साथ हमें सहायता देना चाहते हैं, किन्तु मैं नहीं मानता कि हमें पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा मिलने वाला है। यह मैं

जरूर मानता हूँ कि यदि आप वहाँ पहुँच गये तो हमें अधिक से अधिक लाभ हो सकेगा। वहाँ की सरकार आपको असंतुष्ट करके वापस नहीं जाने देगी, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है। शायद फौज के रिजर्वेशन के साथ हमें कुछ दे दे। इसके विपरीत आप लोगों के न जाने से मुझे परिस्थिति बिगड़ती दिखाई देती है। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर यह पत्र लिख रहा हूँ और आपको बिना पूछे परामर्श देना चाहता हूँ कि आप सम्मानपूर्वक परिस्थिति को अवश्य सम्हाल लें। मैं जानता हूँ कि आपका रुख भी यही है, किंतु फिर भी लिख देना मैंने उचित समझा है। मैं राजनीतिक मामलों में आपको कभी सलाह नहीं देता हूँ, किन्तु परिस्थिति को देखते हुए ऐसा करना आवश्यक समझा है। देश की शांति के साथ-साथ इसकी कमजोरी का आपसे अधिक मुझे ज्ञान नहीं है, किंतु इसके कारण मैं कभी-कभी बहुत निराश हो जाता हूँ और इसलिए यही सूझता है कि यदि आपके तप का, हमारी शक्तियों का नहीं, फल हमें मिलना चाहता हो तो हमें उसे ले लेने का प्रबंध कर लेना चाहिए। यदि पूर्ण औपनिवेशक दर्जा मिले, तब तो आप झटपट ले लेंगे, यह मैं जानता हूँ, किंतु मुझे ऐसी आशा नहीं है। बहुत से बहुत और सो भी आपके सहयोग से, फौज छोड़कर अन्य सब चीजें हमें सम्मानपूर्वक इस समय मिल सकती हैं, मुझे तो इतनी आशा है। आप शायद इतना स्वीकार न करें और कांफ्रेंस में जाने से मुँह मोड़ लें, इस भय से चिन्तित था और पत्र लिखने का भी यही प्रयोजन है।

आपके जाने के बाद वाइसराय से मैं डिनर पर मिला था। उनकी बातों से इतनी बात मुझ पर स्पष्ट हो गयी :

1. कैदी छोड़ने में आनाकानी करेगा, किंतु उन्हें छोड़ देना।
2. कांफ्रेंस का संगठन आप लोगों की राय और मशवरे से होगा।
3. शायद 1930 की जुलाई तक कांफ्रेंस कर लेंगे।
4. पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा देना कठिन है।

किंतु इस अंतिम बात को वह अभी तो कांफ्रेंस पर ही छोड़ देंगे। न तो वह यही कहना चाहते हैं कि औपनिवेशिक दर्जे की पूर्णता में अभी देर है, न यही कहना चाहते हैं कि शीघ्र ही औपनिवेशिक दर्जा स्थापित हो सकेगा। किंतु मेरी समझ यह है कि पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा हमें अभी नहीं मिलेगा, तो भी हम बहुत कुछ सम्पादन कर सकते हैं और बचा-खुचा भी पाँच-दस साल तक ले सकते हैं। आज

की परिस्थिति में हम इससे अधिक की आशा भी कैसे कर सकते हैं ? मेरी राय का निचोड़ यह है कि आपका ब्रिटिश कैबिनेट से मिल लेना हमारे लिए बहुत हितकर है और इस मौके को हमें छोड़ना नहीं चाहिए। यदि कांफ्रेंस असफल भी हो जाए तो भी हमारा लाभ ही है, क्योंकि इससे गरम दल वालों का प्रभाव बढ़ेगा। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू दीखते हैं। मैंने अपनी राय लिख दी है, बाकी तो आप सोच ही लेंगे।''[66]

घनश्यामदासजी गांधीजी को पहली गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए राजी कराने में असफल रहे। किंतु अगले वर्ष गांधीजी ने वाइसराय लार्ड विलिंग्डन के गोलमेज परिषद् की उपयोगिता के तर्क मान लिए और मालवीयजी तथा घनश्यामदासजी जैसे मित्रों की प्रार्थना स्वीकार कर वह दूसरी गोलमेज परिषद् में जाने के लिए तैयार हो गये।

इस परिषद् के लिए कांग्रेस ने उन्हें अपना एकमात्र प्रतिनिधि नियुक्त किया। घनश्यामदासजी कांग्रेस के सदस्य नहीं थे, इसीलिए उन्होंने व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में परिषद् में भाग लेने का सरकारी निमंत्रण स्वीकार कर लिया। लार्ड हैलीफैक्स के वाइसराय के पद पर रहते हुए जब गांधीजी उनसे मिले थे और दोनों ने मिलकर गांधीजी-अरविन-पैक्ट की रूपरेखा तय की थी, तभी से लार्ड हैलीफैक्स और गांधीजी, दोनों एक-दूसरे पर अधिकाधिक विश्वास करने लगे थे।

किन्तु एक वर्ष पहले की परिषद् के बाद से दृश्य अब बदल चुका था। श्री रैमजे मैक्डानल्ड अब भी प्रधानमंत्री थे और बदस्तूर परिषद् की अध्यक्षता कर रहे थे। पर अब वह मजदूर सरकार के नेता न रहकर एक संयुक्त सरकार के नेता थे, जिसमें श्री वाल्डविन और उनके अनुदार साथियों का स्थान प्रमुख था। भारत-मंत्री के पद पर अब श्री बेजवुड बेंन के बदले अनुदार दल के सदस्य सर सैमुअल होर (बाद में लार्ड टैम्पिलवुड) थे। इसलिए गांधीजी की तरह घनश्यामदासजी को भी अंग्रेजों की नीयत पर शक होने लगा था, जैसा कि उनके आगे दिये गये पत्र से प्रकट होता है।

66. मेरे जीवन में गांधीजी, पृष्ठ 160-161

"प्रिय सर तेजबहादुर सप्रू,

जब मैंने संघ-विधायक समिति (फेडरल स्ट्रक्चरल कमेटी) की रिपोर्ट की 18वीं, 19वीं और 20वीं धाराओं का आपकी सम्मति से भिन्न अर्थ निकाला तो आपको तथा श्री जयकर को मेरा ऐसा करना बड़ा ही मूर्खतापूर्ण लगा होगा। पर मेरा उद्देश्य अपनी आशंकाओं को व्यक्त करना था और यदि मैं उन आशंकाओं द्वारा अनावश्यक रूप से प्रभावित हो गया होऊँ तो मैं समझता हूँ कि अतीत को देखते हुए मेरा ऐसा करना अनुचित भी नहीं था। यदि मेरा निर्वाचन निराधार हो तो अच्छा ही है। पर जो हो, हमें आर्थिक नियंत्रण-संबंधी जो वचन दिया गया है, यदि उसमें किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित करने की कौशलपूर्ण चेष्टा की गयी तो मेरा यह पत्र आपको उसके खिलाफ चौकन्ना अवश्य कर देगा। हमें आर्थिक नियंत्रण तो प्राप्त होना ही चाहिए, उसमें किसी प्रकार के प्रतिबंध की गुंजाइश नहीं।

अब मेरा दृष्टिकोण यह है कि हमारे अर्थ विभाग-संबंधी नियंत्रण का मापदंड सचमुच की रकम पर हमारा नियंत्रण माना जाना चाहिए। फर्ज करिए, हमें एक प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार मिले और बाकी 99 प्रतिशत आरक्षण के अधीन रहे तो मैं एक व्यावहारिक व्यापारी के नाते कहूँगा कि हमारा नियंत्रण केवल एक प्रतिशत है। यदि हमें शत-प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार मिले और उसमें से 50 प्रतिशत आरक्षण के बतौर बाद में दे दिया जाए तो मैं कहूँगा कि हमें केवल 50 प्रतिशत नियत्रण का अधिकार मिला है···।"[67]

उन दिनों सर तेजबहादुर सप्रू भारत में एक मंत्री जैसी हैसियत रखते थे। वह साम्राज्य परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व भी कर चुके थे। इसलिए अंग्रेजों के अनोखे तरीके से वह घनश्यामदासजी की अपेक्षा अधिक परिचित थे। इसलिए एक व्यापारी की हैसियत से घनश्यामदासजी अंग्रेजों के शब्दों की छानबीन किया करते थे और समझ बैठे थे कि वे किसी भी शर्त का अक्षरशः पालन करने में विश्वास रखते हैं। लेकिन ब्रिटिश संविधान की परम्परा ही कुछ ऐसी कृत्रिम है कि जो रुख अंग्रेज लोग व्यापार के मामले में अपनाते हैं, ठीक उसका उलटा सरकारी मामलों में दिखलाते हैं। वे कहते एक बात हैं, जबकि उनका अभिप्राय

67. मेरे जीवन में गांधीजी, पृष्ठ 162-163

कुछ दूसरा ही होता है। इसका प्रारंभ तब हुआ, जब उन्होंने अपने राजा की शक्ति-सामर्थ्य के क्षेत्र को संकुचित करना शुरू किया और यह सिलसिला उपनिवेशों और आश्रित देशों पर उनके स्वतंत्र होने की घड़ी तक जारी रहा।

प्रथम गोलमेज परिषद् के पूरे समय में कांग्रेस पूरी बगावत की ही स्थिति में थी, क्योंकि उसमें महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति नहीं थे। इस दूसरी गोलमेज परिषद् की बैठक में पुराने सभी उल्लेखनीय सदस्य वापस आ गये थे, साथ ही नये सदस्यों का एक महत्वपूर्ण अंग भी था। महात्मा गांधी के अतिरिक्त सर मुहम्मद इकबाल—कवि, डा. एस.के.दत्त—एक विशिष्ट ईसाई नेता, घनश्यामदास बिड़ला—एक समृद्ध उद्योगपति, पंडित मदन मोहन मालवीय, श्रीमती सरोजिनी नायडू और सर अली इमाम जैसे प्रख्यात देशभक्त थे। ब्रिटिश मंडल में करीब-करीब वही पुराने लोग थे। परिषद् की बैठक से थोड़ा पहले लेबर सरकार की जगह नेशनल पार्टी सत्ता में आ गयी थी, लेकिन अभी भी मैक्डोनल्ड ही प्रधानमंत्री थे। बेजवुड बेन की जगह सैमुअल होर भारत के सचिव हो गये थे।

दो अन्य घटनाओं का प्रभाव इस कांफ्रेंस पर पड़ा था। पिछली जून में ब्रिटिश सरकार ने पार्लियामेंट को यह सूचना दी थी कि भारत सरकार की आर्थिक अवस्था, विश्वव्यापी मंदी और नये विधान के अंतर्गत उसके आर्थिक अनिश्चय के कारण इतनी संकटपूर्ण हो गयी थी कि सरकार को शायद पार्लियामेंट से कहना पड़े कि यदि आवश्यकता हुई तो भारत सरकार को आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी। उनका कहना था कि वैधानिक समस्या के हल होने तक देश की आर्थिक मान्यता बनी रहे।

इस प्रकार की आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ी, लेकिन ब्रिटिश पार्लियामेंट ने इस बात पर सिर्फ इसलिए जोर दिया, ताकि इसका प्रचार हो सके कि भारत आर्थिक रूप से बहुत कमजोर है।

दूसरी घटना थी, स्टैट्यूट ऑफ वेस्टमिंस्टर, जो पार्लियामेंट के अंतिम सत्र में पारित की गयी थी। इससे सदस्यों को डोमिनियन स्टेटस क्या है, इसे ठीक तरह समझने में मदद मिली।

कांफ्रेंस की मुख्य कार्यवाही दो बड़ी समितियों— पहली फैडरल स्ट्रक्चरल कमेटी और दूसरी माइनारिटीज कमेटी द्वारा की जाने लगी। गांधीजी इन दोनों

समितियों के सदस्य थे। इससे यह आशा की जाने लगी कि उनके नेतृत्व से कांफ्रेंस अपनी नीतियों से दूर नहीं हटेगा और कांग्रेस की नीति के अनुसार कोई न कोई समझौता अवश्य हो जाएगा। पर होने लगा कुछ और ही। कांफ्रेंस के बाहर के समाज और आम जनता को गांधीजी ने बहुत प्रभावित किया, लेकिन कांफ्रेंस में उनकी कार्रवाई उतनी महत्वपूर्ण नहीं रही। उन्होंने अपने पहले ही भाषण में इस बात पर बल दिया कि वह पूरे भारत के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने कहा कि कांग्रेस एक राजनीतिक दल ही नहीं, बल्कि एक राष्ट्रीय संगठन है।

15 सितम्बर, 1931 की शाम को भोजन के बाद घनश्यामदासजी महात्माजी के साथ किंग्स्ले हाल पहुँचे। घनश्यामदासजी को खासकर तीन बातों के संबंध में महात्माजी के विचार जानने थे। पहली बात यह थी कि जहाँ गांधीजी ठहरे हुए थे, वह स्थान बहुत छोटा था, वहाँ आराम भी नहीं था। बहुत सारे लोग मकान में सामने खड़े जय-जयकार करते रहते थे। घनश्यामदासजी को लगा, इस वातावरण में गांधीजी को पूरा आराम और पूरी शांति नहीं मिल सकती। वह चाहते थे गांधीजी को वहाँ से हटाकर किसी उचित स्थान पर ले जाया जाये। दूसरा प्रश्न, आशुलिपिक टाइपिस्ट का था। घनश्यामदासजी जानना चाहते थे कि गांधीजी को कब से उसकी जरूरत पड़ेगी। तीसरा प्रश्न था उचित सवारी का। गांधीजी के यातायात के लिए कोई पक्की व्यवस्था अभी तक नहीं थी।

घनश्यामदासजी नहीं चाहते थे कि इस प्रकार की छोटी-छोटी बातों में गांधीजी का अमूल्य समय नष्ट हो। इसलिए उन सब बातों की चिंता उन्होंने अपने ऊपर ले ली।

अगले दिन कांफ्रेंस में जाने से पहले गांधीजी घनश्यामदासजी के साथ भारत सचिव सर सैमुअल होर से मिले। गांधीजी ने श्री होर को स्पष्ट शब्दों में कहा कि एक समय था, जबकि वह अंग्रेजी शासन को भारत के लिए हितकर समझते थे। उसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "मेरा दावा है कि संसार में शायद ही कोई दूसरा मनुष्य होगा, जिसने मेरी तरह पवित्र और निःस्वार्थ भाव से तुम्हारा साथ दिया हो। फिर क्या कारण है कि मैं आज दोस्त से दुश्मन बन गया हूँ और तुम्हारी जड़ सींचने के बजाय उसे खोदने में दिन-रात लगा हुआ हूँ।"

होर ने गांधीजी की बातें बड़े ध्यान से सुनीं। उसका रुख गांधीजी को अच्छा

लगा। इसके बाद और कई लोग उनसे मिले और सभी प्रभावित होकर गये। घनश्यामदासजी की राय में चर्चिल ने खुद न आकर अपने बेटे को इसलिए भेजा, क्योंकि उसे डर था कि महात्मा का जादू उस पर चल जायेगा और उसके बाद वह उनका क्रूर आलोचक नहीं रह पाएगा।

कांफ्रेंस में गांधीजी का जो भाषण हुआ, उसकी बहुत चर्चा हुई और लोगों ने बड़ी सराहना की। जब गांधीजी से घनश्यामदासजी ने उस भाषण की तैयारी के संबंध में पूछा तो गांधीजी ने कहा कि उन्होंने उसके लिए कोई तैयारी नहीं की थी। घनश्यामदासजी ने मान लिया कि भाषण देते समय गांधीजी किसी 'दैवी अनुप्रेरणा' के वशीभूत थे।

इस भाषण के बाद इंगलैंड के अखबार जैसे 'डेली मेल' और 'मैनचेस्टर गार्जियन' महात्माजी के लेख छापने के लिए उत्सुक हो उठे। एक ग्रामोफोन कंपनी वाला उनसे प्रवचन के लिए अनुरोध करने लगा। परन्तु महात्माजी किसी प्रकार का आत्म-विज्ञापन नहीं चाहते थे और उन्होंने इस सबके लिए अपनी स्वीकृति नहीं दी। बहुत कहने-सुनने के बाद ही उन्होंने प्रवचन के लिए हामी भरी।

गांधीजी की शरीर-रक्षा के लिए खुफिया पुलिस तैनात थी। उन लोगों ने गांधीजी से अनुरोध किया कि वह कहीं भी जायें तो उसकी पूर्व सूचना उन्हें दे दें। उनका कहना था, इस देश में आकर यदि गांधीजी का बाल भी बाँका हुआ तो उनके मुख पर सदा के लिए कालिख पुत जायेगी। वह व्यक्ति जिसे चर्चिल ने 'अधनंगे-फकीर' की उपाधि देकर मज़ाक उड़ाया था, आज चर्चिल के ही देश में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व लिए उपस्थित था।

37 वर्ष के श्री घनश्यामदास बिड़ला अपनी आँखों के आगे इतिहास को साकार होते देख रहे थे और गांधीजी के पीछे चलते हुए उसकी रूपरेखा बनाने में सहयोग दे रहे थे।

24 सितम्बर को गांधीजी ने इंगलैंड के हाउस ऑफ कामन्स में अपना भाषण दिया। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भारतवासी 'पूर्ण स्वराज' चाहते हैं। अंग्रेजों से भारतवासियों की कोई दुश्मनी नहीं, वे सिर्फ अपनी आजादी चाहते हैं। अंग्रेजों को भारत से निकालना उनका उद्देश्य नहीं, सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि वे

शासक बनकर नहीं, सहभागी बनकर रहें। फौज और विदेश नीति की चर्चा करते हुए गांधीजी ने स्पष्ट किया कि अगर इन दोनों शक्तियों को अपने हाथ में रखकर अंग्रेज भारत को 'औपनिवेशिक स्वराज्य' देते हैं तो वह बेमानी है, क्योंकि सैनिक बल का दबाव भारत को सदा पराधीन रखेगा।

इस समय गांधीजी ने भारतीय अर्थनीति की चर्चा की, जो घनश्यामदासजी को पसंद नहीं आयी। उसे लेकर गांधीजी के साथ उनकी जोरदार बहस हुई। अंत में गांधीजी ने मान लिया, अब आगे जब भी आर्थिक समस्याएँ, जैसे 'गोल्ड स्टैंडर्ड' और 'स्टर्लिंग' इत्यादि पर चर्चा होगी तो गांधीजी घनश्यामदासजी से पहले ही सलाह कर लेंगे।

इस गोलमेज परिषद् के दौरान महात्माजी का इंगलैंड के प्रायः सभी बड़े-बड़े नेताओं से बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ।

प्रधानमंत्री मैक्डोनल्ड ने गांधीजी को जैसे एक चुनौती देते हुए पूछा, "आप बार-बार यही पूछते हैं कि अंग्रेज आपको क्या देंगे ? पहले आप बताइए, आपमें क्या-क्या लेने की ताकत है ?"

उसने सोचा था कि इस चुनौती से गांधीजी घबरा जाएँगे। लेकिन जिस व्यक्ति के अंदर सत्य का अदम्य साहस होता है, उसे चुनौती देना हँसी-खेल नहीं। गांधीजी ने इसका उत्तर देते हुए एक महत्वपूर्ण बात कही, "तुम मुझे वापस जाने दो, मैं जो लेना चाहूँगा, ले लूँगा।"

इस उत्तर ने प्रधानमंत्री का मुँह बंद कर दिया।

घनश्यामदासजी जानते थे, अंग्रेज हार कर भी हारने वाले नहीं हैं, क्योंकि वे गांधीजी की तरह नैतिक मूल्यों के लिए लड़ाई नहीं कर रहे थे। वे लड़ रहे थे अपने उस साम्राज्य की रक्षा के लिए, जहाँ सूरज कभी अस्त नहीं होता था। उसे बचा रखने के लिए वे अपने सारे सिद्धांत, जीवनमूल्य दाँव पर लगा सकते थे।

गोलमेज परिषद् में आये हुए अन्य सदस्यों के चरित्र का घनश्यामदासजी ने बड़ा ही सूक्ष्म अध्ययन किया। घनश्यामदासजी ने उन्हें देखकर जो कुछ अनुभव किया, वह आज भी उतना ही सच है, जितना उस समय था। वे सत्ता की हाँ में

हाँ मिलाने में ही अपना कल्याण मानते हैं। जरूरत पड़ने पर जीवन के सारे सिद्धांत और मूल्यों को भुला देते हैं, उनकी आँखों में अंतिम लक्ष्य का चित्र जल्दी नहीं उभरता। छोटी-छोटी बातों में उलझकर वे अपना रास्ता भूल जाते हैं। उनके पास विचार ही विचार होते हैं, किसी भी ठोस काम में उनका विश्वास नहीं। छोटे महत्वहीन प्रश्न, जैसे अल्पसंख्यकों की समस्या को लेकर अपने अंतिम लक्ष्य स्वराज को भूल जाना और बिना किसी ठोस कार्यक्रम की रूपरेखा बनाए केवल 'विचारों' की बात करना।

उन सब बातों को घनश्यामदासजी के विवेक ने अच्छी तरह तौला, और उन्होंने पाया, गांधीजी एक आदर्श पुरुष हैं। वे अपना लक्ष्य कभी नहीं भूलते, लेकिन उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने मूल्य और अपने सिद्धांत कभी नहीं छोड़ते और सत्य की शक्ति को ही अपनी आत्मिक ऊर्जा मानते हैं।

सर तेजबहादुर सप्रू और डा. एम.आर. जयकर अंग्रेजों की दृष्टि से महत्वपूर्ण सदस्य थे। ये 'माडरेट' नेता अंग्रेजों के काफी नजदीक थे। सम्भवतः इसीलिए उन लोगों ने गांधीजी को इस विषय में कोई सहायता नहीं दी। यह बात घनश्यामदासजी को उचित नहीं लगी। पर घनश्यामदासजी को ऐसी स्थिति का अंदेशा था और वह इसके लिए तैयारी करके गये थे। उन्होंने फैडरल स्ट्रक्चरल कमेटी की रिपोर्ट की 18वीं, 19वीं और 20वीं धाराओं के बारे में अपना मत निश्चित कर रखा था और बापू को उसके बारे में पूरी तरह अवगत करा रखा था। विशेषकर अर्थ विभाग के नियंत्रण के मापदंड के बारे में अपने दृष्टिकोण को निश्चित कर रखा था। उनकी राय में 18, 19 और 20वीं धाराओं में निम्नलिखित परिसीमाएँ लगाई गयी थीं :

1. रिजर्व बैंक की स्थापना,
2. पत्र-मुद्रा या टंक वर्ग विधान में संशोधन करने से पहले गवर्नर-जनरल की स्वीकृति,
3. स्थायी रेलवे बोर्ड की स्थापना,
4. ऋण-व्यय, ऋण-व्यय के लिए शोधन कोष, वेतन और पेंशन और सैनिक विभाग के लिए धन की व्यवस्था करने के हेतु संघनित-कोष भार का संगठन,

5. जब गवर्नर-जनरल समझें कि जो ढंग अपनाए जा रहे हैं, उनके कारण भारत की साख को गहरा धक्का लगेगा तो उसे बजट-संबंधी और उधार लेने की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार।

इन अधिकारों के अंतर्गत समूचा आर्थिक क्षेत्र आ जाता था, इसके बारे में घनश्यामदासजी ने भारतीय सदस्यों, खासकर सर तेजबहादुर सप्रू और डा. जयकर को आगाह किया कि उन धाराओं के द्वारा भारतवर्ष को कोई उत्तरदायित्व नहीं मिलता।

घनश्यामदासजी की ये बातें गांधीजी, पंडित मदनमोहन मालवीय, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास तो समझ रहे थे, पर डा. जयकर और सर सप्रू, जिनकी बातों को अंग्रेज ज्यादा महत्व देते थे, इन बातों को जैसे समझना ही नहीं चाह रहे थे। पर घनश्यामदासजी का विधायक व्यक्तित्व इतना सबल था कि वह जान रहे थे कि उन बातों को ठीक तरह से न समझना और परिषद् में उन्हें समुचित रूप से न प्रस्तुत कर पाने का दुष्परिणाम क्या होगा ? इसलिए उन्होंने उनके समक्ष अर्थ-विभाग का पूरा ढाँचा ही प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने अथक परिश्रम से सारे आँकड़े इकट्ठे करके बताया कि रेलवे बजट को मिलाकर अर्थ-विभाग की आय और उसका व्यय लगभग एक अरब तीस करोड़ है। इसके अलावा अर्थ-विभाग के जिम्मे भारतीय मुद्रा और उसके विनिमय की भी देखभाल करना है, यह भी उन्हें समझाया। उन्होंने यह भी दिखाया कि रिजर्व बैंक हमारा नहीं होगा और व्यवस्थापिका का उस पर कोई अधिकार नहीं रहेगा। रेलवे बोर्ड की जो स्थापना हो रही है, उसमें भी हमारा कोई अधिकार नहीं रहेगा। इस तरह अंक से अक्षर-ज्ञान तक जाने वाले घनश्यामदासजी ने हिसाब लगाकर दिखा दिया। ''अब हमारे पास रह गये 90 करोड़। इनमें से 45 करोड़ सेना के लिए चाहिए, 15 करोड़ ऋण-व्यय के लिए और 15 करोड़ रुपये पेंशन और अन्य मदों के लिए चाहिए।'' इस प्रकार हमारे पास 130 करोड़ में से केवल 15 करोड़ रह गये। जिस किसी को भी 130 करोड़ की आय पर 115 करोड़ व्यय का सर्वप्रथम अधिकार रहेगा, वह हमारी बजट संबंधी और उधार लेने की व्यवस्था में पग-पग पर हस्तक्षेप करना चाहेगा, और यही कारण है कि गवर्नर-जनरल को हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया है। अनिश्चित भारतीय ऋतु में बजट में 5 से 10 करोड़ तक उतार-चढ़ाव अवश्यंभावी है, इसलिए कदम-कदम पर गवर्नर-जनरल के अर्थ-सदस्य के ऊपर

चढ़ दौड़ने का खतरा बना रहेगा। अतएव अर्थसदस्य को गवर्नर-जनरल के हाथ की कठपुतली बनने को बाध्य होना पड़ेगा। अतः मेरी राय में इन तीन धाराओं के अंतर्गत लोकप्रिय अर्थमंत्री को किसी प्रकार का नियंत्रण संबंधी अधिकार नहीं दिया गया है। मेरा कहना है कि ये धाराएँ रिजर्व बैंक तक ही सीमित नहीं हैं, जैसा कि आपका कहना है, बल्कि समूचे क्षेत्र पर परिव्याप्त हैं।''[68]

इतना ही नहीं, घनश्यामदासजी कान्फेरेंस के बाहर उन भारतीय सदस्यों के साथ उठते-बैठते, खाते-पीते कहते रहते थे कि फैडरेल स्ट्रक्चरल कमेटी की अनेक धाराएँ संघनित कोष-भार के संगठन का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसके दो विकल्प हो सकते हैं या तो संघनित कोष-भार को सुझाई गयी मात्रा की अपेक्षा अत्यधिक संकुचित कर दिया जाए, और या गवर्नर-जनरल को हमारी चूक होने तक हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहे।

घनश्यामदासजी कान्फेरेंस के अंग्रेज सदस्यों के बारे में सप्रू और जयकर से यह कहते थे कि जो भी हो, यदि हमें भारत के लोकोपकारी विभागों के लिए रुपये की व्यवस्था करनी है तो हमें ठोस सहायता के लिए अंग्रेजों से अवश्य झगड़ना चाहिए।

लंदन में 30 सितम्बर के दिन की डायरी में घनश्यामदासजी ने लिखा, ''हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर अभी तक कोई महत्वपूर्ण विचार नहीं हुआ और न कोई इसका हल सामने आया, आशा भी कम है। सोमवार (28 सितम्बर, 1931) को कान्फेरेंस की अल्पसंख्यक दल कमेटी की मीटिंग थी। प्रधानमंत्री ने उसमें प्रजा-प्रतिनिधियों को इस हिसाब से बैठाया—सबसे पहले श्रीमती नायडू, फिर गांधीजी, फिर मालवीयजी, फिर घनश्यामदासजी। प्रधानमंत्री का भाषण मुझे अच्छा नहीं लगा, उसमें ईमानदारी नहीं थी, खुशामद काफी थी।''[69]

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के गोलमेज परिषद् सम्बन्धी फाइल[70] से पता चलता है कि घनश्यामदासजी के विरुद्ध इस परिषद् में काफी प्रचार किया गया था। इसका

68. मेरे जीवन में गांधीजी, पृष्ठ 164
69. बिखरे विचारों की भरोटी, पृष्ठ सं. 306
70. पी.टी''' फाईल नं. 130-132, नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, नई दिल्ली

फल यह हुआ कि मेरा अविश्वास किया जाता है। हाँ, जब से कान्फेरेंस का मेम्बर बना हूँ तब से लोगों से मिलना-जुलना ज्यादा होता है।[71]

घनश्यामदासजी के प्रति कुप्रचार और अविश्वास के बावजूद, वह लगातार भारत के हित में और परिषद् की बैठकों को अधिक से अधिक सार्थक बनाने के लिए तमाम तरह के लोगों से मिलते रहे। इनमें लार्ड लोदियन[72], बेजवुड बेन[73], सर हेनरी स्ट्राकोश[74], सर सैमुअल होर, सर एडवर्ड बेन्थल[75] मुख्य थे।

इन लोगों से बराबर सम्पर्क रखने में उनका उद्देश्य था कि अंग्रेजों के दिल और दिमाग में क्या बातें चल रही हैं, वे क्या योजनाएँ बना रहे हैं, इसकी पूरी जानकारी लें और महात्मा गांधी को तथ्यों से अवगत करायें। उन्हें ऐसा लग रहा था कि उस परिषद् में कुछ होना जाना नहीं है। अंग्रेज बड़ी चतुराई से भारतीयों के मतभेदों का लाभ उठाकर उन्हें बैरंग वापस भेज दे। घनश्यामदासजी को यह विश्वास हो चला था कि अंग्रेजों का ख्याल है कि नये चुनाव में कंजरवेटिव बड़ी तादाद में आ जाएँगे और फिर दमन चक्र आरंभ हो जाएगा। इस सिलसिले में घनश्यामदासजी जब हैरोल्ड लास्की[76] से मिले तो उन्हें पता चला कि यहाँ भयंकर स्थिति पैदा होने वाली है। कल यहाँ एक जुलूस निकला था जिस पर पुलिस की लाठियाँ बरसी थीं। कम्यूनिस्ट पार्टी जो भारत के प्रति संवेदना रखती है, जोर पकड़ती जा रही है।

सैमुअल होर से महात्मा गांधी की बातचीत के दौरान घनश्यामदासजी हमेशा उनके साथ रहे। करेन्सी और एक्सचेंज के सम्बन्ध में महात्मा को एक विशेषज्ञ की तरह सलाह देते रहे।

एक अक्तूबर को अल्पसंख्यक दल कमेटी की फिर बैठक थी। महात्माजी ने मुसलमान प्रतिनिधियों से कहा, "मैं साफ-साफ बता दूँ कि मौजूदा हालत में

71. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास फाइल नं. 43, नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, नई दिल्ली
72. अमरीका के तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत, भारतीय राजनीति के अच्छे ज्ञाता
73. मजदूर मंत्रिमंडल में भारत सचिव, पार्लियामेंट के पुराने सदस्य
74. अर्थशास्त्री और भारत सचिव के सलाहकार व्यवसायी
75. कलकत्ते की वर्ड कम्पनी का मालिक, ब्रिटिश व्यापारियों का प्रतिनिधि
76. लंदन विश्वविद्यालय में राजनीति का अध्यापक और ब्रिटेन का एक प्रसिद्ध विद्वान

समझौता मेरे बस की बात नहीं है। अगर कुछ नहीं होता तो मैं कान्फेरेंस से हट जाता हूँ।'' इस पर लोगों ने आग्रह किया कि महात्माजी समझौते के लिए छोटी कमेटी बना दें। इस तरह फिर एक सप्ताह के लिए कमेटी का कार्य स्थगित हो गाया। समझौते की कमेटी बनी, घनश्यामदासजी भी उसके सदस्य थे।

घनश्यामदासजी ने गांधीजी से कहा, ''ऐसी बीसों कमेटियाँ पहले बैठ चुकी हैं। अंसारी के बिना आप तो कुछ कमो-बेश करने वाले नहीं। अन्य लोगों से तो अंतकाल तक भी समझौता नहीं होने का है।''

महात्माजी बोले, ''यह कमेटी तो मुझे नीचा दिखाने के लिए बनाई गयी है। वह जानते हुए भी मैंने इसका संचालन करना स्वीकार किया है।''

4 अक्तूबर को दिन में भोजन के समय बैंथल से घनश्यामदासजी की देर तक बातें हुईं।

घनश्यामदासजी ने बैंथल से कहा, ''हम लोगों का ख्याल है कि कान्फेरेंस के कारण समय की बर्बादी हो रही है। सरकार ने इसे अपने खुशामदी टट्टुओं से भर दिया है। इस तरह कुछ भी काम करना असंभव है। अगर सचमुच समझौता करना चाहते हो तो पहले मूल बातें निश्चित हो जानी चाहिए कि तुम कहाँ तक आगे बढ़ने को तैयार हो ?''

बैंथल ने कहा, ''ऐसे काम में अधीर होना ठीक नहीं। साल भर भी इस काम के लिए थोड़ा समझना चाहिए।''

घनश्यामदासजी बोले, ''साल भी लगे तो परवाह नहीं, बशर्ते कि सचाई हो, समझौते की पूरी ख्वाइश हो।''

बैंथल ने उत्तर दिया, ''मैं यह मानता हूँ, पर जहाँ तुम्हारी ओर से कानून द्वारा हमें बहिष्कृत करने की बातें होती हैं, वहाँ समझौता कैसे हो ?''

इस तरह बैंथल और घनश्यामदासजी के बीच कांग्रेस वर्किंग कमेटी की रिपोर्ट, भारतवासियों और उनके उद्योग-धंधे की रक्षा, फौज के बारे में अंग्रेजों की राय, भारत सरकार का सालाना बजट, रेलवे बोर्ड की स्थापना, देशी नरेश और ब्रिटिश भारत की समस्याओं पर बातचीत हुई।

छः अक्तूबर की शाम को इंडिया आफिस में सर हैनरी स्ट्राकोश के साथ एक बैठक हुई। सभापति का आसन पहले तो भारत सचिव सर सैमुअल होर ने ग्रहण किया, पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल की मीटिंग के कारण वह सर रेजिनाल्ड मैन्ट को अपना पद देकर चले गये। उस बैठक में गांधीजी, घनश्यामदासजी, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, मोहम्मद अली जिन्ना, सर मानिकजी, सर फिरोजशाह सेठना, श्री के.टी. शाह, प्रोफेसर जोशी, श्री रंगास्वामी अयंगर, आदि मौजूद थे।

स्ट्राकोश की दलील थी कि अगर एक्सचेंज रेट एक-छः स्टर्लिंग पर न बाँध दिया गया होता तो न जानें लुढ़कते हुए यह कहाँ जाकर रुकता। और न जाने सरकार को कहाँ तक नोट छपा कर अपना काम चलाना पड़ता। इस पर घनश्यामदासजी ने पूछा, "आखिर ठहराने के लिए तुम्हारे पास साधन क्या है ?"

स्ट्रोकोश निरुत्तर रह गया।

उस समय घनश्यामदासजी ने सुधार (मानिटरी रिफार्म) नामक एक पुस्तिका लिखी थी। उस पुस्तिका को पेश करते हुए उन्होंने भरी सभा में कहा कि पुस्तिका में मैंने जो मत प्रकट किया है, वह मेरा अपना है, भारतीय व्यापारी वर्ग का नहीं।

5 नवम्बर, 1931 को गांधीजी के साथ गोलमेज परिषद् के सारे सदस्य सम्राट जार्ज पंचम के मेहमान थे। उनकी कुल संख्या करीब 400 थी। बातचीत में मुख्य भाग सम्राट का ही था। गांधीजी हँसते रहे, बोले बहुत ही कम।

घनश्यामदासजी एक जागरूक दर्शक के रूप में गोलमेज परिषद् की सारी स्थितियों को देखे जा रहे थे। उनके लिए गांधीजी का सम्राट से मिलना, भारतीय राष्ट्रीयता की विजय थी। उनकी दृष्टि में यह पहला अवसर था कि इस तरह एक 'अर्धनग्न' मनुष्य और साथ में गांधी-टोपी पहने महादेव भाई, ब्रिटिश सम्राट से मिले। मिलने के उन क्षणों में घनश्यामदासजी की दृष्टि ने ब्रिटिश चरित्र को अच्छी तरह परख लिया— "अंग्रेज बनिए हैं, स्वभाव से ही संग्रामप्रिय नहीं।" लेकिन जब उनके व्यापारिक हित पर चोट पड़ती है तो फिर वे हथियार उठा लेने में हिचकते नहीं।"

घनश्यामदासजी ने देखा, गांधीजी प्रिंस आफ वेल्स के प्रति उदासीन हैं, लेकिन फिर भी सम्राट का व्यवहार उनके प्रति सौजन्य से भरा है। यह सौजन्य ब्रिटिश

चरित्र की एक अनोखी विशेषता है, जिसके बल पर ब्रिटिश जाति के लोग सहज ही दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं।

घनश्यामदासजी की दृष्टि से गोलमेज परिषद् में ब्रिटिश नीति की सोलहों आने विजय हुई।

16 नवम्बर को बैंथल घनश्यामदासजी से अपने आप ही मिलने आया। उसने कहा, "सारी फसाद की जड़ 'होर' है।"

घनश्यामदासजी बोले, "तुम लोगों ने मुसलमानों और अछूतों के प्रतिनिधियों से इकरारनामा करके समस्या और भी जटिल कर दी है।"

बैंथल ने कहा, "हम लोगों ने कोई इकरारनामा नहीं किया है। हमने तो एक तरह से दरख्वास्त की है कि हमारा यह हक है, हमें शासन विधान में यह अधिकार मिलना चाहिए।"

घनश्यामदासजी के अनुसार इस तरह की बातों का कोई फल नहीं हो रहा था। गांधीजी के साथ घनश्यामदासजी अंग्रेज नेताओं से उनके घर पर जाकर मिलते थे। पर कहीं भी कोई बात नहीं बन पाती थी।

घनश्यामदासजी को लगा, बिना लड़ाई के स्वराज्य-प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती।

27 नवम्बर, 1931 को विधान परिषद् की अन्तिम बैठक थी। विधान बनने में जाने अभी कितनी देर थी, पर इसके नाम पर जो नाटक चल रहा था वह पूरा हो चला था।

30 नवम्बर, 1931 को प्लेनरी सेशन (पूर्ण अधिवेशन) में घनश्यामदासजी ने जो भाषण दिया, वह कई अर्थों और प्रसंगों में महत्वपूर्ण है। सबसे पहले उन्होंने पूरे अधिवेशन के सामने नये सिरे से अपना परिचय देते हुए कहा, "मैं इस सम्मेलन में अपने सहकर्मी सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और मि. जमाल मुहम्मद के साथ भारतीय वाणिज्य, व्यापार और उद्योग का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। यहाँ 'फैडरेशन

आफ इण्डियन चैंबर्स आफ कामर्स एंड इंडस्ट्री' का प्रतिनिधित्व करने का गौरव मुझे प्राप्त है।''[77]

गोलमेज परिषद् का सारा काम मुख्यरूप से दो उप-समितियों द्वारा किया जा रहा था— फैडरल स्ट्रक्चरल सब-कमेटी और माइनोरिटीज सब-कमेटी। घनश्यामदासजी बिड़ला माइनोरिटीज सब-कमेटी के सदस्य थे। पूरे अधिवेशन के सामने तीस नवम्बर को बोलते हुए घनश्यामदासजी ने कहा, ''महानुभाव, जब पिछली गोलमेज सभा का समापन हो रहा था और जब प्रधानमंत्री ने अपनी प्रसिद्ध घोषणा की थी, तब हमें उस पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय हम लोगों ने यह अनुभव किया कि केन्द्र को जो उत्तरदायित्व गोलमेज परिषद् ने दिया है, वह कितने ही बंधनों, प्रतिबंधों और गतिरोधों से जकड़ा हुआ है। इसी कारण यह कदापि हमें उस लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता जो हमने अपने सम्मुख रखा है।''[78]

गोलमेज परिषद् का पूरा वातावरण, घनश्यामदासजी के शब्दों में, 'नाटक' जैसा था। उस नाटक के पीछे जो यथार्थ था, उसे प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, ''हम भारतीय हमेशा से यही कहते आये हैं कि भारतीय शासन-व्यवस्था बहुत ही खर्चीली है। अब मान लें कि जो भी वित्तमंत्री नियुक्त होगा, वह खर्च कम करना चाहेगा तो प्रश्न है वह कटौती कहाँ करेगा। नब्बे करोड़ में से बहत्तर करोड़ तो गवर्नर जनरल के लिए सुरक्षित होगा, जिसे वित्तमंत्री छू नहीं सकता। तो फिर बचे हुए कुल अठारह करोड़ में से वह कौन-सा खर्च कम कर देगा ? इसके अतिरिक्त भारत में विकास कार्यों के लिए उसके पास धन होना चाहिए। तो उसे नये कर लगाने ही पड़ेंगे। हर साल उसे घाटे का बजट ही बनाना पड़ेगा। यह तो ऐसा ही हुआ, जैसे खजाने की सारी तिजोरी तो हमें मिली, लेकिन बिल्कुल खाली। मेरा ख्याल है कि कोई आत्म-सम्मान वाला व्यक्ति इस तरह के कठोर बंधनों में वित्तमंत्री बनना स्वीकार नहीं करेगा। कोई भी सरकार भारत की जमा धनराशि की रक्षा तक नहीं कर सकती, जब तक वह भारतीय पूँजीनिवेशक के मन में विश्वास न पैदा कर दे। नयी विकास योजनाओं के लिए कौन धन का प्रबंध

77. स्पीच आफ जी.डी. बिड़ला ऐट दि प्लेनरी सेशन, 30 नवम्बर, 1931
78. स्पीच आफ जी.डी. बिड़ला ऐट दि प्लेनरी सेशन, 30 नवम्बर, 1931

करेगा ? 'सिटी फाइनेंसियर्स' (लंदन पूँजीनिवेशक) तो ऐसा नहीं करेंगे। यह धन तो भारतीय निवेशक ही लगाएँगे। इसलिए आप लोगों को ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए, जो उनके विश्वास को तोड़ दे।''[79]

घनश्यामदासजी ने भारत में अंग्रेजी शासन-व्यस्था के विषय में कहा, ''कोई भी शासन इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता कि बिना लोकमत के ही अपना कार्य कर ले। तभी मैं यह कह रहा हूँ कि यदि आप कानून-व्यवस्था चाहते हैं तो शर्त यही है कि आप लोकमत से शासन करें या फिर भारतीयों को शासन का अधिकार दें। इससे वे आपके मित्र और साझेदार बन सकेंगे। मैं आपको फिर सावधान कर रहा हूँ, यदि आपने इस मौके पर मैत्रीपूर्ण समझौता नहीं किया तो आप बहुत बड़ी भूल कर बैठेंगे। मैं अपने देश के युवा वर्ग को जानता हूँ। यह बिल्कुल ही संभव है कि कुछ वर्ष बाद आप गांधीजी जैसे व्यक्तियों के साथ काम नहीं करेंगे, जो कई मामलों में आप लोगों से भी अधिक पुरातनपंथी हैं। शायद तब आपको रजवाड़ों के साथ भी काम करने का अवसर प्राप्त नहीं होगा। तब मेरे जैसे पूँजीपतियों के साथ भी आप काम नहीं करेंगे।''[80]

अपने इस ऐतिहासिक अभिभाषण का समापन करते हुए घनश्यामदासजी ने सबको सावधान किया, ''केवल दो ही रास्ते हैं। उनमें एक ले जाएगा विनाश, विध्वंस, अशांति और अराजकता की ओर, दूसरा, शांति और समृद्धि की ओर। इंगलैंड कौन से रास्ते को चुनेगा ?''

घनश्यामदासजी के अनुसार, ''इस राउंड टेबल कान्फेरेंस से कुछ भी नतीजा नहीं निकला। परन्तु वह बिल्कुल टूट गयी, यह भी नहीं कहा जा सकता।'' उन्होंने समाचार-पत्रों और इंगलैंड की राजनीतिक हवा से यह अनुमान कर लिया कि ''बंगाल और अन्यत्र भी दमन खूब जोर-शोर से होने वाला है। साथ ही समझौते की बात भी जारी रहेगी।''

चार दिसम्बर को कान्फेरेंस के नाटक का आखिरी पर्दा गिर गया। भारतीय एक-एक कर लंदन से लौटने लगे। चलते समय लार्ड लोदियन ने महात्माजी से

79. स्पीच आफ जी.डी. बिड़ला ऐट दि प्लेनरी सेशन, 30 नवम्बर, 1931
80. दि प्लेनरी सेशन, 30 नवम्बर 1931, घनश्यामदासजी का भाषण

कहा कि "लड़ने से तुम्हारा भला जरूर है पर ऐसी लड़ाई न करना, जिसमें हमारा सत्यानाश हो जाए।"

गांधीजी ने कहा, "मैं इसका ध्यान रखूँगा।"

सर कैपबेल रोड्स ने घनश्यामदासजी से कहा, "बिड़ला, जब तुम्हें कभी नौकरी करने की जरूरत हो, तो सर हेनरी स्ट्राकोश के पास जाना, वह बहुत अच्छा सर्टिफिकट देगा।"

घनश्यामदासजी ने पूछा, "वे मेरे विषय में क्या कहते थे ?"

रोड्स बोला, "मुझसे मत पूछो। तुम अपनी प्रशंसा सुनकर असमंजस में पड़ जाओगो।"

राउंड टेबल कान्फेरेंस के दिनों घनश्यामदासजी की ब्रिटिश नेताओं और उद्योगपतियों से जो भेंट-मुलाकातें हुईं, उनके दौरान बैंथल से उन्होंने एक सीधा प्रश्न किया था कि वह उन्हें 'गरम मिजाज' क्यों बताता फिरता है ? यह घटना उस काल के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। इससे यह पता चलता है कि राजनीति और व्यापार दोनों ही क्षेत्रों में घनश्यामदासजी ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया था। उस वक्त का एक साधारण भारतीय तो अंग्रेजों के आगे आँखें उठाकर बात करने की हिम्मत भी नहीं करता था, जबकि घनश्यामदासजी ब्रिटिश व्यापारी समाज में चर्चा का विषय बन चुके थे।

अपने एक ज्ञापन-पत्र में घनश्यामदासजी ने गोलमेज परिषद् के सामने अपना एक विशेष विचार प्रस्तुत किया— यह था भारत में भारतीय और अंग्रेज भारतीय प्रजा के बीच अंग्रेजी सरकार द्वारा असमानता का भाव। उन्होंने कहा कि विशेषकर आर्थिक मामलों में इंगलैंड जब विचार करता है तो स्वभावतः इंगलैंड को जो एक स्वतंत्र देश है, ध्यान में रखकर विचार करता है। ये विचार जो भारत की औपनिवेशिक सचाइयाँ हैं उनसे बिल्कुल मेल नहीं खाते हैं।

"मैंने भारत में बसे अंग्रेज उद्योगपतियों और व्यापारियों के अधिकार-माँग के परिपत्र को ध्यान से पढ़ा है। भविष्य में इंगलैंड और भारत के क्या सम्बन्ध होंगे उनका एक संकेत इस अधिकार-पत्र से प्राप्त होता है। इस पर बहस हो सकती है

कि भारत में बसे हुए अंग्रेज जो भारत ब्रिटेन के समान नागरिकता के अधिकारी हैं और जो सिर्फ भारतीय नागरिक हैं, इन दोनों के अधिकारों को न्यायपूर्ण ढंग से कैसे देखा जा सकता है ? इस प्रश्न के जवाब में मैं यह जानना चाहूँगा कि क्या भारतवर्ष सदा अंग्रेजी हुकूमत के अधीन रहते हुए अपने देश के हितों की रक्षा कर सकता है ? अगर इसका जवाब 'हाँ' में है तो मुझे दुःख के साथ यह कहना पड़ेगा कि गुलामी में रहकर भारतवर्ष कभी भी अपना हित नहीं कर सकता है।''[81]

उसी ज्ञापन में घनश्यामदासजी ने कहा कि बुनियादी तौर पर आर्थिक विकास पर ही राजनीतिक विकास निर्भर है। ''अपने आर्थिक विकास के बारे में स्वतंत्रतापूर्वक सोचना और उसके बारे में निर्णय लेना राजनीतिक स्वतंत्रता की बुनियादी शर्त है।''[82]

उन्होंने कहा कि औद्योगिक क्षेत्र में भारतवर्ष आज इतना पिछड़ा हुआ है कि अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी प्रारंभिक चरण में उसे कठोर परिश्रम करना पड़ेगा, तभी कुछ विकास संभव है अन्यथा नहीं। इस क्षेत्र में इसका पिछड़ापन और यूरोप की प्रगति इन दोनों को ध्यान में रखकर जब स्वतंत्र भारत की आर्थिक स्थिति के बारे में आज कोई सोचेगा तो उसे चिन्ता और हताशा के अलावा और कुछ हाथ नहीं आयेगा। इसके पीछे मूल कारण वही है, स्वतंत्रता और परतंत्रता के बीच विकसित और अविकसित होती हुई अर्थव्यवस्था और उसकी सचाइयाँ।

अपने ज्ञापन-पत्र के समापन में उन्होंने प्रमाण सहित यह दिखाया कि किस तरह भारतवर्ष में भारतीय व्यापारी वर्ग की तुलना में अंग्रेज व्यापारी को वर्चस्व प्राप्त हुआ है और इसके परिणामस्वरूप उसकी शक्ति कितनी बढ़ती चली गयी। परिणामतः उसे एक स्वतंत्र सत्ता प्राप्त हो गयी है। इस सत्ता का प्रभाव उसने काफी हद तक समाज, अर्थ और राजनीति इन तीनों जीवन क्षेत्रों पर डाला है।

द्वितीय 'गोलमेज परिषद्' के समापन के बाद घनश्यामदासजी जब भारत लौटने को थे, उस समय वह काफी उदास थे। उनका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा नहीं था। इतनी दौड़-धूप, व्यस्तता और गांधीजी के साथ एक बजे रात तक जागने और सुबह चार बजे उठ जाने का यह फल हुआ कि उनका वजन काफी घट गया था। वह शारीरिक रूप से थक से गये थे, मानसिक रूप से अवश्य कुछ आशावान थे।

81. इण्डियन राउण्ड टेबल, पृष्ठ-614 (मेमोरेंडम इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन)
82. वही

उस समय भारत के राजनीतिक आकाश पर निराशा के काले बादल छाये हुए थे। भारत में उस समय ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के डोमिनियन नमूने की प्रजातांत्रिक सरकार की माँग हो रही थी। इसके साथ ही देश में एक गलतफहमी फैली हुई थी। इस गलतफहमी के कारण दो अल्पमत के लोगों के बीच भ्रांति और यह विश्वास था कि स्थायी धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ भी अस्थायी राजनीतिक प्रवृत्तियों की तरह होती हैं जो आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के कारण बदलती रहती हैं। इस बात को भुला दिया गया कि पूरे के पूरे हिन्दू समुदाय या किसी भी अन्य समुदाय के लिए औद्योगिक विकास, शिक्षा, भाषा समूहवाद या व्यक्तिवाद आदि किसी भी आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम पर एकमत होना असंभव है। इसलिए सभी के सभी हिन्दू अथवा सभी के सभी मुसलमान कभी भी एक राजनीतिक दल के सदस्य नहीं हो सकते।

भारत की समस्त मुस्लिम आबादी को एक राजनीतिक अल्पमत वाला समुदाय मानने में उलझन थी और यही गोलमेज की विफलता का कारण था और इसी के कारण ऐसी घटनाएँ हुईं जिनका भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

चौथा अध्याय

ओटावा सम्मेलन में

लंदन में गोलमेज परिषद् के समापन-चरण में घनश्यामदासजी ने भारतीय हित के आर्थिक संरक्षणों पर विचार करने के लिए एक विशेष समिति के नियुक्त किए जाने पर जोर दिया। उस समय इस पर इंडिया आफिस के अधिकारियों ने कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु जब परिषद् भंग हो गयी और घनश्यामदासजी भारत लौट आये तो उन्हें इंडिया आफिस से सर सैमुअल होर का 27 जनवरी, 1932 का एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने उनके सुझाव को मानने से इनकार कर उन्हें एक दूसरे ही प्रकार की समिति में शामिल होने का निमंत्रण दिया :

''मैंने आपको वचन दिया था कि मैं आपको, आपके इस सुझाव के संबंध में अपनी राय बताऊँगा कि आर्थिक अभिरक्षण का प्रश्न एक ऐसी समिति के सिपुर्द कर दिया जाए, जिसमें ऐसे लोगों को भी शामिल किया जाए, जिन्हें आर्थिक मामलों की जानकारी हो, पर गोलमेज परिषद् की परामर्शदायिनी-समिति के सदस्य न हों। मैं कुल मिलाकर इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि अब, जबकि हमने एक ऐसी परामर्शदायिनी-समिति का गठन कर लिया है, जिसका काम गोलमेज परिषद् द्वारा बताई गयी आम नीति का अनुसरण करना होगा, उस पर ऐसी व्यवस्था लादना, जिसके अंतर्गत ऐसी समितियाँ स्थापित करना हो, जिनके सदस्य बाहर से लिए जाएँ, अनुचित होगा। मेरी धारणा है कि ऐसी व्यवस्था में से अस्त-व्यस्त करने वाली शाखाएँ फूट निकलेंगी। मैं समझता हूँ, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास परामर्शदायिनी-समिति में भाग लेने में असमर्थ हैं। आपको उसमें अपने लिए स्थान की माँग करने की स्वतंत्रता है, और यदि आप ऐसा करेंगे तो आप उसके सदस्य नामजद हो ही जाएँगे।''[83]

83. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 169

इधर गांधीजी ने गोलमेज परिषद् से लौटकर सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से शुरू कर दिया था। उस समय घनश्यामदासजी भारतीय वाणिज्य-उद्योग संघ के एक भूतपूर्व अध्यक्ष थे। उनके प्रभाव से वाणिज्य उद्योग संघ ने भी गोलमेज परिषद् से नाता तोड़ लिया। घनश्यामदासजी ने नई दिल्ली से 14 फरवरी, 1932 को सर सैमुअल होर को उनके पत्र के जवाब में धन्यवाद देते हुए कहा :

"…. मुझे यह देखकर खेद हुआ कि आपको मेरा यह सुझाव कि सारे आर्थिक मामलों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति अलग बनाई जाए, ग्राह्य नहीं है। मैं तो आपसे अब भी इस सुझाव पर दुबारा विचार करने का अनुरोध करूँगा, क्योंकि आर्थिक समस्याओं का विवेकपूर्ण विचार इस विषय को समझने वाले व्यक्तियों की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं है।

"आपने यह सुझाकर कि यदि मैं समिति में शामिल होना चाहूँ तो मुझे नामजद किया जा सकता है, बड़ी कृपा की। पर मेरी राय में मेरे लिए ऐसा रुख अपनाना ठीक नहीं रहेगा। वैसी अवस्था में मैं संघ के प्रति वफादारी का सबूत नहीं दूँगा और अपने आपको कोई अच्छा कार्य-सम्पादन करने के अयोग्य प्रमाणित करूँगा। मैं अपने देश और सहयोग के हित में जो सबसे अच्छी सेवा कर सकता हूँ, वह यही है कि संघ को बाकायदा सहयोग प्रदान करने के लिए राजी करूँ। मैं जानता हूँ कि कार्यकारिणी के कार्यकलाप में हमारे भाग लेने के संबंध में सर पुरुषोत्तमदास का भी यही मत है, जो मेरा है। इसके अलावा भारतीय व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से वह मुझसे कई बातों में अच्छे हैं। उनमें अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार-कुशलता, अधिक योग्यता और अधिक अनुभव है। यदि हम दोनों संघ से अपने रुख में संशोधन कराने में समर्थ हुए तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भारतीय व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए वह सबसे योग्य व्यक्ति हैं।

"एक मात्र इस प्रश्न पर विचार करने के हेतु संघ की बैठक बुलाई जा रही है। उसके बाद मैं आपको फिर लिखूँगा। मैं यह भी चाहूँगा कि हमारे बीच में जो कुछ विचार-विनिमय हुआ है, उसकी खबर वाइसराय महोदय को भी रहे, जिससे आवश्यकता पड़ने पर हम आपको कष्ट दिए बगैर ही उनसे बातचीत कर सकें।

"मैं संघ के प्रमुख सदस्यों के साथ इस समस्या की चर्चा करने दिल्ली आया था और अब फिर कलकत्ते के लिए रवाना हो रहा हूँ। वहाँ मैं श्री बेंथल और

अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवसाय और वाणिज्य में दिलचस्पी रखने वाले दोनों वर्गों के अपेक्षाकृत निकटतर सहयोग के प्रश्न पर बातचीत करूँगा।''[84]

अपने अगले पत्र में सर सैमुअल होर ने एक नया प्रश्न उठाया, और वह था साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) के बारे में ओटावा में होने वाली परिषद् का प्रश्न, जिसका उस समय अपना महत्व था।

''.... एक और अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसकी ओर आपका और पुरुषोत्तमदास का ध्यान दिलाना आवश्यक है। एक प्रश्न है ओटावा परिषद् का। जैसा कि आपको मालूम ही है, यह परिषद् आगामी ग्रीष्म ऋतु में होने वाली है। जहाँ तक भारत का संबंध है, साम्राज्य के विभिन्न उपनिवेशों के चुंगी-संबंधी पारस्परिक सम्बन्ध का अब तक का इतिहास मुझे मालूम है, पर मुझे आशा है कि आप समझ लेंगे कि सम्राट की सरकार की नयी नीति इस प्रश्न को एक बिल्कुल नये आधार पर रखने की है — ऐसे आधार पर, जिसमें भावुकता और राजनीति को गौण और आर्थिक हितों को मुख्य स्थान दिया जायेगा। यदि ओटावा- परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व उस मनोभाव के साथ नहीं हुआ, जिसके द्वारा दोनों देशों के लिए एक समान लाभदायक व्यवसाय और वाणिज्य-संबंधी वार्तालाप संभव हो सके, तो मुझे बड़ी निराशा होगी।''[85]

घनश्यामदासजी ने भारतीय वाणिज्य उद्योग संघ-समिति के सदस्यों से परामर्श कर सर सैमुअल होर को जवाब दिया :

''.... आपको पिछली बार लिखने के बाद मैंने लार्ड लोदियन और सर जार्ज शुस्टर से बात की और उन्हें बताया कि जो लोग आर्थिक मामलों को समझते ही नहीं हैं, उनसे आर्थिक अभिरक्षणों की चर्चा करना व्यर्थ समय नष्ट करना है। मैंने उन्हें यह बात सुझाई कि ऐसे मामलों का व्यावहारिक हल तलाश करने का एकमात्र मार्ग यही है कि दोनों पक्षों के अनुभवी व्यापारी एक साथ बैठें और सर्वसम्मत हल ढूँढ़ निकालें। लार्ड लोदियन और सर जार्ज शुस्टर, दोनों को मेरा सुझाव बहुत ही पसंद आया और उन्होंने आपको पत्र लिखने का वचन दिया। आशा है, उन्होंने

84. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 170
85. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 171

लिखा होगा। मैं दो-एक दिन में शुस्टर से मिलूँगा और 17 तारीख को वाइसराय से भी मिल रहा हूँ, पर मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप अपने रुख पर दुबारा विचार करिये। यदि आप ऐसी समिति नियुक्त कर सकें, चाहे वह परामर्शदायिनी समिति के तत्वावधान में ही क्यों न हो, जिसमें एक ओर लार्ड रीडिंग और सर बैसिल ब्लेक्टै जैसे आदमी हों और दूसरी ओर हमारे पक्ष के भी उतने ही व्यक्ति हों, और सब मिलकर सारे आर्थिक मामलों पर चर्चा करें, तो मुझे यकीन है कि उसका फल बहुत अच्छा निकलेगा।

''शायद एक उन्मूलनवादी भारत और एक अत्यंत अनुदार पार्लियामेंट में इस समय समझौता संभव न हो, पर मेरा निवेदन यह है कि वर्तमान पार्लियामेंट तथा कांग्रेस से असम्बद्ध प्रगतिशील भारतीय लोकमत के बीच समझौता अवश्य संभव है। बस, मैं इसी दिशा में आपकी सहायता और पथप्रदर्शन चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप यह बात समझें कि यदि विधान को कांग्रेस की तो बात ही क्या, प्रगतिशील वर्ग तक की सहमति के बगैर अमल में लाया जाएगा तो उसके निष्कंटक रूप से चलने की बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है। इसके विपरीत, यदि आप हमें ऐसा शासन-विधान प्रदान करेंगे, जो प्रगतिशील वर्ग को रुचिकर होगा, तो उसे गांधीजी तक का आशीर्वाद प्राप्त हो जाएगा। मैं गांधीजी और कांग्रेस में हमेशा भेद करता आया हूँ, और आपसे कहना यही है कि आपके लिए हमें ऐसा विधान प्रदान करना संभव है, जो कांग्रेस को ग्राह्य न होते हुए भी गांधीजी द्वारा नामंजूर नहीं किया जाए और जिसका भविष्य में निष्कंटक रूप में अमल में आना संभव हो। यदि विधान के जारी किए जाने के दूसरे दिन ही उसका विध्वंस करने के लिए कोई आंदोलन खड़ा कर दिया गया तो शांति असंभव हो जायेगी और मैं चाहता हूँ दोनों देशों में स्थायी शांति···

''ओटावा-परिषद् के संबंध में मेरा कहना यही है कि यदि आपकी यह अभिलाषा है कि उसमें भारतीय व्यवसाय और वाणिज्य का भी प्रतिनिधित्व रहे, जैसा कि मैं आपके पत्र से समझा हूँ, तो जब कभी सर पुरुषोत्तमदास को निमंत्रण दिया जायेगा, वह खुशी-खुशी स्वीकार कर लेंगे। मैं यह उनकी पूरी रजामंदी से लिख रहा हूँ। संघ की समिति इस योजना के खिलाफ नहीं होगी। हम लोग इस परिषद् की महत्ता को समझते हैं और, आप निश्चिंत रहिए, ठीक दिशा में हमारा समर्थन मौजूद रहेगा।

"क्या मैं इस संबंध में एक और सुझाव दे सकता हूँ ? ओटावा में जो कुछ भी निर्णय हो, उस पर उस समय तक व्यवस्थापिका सभा द्वारा हस्ताक्षर न हो, जब तक नया विधान अमल में न आ जाए⋯।"[86]

ओटावा सम्मेलन 17 नवम्बर, 1932 को शुरू हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य विषय वही साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) था, जिसके विरुद्ध घनश्यामदासजी शुरू से ही विधानसभा में संघर्षरत थे। अंग्रेज इनसे मन ही मन घबराते थे, क्योंकि वही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विधानसभा के गलियारे में कहा था, "आधुनिक इतिहास में साम्राज्य अधिमान का प्रारंभ सन् 1897 में हुआ, जब अंग्रेजों ने भारत के कच्चे माल को सबसे कम दामों पर खरीदकर, उसी से बने माल को ज्यादा से ज्यादा कीमतों पर बेचने तथा उस पर औरों की तुलना में कम 'कर' देने का कानून बनाया।"

ओटावा सम्मेलन में घनश्यामदासजी भारतीय उद्योग के प्रतिनिधि बनकर गये। प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व किया सर अतुल चटर्जी, के.सी.एस.आई. ने।

सम्मेलन के पहले दिन जैसे ही दस प्रतिशत का साम्राज्य अधिमान प्रस्तावित हुआ, घनश्यामदासजी ने उसका कड़ा विरोध किया। उन्होंने कहा, "भारत से इंगलैंड में सबसे ज्यादा 'एक्सपोर्ट' काफी, तम्बाकू, मोटर, स्प्रिट का होता है। भारतवर्ष को 'साम्राज्य अधिमान' से हानि के अलावा और कुछ भी प्राप्त नहीं होना।"[87]

अपने तर्क के समर्थन में उन्होंने सम्मेलन में अनेक प्रमाण दिए।

उन्होंने कहा, बीसवीं सदी के इस तीसरे दशक में भारत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास की उस मंजिल पर नहीं पहुँच पाया है, जहाँ यूरोप उन्नीसवीं सदी में ही पहुँच गया था। भारतीयों के उद्योग, धंधे और पेशे अभी भी कुल-क्रमानुगत हैं। मजदूरी और व्यवसाय के केन्द्र अब भी गाँव और पुराने नगर ही हैं।

उद्योग, बैंकिंग, व्यापार आदि धनोपार्जक धंधे हिन्दुओं और पारसियों के हाथ में थे। मुसलमान उन गुजरे हुए दिनों के स्वप्न देखा करते थे, जब सरकारी नौकरी

86. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 172, 173, 174, 175
87. एल./पी.ओ./1/50-ओटावा फाइल, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन

लाभ और प्रभाव का साधन मानी जाती थी जो उन्हें मुस्लिम शासकों के यहाँ आसानी से मिल जाया करती थी।

कृषि की स्थिति एक प्रांत से दूसरे प्रांत में भिन्न थी। बंगाल में हिन्दू जमींदारों का प्राधान्य था। अधिकांश मुसलमान या तो कृषक थे या कारीगर। उत्तर प्रदेश में मुसलमान जमींदारों का आधिपत्य था। शहरी व्यवसाय में भी उनका बाहुल्य था। कृषकों में उनकी संख्या अपेक्षाकृत थोड़ी थी। पंजाब में विशेषकर पश्चिमी जिलों में मुसलमान जमींदार ज्यादा थे। परन्तु हिन्दू लोग अधिकांशतः शहरों में ही व्यवसाय करते थे। छोटे-छोटे जमींदार भी प्रबल थे।

धर्म के कारण सामाजिक वर्गीकरण पर ही प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि इसके कारण आर्थिक और व्यवसायी वर्ग भी बन गये। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि राजनीति, जो आर्थिक मामलों तथा धंधों से संबंधित है, जो उद्यमों को प्रेरणा देती है, ने धार्मिक झुकाव लिया।

सरकार ने ऐसी आर्थिक नीतियाँ अपनाईं, जिनसे सामाजिक परिवर्तन बहुत लम्बा हो गया और मध्यकालीन सामाजिक वर्ग बने ही रहे।

इन परिस्थितियों में अंग्रेजी हुकूमत द्वारा भारत पर साम्राज्य अधिमान का आग्रह सर्वथा अनुचित है — ऐसा निश्चित मत घनश्यामदासजी ने ओटावा सम्मेलन में व्यक्त किया।

इसके बावजूद अंग्रेजी व्यापारियों और उद्योगपतियों के प्रतिनिधि सदस्यों ने अपने बहुमत के बल से केन्द्रीय विधानसभा के साम्राज्य अधिमान बिल को पास करा लिया।

यह बात घनश्यामदासजी को बहुत बुरी लगी। क्योंकि उन्होंने सर सैमुअल होर को लिखे अपने 14 मार्च, 1932 के पत्र में यह बात स्पष्ट कर दी कि ओटावा में जो कुछ भी निर्णय हो उस पर उस समय तक व्यवस्थापिका सभा द्वारा हस्ताक्षर न हो जब तक नया विधान अमल में न आ जाए।

"…. और मेरी विनम्र सम्मति में समझौता उस समय तक अमल में न आवे, जब तक उस पर नयी सरकार हस्ताक्षर न कर दे। हम सब आर्थिक मामलों में

प्रतिव्यवहार के कायल हैं। हाँ, यह अवश्य है कि व्यवस्था ऐसी हो कि वह लोकमत के अनुकूल हो। पर ऐसी योजना कोई कठिन कार्य नहीं है।''[88]

इस घटना से घनश्यामदासजी को गांधीजी की वह बात याद आयी कि किसी पर भी आवश्यकता से अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उनके सामने यह भी स्पष्ट हो गया कि भारत में अंग्रेजी राज का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक लाभ की अपेक्षा आर्थिक लाभ ही है।

88. सर सैमुअल होर को लिखे पत्र से

पाँचवाँ अध्याय

सामाजिक पुनर्जागरण और पुनर्गठन के लिए

आजादी की लड़ाई, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे, किन्हीं सामाजिक आदर्शों की साधना का माध्यम बनी थी। वे आदर्श भारतीय जनमानस के थे और उनमें बड़ी शक्ति थी। सन् 1920 से लेकर सन् 1930 तक राजनीतिक स्तर पर अंग्रेज हमारी सामाजिक निर्बलताओं के कारण स्वराज की लड़ाई को कमजोर करते गये। गांधीजी और उनके साथियों ने यह अनुभव कर लिया कि स्वराज की लड़ाई के लिए सामाजिक पुनर्जागरण और पुनर्गठन अनिवार्य है। इस पुनर्जागरण में एकता और समता का महत्व सर्वोपरि था। जब तक भारत देश एक जीवन्त इकाई रहा है, अपनी सहज, स्वस्थ गतिशीलता के काल में अपनी इस एकता को सहज अभिव्यक्ति देता रहा। किन्तु गुलामी के बाद यही एकता और समता जिस तरह से खण्डित हुई, उसी तरह उसके प्रति अलग से उतनी ही सजगता जरूरी हो गयी। सन् 1930 के बाद तो एकता विशेष लक्ष्य बन गयी। गांधीजी के अनन्य शिष्य और अभिन्न साथी घनश्यामदासजी के अनुसार, "गुलामी का कलंक मिटाना और एकता की सिद्धि दोनों एक-दूसरे के पर्याय हो गये।"

एकता को खण्डित करने वाले तत्व थे—छुआछूत, परस्पर असमानता और विभिन्न जातियों और धर्मों में बढ़ती हुई दूरियाँ। साथ ही गुलामी के कारण देश भीतर से भी विभक्त हो रहा था। इस पूरी सचाई को ध्यान में रखे हुए गांधीजी और उनके साथी घनश्यामदासजी के लिए एकता का गहरा संदर्भ था, जो भारतीय समाज के ऐतिहासिक अनुभवों का स्वाभाविक फल था। भारतवर्ष कभी एक सशक्त, स्वस्थ और इसीलिए न्यायपूर्ण विश्व-समाज का सहज अंग था। गांधीजी और घनश्यामदासजी की दृष्टि में यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि समाज में एक के प्रति अन्याय और दूसरों के प्रति आत्मीयता भीतरी बीमारी का चिह्न है। जिसे यूरोपीय सभ्यता कहा जाता है, उसमें यह बीमारी अत्यधिक संगठित और व्यापक रूप में है— यह गांधीजी और घनश्यामदासजी बार-बार कहते रहे थे।

घनश्यामदासजी की दृष्टि में भारतवर्ष में यह भीतरी बीमारी और भयंकर रूप धारण कर रही थी। उन्होंने स्पष्ट देखा, "अछूतपन को जहाँ गांधीजी पाप समझते हैं, पुराने विचार के कट्टर लोग उसे ही हिन्दू-धर्म का आभूषण मानते हैं।··· हम तो आज पूरे कायर बन गये हैं। बलवान की चापलूसी करते हैं, गरीब पर जुल्म करते हैं। अपनी स्त्रियों की रक्षा और देश, जाति-धर्म के प्रति अत्याचारों का सामना करने की असमर्थता को 'क्षमा' का सुन्दर नाम देकर फूले नहीं समाते। अपनी अकर्मण्यता एवं आलस्य का परिचय, 'जो प्रभु कीन्हीं सो भला कर मान्यो, यह सुमति साधु से पाई', नानकजी का यह सुन्दर पद गाकर देते हैं। जब अपनी कायरता को ढकना चाहते हैं तो, 'नहिं कोई बैरी नहिं बेगाना, सकल संग हमरी बन आई', यह कहकर संसार को धोखा देते हैं। हमारा अपरिग्रह 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की तरह रह गया है।··· हम अपनी अकर्मण्यता को संतोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, बाह्योपचारी रूढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शांति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं और इसी में अपना गौरव समझते हैं।"[89]

हम देख चुके हैं कि भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष केवल राजनीतिक मुक्ति के लिए सीमित और संकीर्ण आन्दोलन नहीं था। यह मोटे तौर पर एक प्राचीन और सामूहिक समाज जो स्वाधीनता, न्याय, वैयक्तिता, मानवता और सर्वधर्म समभाव के मूल्यों और मानदंडों को बढ़ावा देता, की पुनर्रचना को स्थापित करने की कोशिश थी।

इस प्रसंग में हिन्दू-मुस्लिम समस्या और हरिजन समस्या सबसे अधिक विकराल थी।

इन्हीं समस्याओं को अंग्रेज एक ओर बढ़ावा दे रहे थे, दूसरी ओर जाति, धर्म, भाषा, अशिक्षा और सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर ब्रिटिश अधिकारी यह साबित करने में लगे थे कि भारतवर्ष हर स्तर पर इतना विभाजित है कि वह कभी भी एक राष्ट्र नहीं हो सकता। अपने इन विचारों से वे यह निष्कर्ष निकालते थे कि ऐसे भारतवर्ष के लिए वे स्वशासन की बात सोच भी नहीं सकते। अपनी इस सोच के आधार पर ब्रिटेन यह विश्वास मजबूत कर रहा था और वह विश्वास

89. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 242, 243, 244, 245

भारतीयों के ऊपर थोप रहा था कि ब्रिटेन के लिए हमेशा ही भारत पर शासन करते रहना हर तरह से आवश्यक है।

हिन्दू नेता सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण को नहीं स्वीकार करते थे। वे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। उनकी आस्था अखण्ड भारत और भारतीय राष्ट्र में थी। उनका विश्वास था कि भाषा, रीति-रिवाज और धर्म सम्बन्धी भिन्नतायें राजनीति के लिए असंगत थीं और उन्हें यह संदेह नहीं था कि अपने बद्धमूल विश्वासों और उपासना पद्धतियों के मामले में अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों से आशंकित होने का कोई कारण है। उनकी दृष्टि में इन दोनों के समान राजनीतिक एवं आर्थिक हित थे। वे मानते थे कि विशेषाधिकारों, संरक्षणों और पृथक् मताधिकार से संगठित स्वरूप विशृंखल होता है और राष्ट्रीयता खंडित होती है। वे अस्पृश्यों या दलित जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन की समस्या को भी बड़ी गम्भीरता से लेते थे।

गांधीजी सहित उन व्यक्तियों में प्रमुख थे—मदनमोहन मालवीय, सरदार पटेल, घनश्यामदास बिड़ला, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू, राजगोपालाचारी और जयकर।

द्वितीय गोलमेज परिषद् में घनश्यामदासजी ने गांधीजी का यह निश्चय लोगों को बताया था कि अस्पृश्यों को यदि हिन्दू जाति से अलग करने की चेष्टा की गयी तो वह उस चेष्टा का अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी मुकाबला करेंगे। घनश्यामदासजी ने अब देखा कि गांधीजी के उस भीषण व्रत की परीक्षा का अवसर आ पहुँचा है। ''लोथियन-कमिटी मताधिकार और निर्वाचन की सीटों का निर्णय करने के लिए 17 जनवरी को भारत में आ पहुँची थी। समय बीतता चला जा रहा था। रिपोर्ट तैयार हो जाएगी। सरकार झटपट काम खत्म करने में दक्ष है ही, और हम लोग इसी तरह जबानी जमा-खर्च करते रहेंगे। इसीलिए बहुत सोचने-समझने के बाद गांधीजी ने भारत-मंत्री सर सैमुअल होर को 11 मार्च को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने यह निश्चय प्रकट किया कि यदि सरकार ने अस्पृश्यों या दलित जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन रखा तो मैं आमरण उपवास करूँगा। सर सैमुअल होर ने अपना उत्तर 13 अप्रैल, 1932 को भेजा और इसकी जानकारी घनश्यामदासजी बिड़ला को भी दी। यह उत्तर वही पुरानी पत्थर की लकीर का उदाहरण था, 'लोथियन कमिटी की प्रतीक्षा की जा रही है, हाँ, उचित समय पर

गांधीजी के विचारों पर भी ध्यान दिया जाएगा।' 17 अगस्त को मि. मैकडोनल्ड का निश्चय, जिसे भूल से 'निर्णय' के नाम से पुकारा जाता है, सुनाया गया जिसके अनुसार दलित-जातियों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार तो मिला ही, साथ ही आम निर्वाचन में भी उम्मीदवारी करने और दुहरे वोट हासिल करने का भी अधिकार दिया गया।''[90]

इस पर गांधीजी को बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने घोषणा की कि उपवास 20 सितम्बर को तीसरे पहर से शुरू होगा। मैकडोनल्ड ने आराम के साथ 8 सितम्बर, 1932 को उत्तर दिया और 12 सितम्बर को सारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित करा दिया। इस पत्र-व्यवहार से घनश्यामदासजी को बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने बड़ी चिंता प्रकट की। पूरे सप्ताह वह दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता में प्रमुख व्यक्तियों और संस्थाओं से मिलने और गांधीजी के पक्ष में वातावरण निर्मित करने के प्रयास में लगे रहे। उन्होंने गांधीजी से भेंट करने की भी अनुमति माँगी, पर उन्हें नहीं मिली।

''संसार के कोने-कोने से पूना को तार भेजे गये। गांधीजी का संकल्प छुड़ाने के लिए तरह-तरह की सलाहों और तर्कों से काम लिया गया। मित्र उनके प्राण बचाने के लिए चिन्तित थे और शत्रु उपहासपूर्ण कुतूहल के साथ सारा व्यापार देख रहे थे। घनश्यामदासजी ने प्रयत्न किया कि प्रधानमंत्री का निश्चय तो रद्द होना ही चाहिए। वे स्वयं तो ऐसा करेंगे नहीं। इसलिए हिन्दुओं के आपसी समझौते के द्वारा उसका अन्त होना चाहिए। इसके लिए एक परिषद् करना आवश्यक है। परिषद् 19 को हो या 20 को ? यही प्रश्न था। गांधीजी के जीवन की रक्षा करनी ही चाहिए। यह बड़ी अच्छी बात हुई कि दलित जातियों के ही एक नेता ने इस दिशा में पैर बढ़ाया। रायबहादुर एम.सी. राजा ने पृथक् निर्वाचन को धिक्कारा। सर सप्रू ने गांधीजी की रिहाई की माँग की। कांग्रेसवादियों ने भी स्वभावतः देशभर में संगठन करके समझौता कराने की चेष्टा की। पर घनश्यामदासजी के सहयोग से मालवीयजी ने तत्काल नेताओं की एक परिषद् बुलाने की बात सोची। उन्हीं के आग्रह पर इंगलैंड में दीनबंधु एण्ड्रूज, मि. पोलक और मि. लेंसबरी ने स्थिति की गम्भीरता की ओर अंग्रेज जनता का ध्यान आकर्षित कराना आरम्भ किया। एक अपील पर प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए, जिसके द्वारा इंगलैंड-भर में

90. कांग्रेस का इतिहास, पट्टाभिसीतारमैया, भाग 1, पृष्ठ 433

खासतौर से प्रार्थना करने को कहा गया। भारतवर्ष में 20 सितम्बर को उपवास और प्रार्थनाएँ की गयीं। इसमें शांतिनिकेतन ने भी भाग लिया। वैसे इस आन्दोलन का आरम्भ प्रधानमंत्री के निश्चय में संशोधन कराने के लिए किया गया था, पर इस आन्दोलन को अस्पृश्यता-निवारण से अधिक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण करते देर न लगी। कलकत्ता, दिल्ली और अन्य स्थानों में अस्पृश्यों के लिए मंदिर खोले जाने लगे। परिषद् बम्बई में आरम्भ हुई, पर शीघ्र ही पूना में ले जायी गयी। डा. अम्बेदकर शीघ्र ही बातचीत में शामिल हो गये। श्री अमृतलाल ठक्कर, श्री राजगोपालाचारी, सर चुन्नीलाल मेहता, पण्डित मालवीय, श्री घनश्यामदास बिड़ला, सरदार पटेल, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री जयकर, डाक्टर अम्बेदकर, रायबहादुर एम.सी. राजा, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, पण्डित हृदयनाथ कुंजरू और अन्य सज्जनों की सहायता से एक योजना तैयार की गयी, जिसे उपवास के पाँचवें दिन सारे दलों ने स्वीकार कर लिया। दलित जातियों ने पृथक् निर्वाचन का अधिकार त्याग दिया और आम हिन्दू-निर्वाचनों से ही संतोष कर लिया। उच्च जातियों के हिन्दुओं ने महत्वपूर्ण संरक्षण प्रदान किए। उनमें से एक संरक्षण यह है कि सरकारी निर्णय के अनुसार आम निर्वाचनों में जितनी जगहें दी गयी हैं उनमें से 148 दलित-जातियों को दी जाएँ। दूसरा यह है कि हरेक की सुरक्षित जगह के लिए दलित जातियाँ चार उम्मीदवार चुनें और आम निर्वाचन में उनमें से एक को चुन लिया जाए। पूरा समझौता उस समय तक कायम रहे जब तक सबकी सलाह से उसमें परिवर्तन न किया जाए। दलित-जातियों का प्रारंभिक निर्वाचन दस साल तक जारी रहे। ब्रिटिश सरकार ने पूना पैक्ट के उस अंश तक को स्वीकार कर लिया जिस अंश तक उसका प्रधानमंत्री के निश्चय से सम्बन्ध था। जो-जो बातें साम्प्रदायिक निर्णय के बाहर जाती थीं, उन पर रोक रखा गया।''[91]

उस समय घनश्यामदासजी की मुख्य चिंता यह थी कि गांधीजी को जेल से छुड़ा लिया जाए। उन्होंने जेल में हरिजनों के मताधिकार के प्रश्न पर अनशन शुरू कर दिया था। घनश्यामदासजी ने सर तेज बहादुर सप्रू, सर सैमुअल होर और लार्ड लोदियन को अग्रलिखित तार भेजे :

91. कांग्रेस का इतिहास, पट्टाभिसीतारमैया, भाग 1, पृष्ठ 433, 434, 435

''सर तेज बहादुर सप्रू, इलाहाबाद

अनुरोध करता हूँ, आप गांधीजी के रिहाई के लिए चेष्टा करिए। मैं समझता हूँ अस्पृश्यों के साथ समझौता करने से संकट टल सकता है, पर यह केवल गांधीजी के व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त उनकी रिहाई से अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्यों की भी सिद्धि होगी। इसलिए आशा है, आप सभी आवश्यक कार्रवाई करेंगे।''

''सर सैमुअल होर,
इंडिया आफिस, लंदन

संकट इतना गंभीर है कि आपको यह तार भेजना कर्तव्य समझता हूँ। मेरी विनम्र सम्मति में यदि सरकार सचमुच सहायता करे तो समस्या हल हो सकती है। सबसे पहले गांधीजी को अन्य प्रमुख नेताओं के साथ तुरंत रिहा कर देना चाहिए। गांधीजी की उपस्थिति अस्पृश्यों के साथ समझौता करने में बड़ी सहायक होगी। बाद को सरकार को इस समझौते की पुष्टि करनी चाहिए। इससे अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं के हल का मार्ग भी खुल जाएगा। अतएव अनुनय है कि गांधीजी की रिहाई में विलम्ब न किया जाए। कहना अनावश्यक है, उनकी मृत्यु भारत के लिए ही नहीं, समूचे साम्राज्य के लिए दुर्भाग्य की बात होगी। व्यक्तिगत रूप से विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ और आशा है, आपका भी यही विश्वास है कि वह ब्रिटेन के भी उतने ही बड़े मित्र हैं, जितने भारत के।''

इस अन्तिम तार के उत्तर में उन्हें इंडिया आफिस से यह पत्र मिला :

''प्रिय श्री बिड़ला,

मैं आपको यह पत्र, यह बताने के लिए लिख रहा हूँ कि सर सैमुअल होर के नाम आपका 13 सितम्बर का तार मिल गया है। इस समय सर सैमुअल वाल्मोरल केसल गये हुए हैं, वहीं आपका तार भेज रहा हूँ।''

घनश्यामदासजी ने लार्ड लोदियन को जो तार भेजे थे उनकी शायद कोई नकल उन्होंने नहीं रखी थी। पर उन्हें उनकी पहुँच की अग्रलिखित सूचना मिली :

"प्रिय बिड़ला जी,

लार्ड लोदियन ने मुझे आपके 13 सितम्बर के तार की, जिसमें आपने बताया है कि गांधीजी का अनशन करने का विचार है, पहुँच स्वीकार करने की आज्ञा दी है। उन्होंने आपके तार की नकल लार्ड अरविन् के पास भेज दी है।"

इसके बाद घनश्यामदासजी ने उन्हें पत्र लिखा :

"प्रिय लार्ड लोदियन,

मैंने आपके पास गांधीजी की रिहाई के सम्बन्ध में एक तार भेजा था और मैं समझता हूँ, आपके पास ऐसे ही और बहुत सारे तार पहुँचे होंगे। मैंने सर सैमुअल के पास भी ऐसा ही तार भेजा था, और आज सुबह के पत्रों में देखता हूँ कि गांधीजी को कुछ शर्तों पर रिहा किया जाएगा। ये शर्तें उनके अनशन आरम्भ करने के बाद लागू होंगी। यह कुछ हद तक ठीक ही हुआ, पर मुझे कहना पड़ता है कि इस मामले में भी काम भौंड़े ढंग से किया गया। यदि सरकार तुरंत और बगैर किसी शर्त के रिहा कर देती तो उसका कुछ बिगड़ता नहीं। यदि सरकार उनके कुछ प्रमुख सहयोगियों को भी रिहा कर देती तो और भी अच्छा रहता, क्योंकि इस संकट के अवसर पर सभी को उनकी सहायता की जरूरत पड़ेगी। प्रधानमंत्री की तर्कशैली समझ में नहीं आयी। वह सर्वसम्मत समझौता चाहते हैं, पर इस वृद्ध को बम्बई तट पर पाँव रखते ही जेल में ठूँस देते हैं और मरणासन्न अवस्था में रिहा करते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वसम्मत समझौता क्यों कर सम्भव है, यह साधारण कोटि के मनुष्यों की समझ के बाहर की बात है। इस गर्मी के लिए क्षमा करिएगा। पर जब हम देखते हैं कि इस संकट के अवसर पर अच्छे ढंग से पेश आने के बजाए सरकार स्थिति को और भी कठिन बना रही है, तो हमारे चित्त की अवस्था का आप खुद अन्दाजा लगा सकते हैं।

आप जैसी भी सहायता कर सकते हैं, अवश्य करिए। हमें सलाह भी दीजिए। मैं कुछ हफ्ते गांधीजी के पास रहूँगा और बम्बई में मेरा पता 'बिड़ला हाउस, मलाबार हिल, बम्बई' रहेगा। आप मंत्री अवश्य हैं, पर मुझे आशा है कि आप सरकारी कायदे-कानून की परवा न कर यथासंभव हमारी सहायता करेंगे।"

इस दिशा में घनश्यामदासजी ने कितना कार्य किया उसका ब्यौरा उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरे जीवन में गांधीजी' के पृष्ठों में अंकित है।[92]

यरवदा जेल के अन्दर ही गांधीजी तथाकथित अस्पृश्यों का उत्थान कार्य करने लगे थे। अस्पृश्यों को उन्होंने तभी हरिजन नाम दिया था। यह नाम एक अछूत भाई के सुझाव पर गांधीजी ने स्वीकार किया था। उसका अर्थ था कि जिनका कोई सहारा नहीं उनका सहारा एक हरि भगवान ही है।

इस कार्य को चलाने के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता थी। यह संस्था गांधीजी की प्रेरणा से बना दी गयी। इसका नाम "एण्टी अनटचेबिलिटी लीग" (अस्पृश्यता निवारक मण्डल) रखा गया। गांधीजी ने इसका अध्यक्ष घनश्यामदास बिड़ला को बनाया। घनश्यामदासजी ने इस शर्त पर अध्यक्ष बनना स्वीकार किया कि ठक्कर बापा को इसका मंत्री बनाया जाए। बापा ने मंत्री बनना सहर्ष स्वीकार कर लिया। अस्पृश्यता निवारक मण्डल का आफिस दिल्ली के बिड़ला काटन मिल्स में दो कमरों में सबसे पहले रखा गया। उन दिनों बिड़ला काटन मिल्स के सचिव ज्वाला प्रसाद मंडेलिया अस्पृश्यता-उन्मूलन कार्य में सहयोग दे रहे थे। ठक्कर बापा, प्रो. एन.आर. मलकानी और वियोगी हरि इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे।

कुछ दिनों बाद संस्था का नाम "सर्वेन्ट्स आफ अनटचेबल सोसाइटी" रख दिया गया। इस नाम पर बम्बई के महर्षि शिंदे ने आपत्ति की कि इस नाम की संस्था तो पहले से ही उनकी है। तब तीसरी बार संस्था का नाम गांधीजी के सुझाव पर हरिजन सेवक संघ रखा गया, जो आज तक चल रहा है। नवम्बर महीने के अन्त में जेल से लिखे गये गांधीजी के पत्र से प्रकट है कि संस्था का नाम उन्होंने ही चुना था :

"भाई घनश्यामदासजी,

शिंदेजी की बड़ी शिकायत है कि हमने उनकी संस्था का नाम चुरा लिया। यह शिकायत ठीक मालूम होती है। हमको काम के साथ काम है, नाम के साथ नहीं, इसलिए मेरी सूचना है कि हम अखिल भारत-हरिजन सेवक संघ नाम रखें और

92. "मेरे जीवन में गांधीजी" घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 185, 186, 187

अंग्रेजी और देशी भाषाओं में यही नाम रखें। तुम आ तो रहे हो, लेकिन शायद यह तुम्हें वक्त पर मिल जाएगा।''[93]

घनश्यामदासजी ने हरिजन सेवक संघ की बंगाल शाखा का अध्यक्ष डा. विधानचन्द्र राय, जो कि उस समय पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री थे, को बनने को कहा क्योंकि वह हरिजनों के उद्धार के प्रबल समर्थक तो थे ही, साथ ही गांधीजी के पक्के अनुयायी और उनके सलाहकार-चिकित्सक भी थे। कुछ लोगों की राय थी कि डाक्टर राय राजनीति में भाग लेते हैं, इसलिए उन्हें संघ का अध्यक्ष चुनने में इस विशुद्ध सामाजिक और मानवीय आन्दोलन में अवांछनीय राजनीतिक पुट आ जाएगा। गांधीजी ने पहले डा. राय के अध्यक्ष चुने जाने का समर्थन किया, पर बाद में आलोचकों की टीका-टिप्पणी सुनकर अपना विचार बदल दिया और डाक्टर राय को एक पत्र लिखकर उनसे अध्यक्ष पद से हट जाने को कहा। डाक्टर राय ने जो उत्तर दिया, उसमें क्रोध की मात्रा कम, क्षोभ की अधिक थी, और उनके विरोध का ढंग भी इतना मर्यादापूर्ण था, कि उससे गांधीजी के विचारों में फौरन परिवर्तन आ गया। उन्होंने जो कुछ लिखा था उसे उन्होंने बिना किसी शर्त के वासप ले लिया और डाक्टर राय से अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया।

उसके बाद अस्पृश्यता-उन्मूलन कार्य की प्रगति के लिए महात्मा गांधी ने पूरे भारत का भ्रमण किया था। यह ऐतिहासिक यात्रा ''अस्पृश्यता-निवारण यात्रा'' के नाम से जानी गयी। यह वर्धा से प्रारम्भ हुई, किन्तु व्यवहार रूप में इसका श्रीगणेश घनश्यामदासजी के द्वारा बिड़ला काटन मिल्स, दिल्ली से ही कराया गया।

सन उन्नीस सौ सैंतीस में गांधीजी बिड़ला मिल्स में पधारे थे। उनका स्वागत मिल के पीछे विस्तृत उद्यान में जामुन के वृक्ष के नीचे किया गया। घनश्यामदासजी के साथ मिल के सारे कार्यकर्ता महात्माजी के स्वागत के लिए उपस्थित थे। उस समय बापू को केले के पत्ते पर मानपत्र और छह हजार रुपये की थैली हरिजन सेवा के लिए भेंट की गयी। अपने भाषण में धन्यवाद देते हुए गांधीजी ने कहा, ''यह तो बिड़ला जैसों का ही काम है कि वह अस्पृश्यता निवारण के लिए पैसा दें। हर धार्मिक हिन्दू का कर्तव्य इस धरती पर से अस्पृश्यता को नष्ट करना है।''

93. ''मेरे जीवन में गांधीजी'' घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 191, 192

यह यात्रा बिड़ला मिल्स से आरम्भ होकर 12,500 मील की परिक्रमा के बाद काशी में सम्पन्न हुई। इसे पूरा करने में नौ महीने लगे थे। घनश्यामदासजी के शब्दों में, ''यह यात्रा हिन्दुओं के इतिहास में इसलिए विख्यात रहेगी, क्योंकि अस्पृश्यता निवारण अब केवल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने की वस्तु नहीं, अपितु यह एक अत्यधिक धार्मिक, सामाजिक ज्वलंत प्रश्न के रूप में हमारे सामने है।''

इस यात्रा में घनश्यामदासजी ने गांधीजी का पूरा साथ दिया और उनके साथ उड़ीसा में पैदल चले। इस लम्बी यात्रा के दौरान गांधीजी ने सबसे पहले मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश पर विशेष ध्यान दिया। उसके लिए देशव्यापी आन्दोलन 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ' के माध्यम से चलाया गया। इसके सूत्रधार थे— घनश्यामदासजी और ठक्कर बापा।

घनश्यामदासजी की दक्षिण भारत की यात्रा के फलस्वरूप वहाँ के अनेक मंदिरों के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। इनमें प्रमुख था, प्रसिद्ध गुरुवायूर मंदिर। इसका प्रभाव भारत के अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा। हरिजनों के लिए मंदिरों के द्वार खुलने लगे।

इस सफलता पर संघ के अध्यक्ष के रूप में घनश्यामदासजी ने 'हरिजन सेवक' के अंक में लिखा, ''काफी मंजिल पड़ी हुई है, पर जो कुछ हुआ है वह भी एक चमत्कार समझना चाहिए।'' बिहार के जो मंदिर 1934 के भयंकर भूकंप से टूट गये थे, उनकी मरम्मत के लिए एक लाख रुपये का अनुदान घनश्यामदासजी के बड़े भाई जुगलकिशोर बिड़ला ने इस शर्त पर संघ को दिया कि उनमें हरिजनों का निर्बाध प्रवेश हो। बिड़ला मंदिर के नाम से नयी दिल्ली का लक्ष्मीनारायण मंदिर इस अवधि में बन रहा था। 18 मार्च, 1939 को पचास हजार जन-समूह की उपस्थिति में घनश्यामदासजी ने गांधीजी के कर-कमलों से उसका उद्घाटन कराया। इस मंदिर का निर्माण जुगलकिशोरजी ने अपने पिता राजा बलदेवदासजी के नाम से कराया। इसमें हरिजनों को प्रवेश की पूरी छूट थी। इस अवसर पर जो गांधीजी के उद्‌गार थे, वे अनेक अर्थों में महत्वपूर्ण हैं, ''मेरे लिए हिन्दू धर्म में ऊँच-नीच के विचार का कोई स्थान नहीं है। वर्ण तो जरूर है, पर कोई एक वर्ण दूसरे से ऊँचा नहीं है। वर्णों में उच्चता की भावना का कहीं समावेश है ही नहीं। यह तो केवल विभिन्न कार्यों और विभिन्न कर्तव्यों के सूचक हैं।''

"हरिजन सेवक संघ" के लिए घनश्यामदासजी ने ठोस काम किए। उससे महात्मा गांधी इतने प्रभावित हुए कि 30 सितम्बर, 1933 के पत्र द्वारा साबरमती आश्रम की भूमि और इमारत हरिजन सेवा कार्य के निमित्त संघ के अध्यक्ष घनश्यामदास बिड़ला को सौंपने का प्रस्ताव किया। इसके उत्तर में हरिजन सेवक संघ के प्रधान के रूप में घनश्यामदासजी ने 4 अक्तूबर, 1933 को गांधीजी को पत्र लिखा, "यह आपकी और आश्रम के ट्रस्टियों की महती उदारता है। मैं इस प्रस्ताव को अविलम्ब स्वीकार करता हूँ और आशा करता हूँ कि संघ अपने आपको आपके विश्वास के योग्य प्रमाणित करेगा।"

पाँच अक्तूबर उन्नीस सौ सैंतीस के अपने दूसरे पत्र में घनश्यामदासजी ने बापू को फिर लिखा, "आपके दान और हमारी स्वीकृति के फलस्वरूप दो-एक वार्ता की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक है। अब तक हमारे पास बैंक में जमा रुपये को छोड़कर कोई सम्पत्ति नहीं थी। हम लोग हरिजन छात्रावास बनाने के लिए जमीन खरीदने का विचार कर रहे थे, पर अब हमारे पास आपकी दी हुई बहुमूल्य स्थावर सम्पत्ति हो जाएगी। अब यह प्रश्न तुरंत ही उठ खड़ा होगा कि इस सम्पत्ति का स्वामी कौन होगा— हरिजन मण्डल ? यदि हरिजन मंडल ही इसका स्वामी हुआ तो उसी की बाध्यता के अनुरूप इसका अस्तित्व रहेगा और हमारे संघ में बाध्यता नाम की चीज अभी तक नहीं है।"

इस सम्बन्ध में बापू और घनश्यामदासजी के बीच बराबर पत्र-व्यवहार हुआ। दोनों व्यक्तियों ने हरिजन सेवा कार्य करते-करते एक ओर ईश्वर में अपनी आस्था को बढ़ता हुआ पाया और दूसरी ओर अपनी शक्ति की तुच्छता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। इस प्रकार ईश्वर की दया पर विश्वास रख कर अस्पृश्यता-निवारण का जो काम गांधीजी, घनश्यामदासजी और ठक्कर बापा ने किया उनका प्रभाव व्यापक रूप से सारे भारत पर पड़ा। जन-मानस में यह बोध जाग गया कि अस्पृश्यता जिसे अभी तक धर्म समझा जाता था, वस्तुतः एक अमानवीय प्रवृत्ति है।

गांधीजी से प्रेरणा पाकर 'हरिजन सेवक' के सम्पादन-काल में घनश्यामदासजी ने कुछ भाषा सम्बन्धी प्रयोग किए। राजस्थानी, गुजराती, बुदेलखण्डी आदि बोलियों के कुछ शब्दों को चलाने का प्रयत्न किया। अरबी, फारसी के कुछ अनफबते शब्दों को बीच-बीच में डालकर 'हरिजन सेवक' की भाषा को हिन्दुस्तानी जामा पहनाने की कोशिश की।

'हरिजन सेवक संघ' स्थापित हुए मुश्किल से एक वर्ष हुआ होगा कि अध्यक्ष घनश्यामदासजी के मन में आया कि दिल्ली में क्यों न एक अच्छा सा हरिजन छात्रावास खोला जाए। साथ ही उद्योगशाला खोलने की भी उनकी कल्पना थी। इन सबके लिए पुरानी छावनी के पास, किंग्सवे के पास ढका गाँव के जमींदारों की इक्कीस एकड़ जमीन तीस हजार रुपयों में खरीद ली। जमीन की कीमत घनश्यामदासजी ने चुकायी। यह वही जगह है जिसके समीप 1911 का सुप्रसिद्ध दिल्ली दरबार हुआ था।

संघ का प्रथम वार्षिक अधिवेशन दिसम्बर, 1933 में ग्यारह से तेरह तारीख तक दिल्ली में हुआ। उसमें अध्यक्ष श्री घनश्यामदासजी और मंत्री ठक्कर बापा के अतिरिक्त चौबीस व्यक्ति पदेन तथा आन्दोलन में रुचि लेने वाले ग्यारह कार्यकर्ता सम्मिलित हुए। ये लोग उस समय भारत के सभी प्रान्तों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

संघ के दूसरे केन्द्रीय बोर्ड की वार्षिक बैठक काशी में 28 एवं 29 जुलाई, 1934 को हुई। वहाँ अस्पृश्यता निवारण यात्रा के अन्तिम दौर में गांधीजी का कार्यक्रम निश्चित किया गया।

अध्यक्ष घनश्यामदासजी ने केन्द्रीय कार्यालय से सम्बद्ध एक ऐसा प्रशिक्षण केन्द्र और औद्योगिक संस्थान खोलने का सुझाव रखा जिसमें व्यावसायिक प्रशिक्षण के साथ-साथ अनुसंधान भी हो। इसकी विस्तृत योजना सदस्यों के पास भेजी गयी।

'हरिजन सेवक संघ' के हर पदाधिकारी को एक तरह की शपथ लेनी पड़ती थी जिसका आशय था कि— मैं अपने जीवन में ऊँच-नीच का भेद नहीं मानूँगा।

घनश्यामदासजी के जागरूक मन में 'ऊँच-नीच' को लेकर कुछ शंकाएँ उपस्थित हुईं। इसलिए वह शपथ लेने से पहले अपनी शंकाओं के समाधान के लिए गांधीजी के पास पहुँचे। उनका तर्क था, "केवल जन्म से न कोई ऊँचा है, न नीचा, यह तो मैं सहज मान सकता हूँ। पर यदि एक आदमी चोर है, दुष्ट है, पापी है, उसके पाप-कर्म प्रत्यक्ष हैं और मुझमें वे ऐब नहीं हैं तो मैं अभिमान न भी करूँ तो भी, इस ज्ञान से कि मैं अमुक से भला हूँ, कैसे वंचित रह सकता हूँ ?"

गांधीजी का उत्तर था, "ऐसी कल्पना ही भ्रममूलक और अहंकार से भरी है।"

यह उत्तर घनश्यामदासजी को मोहक लगा। अधिक मोहक तो यह चीज लगी कि गांधीजी किस हद तक चैतन्य हैं। गांधीजी की यह जागरूकता, वह हरिजन मंदिर प्रवेश और उनके उत्थान के कार्यों में गहराई से महसूस करते रहे। अनुभूति की यह यात्रा अखिल भारतीय स्तर की थी। गांधीजी के साथ घनश्यामदासजी काफी पैदल चले थे। इन सब बातों के फलस्वरूप हरिजनों के लिए जगह-जगह मंदिरों के द्वार खुलने लगे। सनातनियों ने बहुमत से हरिजनों को मंदिर-प्रवेश करने की इजाजत दे दी। प्रयाग में 'सनातन धर्म सभा' ने भी इसी प्रकार के प्रस्ताव पास किए। यह सारा चमत्कार पाँच महीने की छोटी सी अवधि में हुआ।

गांधीजी के आमरण अनशन और अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन के बाद घनश्यामदासजी ने अनुभव किया कि भारत की सारी राजनीतिक स्थिति ने मूर्तरूप धारण कर लिया है। उग्रपंथियों को गांधीवाद की उपयोगिता में संदेह होने लगा। बापू ने यह भी देखा कि कांग्रेस के अनुयायियों में अहिंसा के वेश में हिंसा घुस आयी है। इसीलिए वह 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' बंद कर सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने के काम में जुट गये। घनश्यामदासजी उनके इन कार्यों में छाया की तरह उनका अनुसरण करते रहे। गांधीजी की तरह उन्होंने भी यह माना कि स्वराज्य भीतर से आयेगा, बाहर से नहीं। वह जानते थे कि स्वराज एक मानसिक स्थिति है, लेकिन साथ ही वह इस बात के प्रति भी सचेत थे कि जिस विदेशी सत्ता से हमें मुक्त होना है, उसके बारे में हमें ज्ञान होना चाहिए। इसलिए उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना उचित समझा और पारस्परिक समझौते के मार्ग को प्रशस्त करने की चेष्टा में लगे रहे।

भारतीय स्वतंत्रता के लिए हर स्तर पर सामाजिक नवजागरण के महत्व को घनश्यामदासजी भली-भाँति जानते थे। हरिजन कल्याण, अस्पृश्यता निवारण, मद्य निषेध और साम्प्रदायिक एकता अनेक प्रकार के सामाजिक सुधार कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया। उन्होंने देख लिया था कि देश को स्वतंत्र और सम्पन्न करने के लिए समाज को शिक्षित करना अनिवार्य है। जनसाधारण का मंगल, जीवन के सभी पक्षों के समन्वयन से ही होता है। इसमें शिक्षा और विद्या प्राप्ति का बुनियादी महत्व है। स्वास्थ्य, विद्या, ज्ञान, धर्म, आस्था और आनन्द के साथ यदि मनुष्य को कल्याण मिल सके तो सब कुछ मंगलमय हो पाएगा। शिक्षा और विद्या की प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए घनश्यामदासजी ने करोड़ों

रुपये का दान देकर 'बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट' की सन् 1926 में स्थापना की। इस ट्रस्ट का बीजारोपण घनश्यामदासजी के पितामह शिवनारायणजी ने सन् उन्नीस सौ एक में पिलानी गाँव में एक छोटी-सी पाठशाला के रूप में किया था। शिवनारायणजी ने पाठशाला की स्थापना ही की थी, अपने पौत्रों तथा ग्राम के अन्य बालकों को विद्यारंभ कराने के लिए। इसी पाठशाला में उनके दो पौत्र रामेश्वरदासजी और घनश्यामदासजी ने विद्या का आरंभ किया। वही बीज़ धीरे-धीरे एक विशाल वटवृक्ष के रूप में 'बड़वानी पिलानी' में 'बिड़ला विद्या विहार' बनकर विकसित हुआ।

इस ट्रस्ट के सदस्यों में बिड़ला परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय व्यक्ति रहे हैं, जैसे— सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, महादेवभाई देसाई, हृदयनाथ कुंजरू, सर राधाकृष्णन, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका आदि। इस ट्रस्ट के कार्यकलापों की महात्मा गांधी, महामना मालवीय, पं. जवाहरलाल नेहरू, डा. राजेन्द्र प्रसाद, डा. राधाकृष्णन, सरदार बल्लभभाई पटेल, गोविंद वल्लभ पंत, शिक्षाशास्त्री अमरनाथ झा और सर मारिस ग्वायर जैसे देश की महान विभूतियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।[94]

इस ट्रस्ट द्वारा पिलानी में एक बिड़ला इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालॉजी एंड साइंस नामक बृहत तकनीकी शिक्षा संस्थान, एक पब्लिक स्कूल, एक लड़कियों और एक लड़कों का हायर सेकेंडरी स्कूल, लड़के-लड़कियों के कई मिडिल स्कूल स्थापित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त नैनीताल में एक पब्लिक स्कूल, आनंद (गुजरात) का 'विश्वकर्मा महाविद्यालय', भिवानी (हरियाणा) का 'टेक्नालॉजिकल इंस्टीट्यूट आफ टेक्सटाइल' और रांची (बिहार) में 'बिड़ला स्कूल आफ टेक्नालॉजी एंड साइंस' आदि इस ट्रस्ट की उल्लेखनीय संस्थाएँ हैं।

बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट के सुचारु संचालन में ट्रस्ट के अध्यक्ष घनश्यामदासजी ने संस्थाओं की देखरेख का भार केवल अपने तक सीमित न रख कर परिवार के युवक सदस्यों को भी सौंपा। ऐसा करने में उनका उद्देश्य यह था कि परिवार की नयी पीढ़ी का ध्यान केवल अर्थोपार्जन पर ही केन्द्रित न रहकर, समाज और राष्ट्र-सेवा की तरफ भी जाए।

94. डायमंड जुबली कामेमोरेशन वाल्यूम

सामाजिक नवजागरण की दिशा में उस समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चिंतन और कार्य के प्रति पूरे देश का ध्यान था। लंदन के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर उनके दिए गये 'हिबर्ट भाषणों' में उन्होंने जिस मानव धर्म की चर्चा की थी, उसके प्रति गांधीजी और घनश्यामदासजी दोनों सामानरूप से आकृष्ट हुए। उनके इस विचार से कि हमारे अन्तर में कोई ऐसा भी है जो मानव तो है, पर मनुष्य मात्र से परे है— यह बात घनश्यामदासजी के हृदय में घर कर गयी। तभी से घनश्यामदासजी ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ऊपर सदा अपना ध्यान रखा था। अपने उस विचार में जो महत्तर जीवन-चेतना व्यक्त हुई थी उसका रवीन्द्रनाथ ने आगे चलकर 'धर्म' जीवन में प्रत्यक्ष किया। यह महत्तर जीवन चेतना सदा विकासोन्मुख हो, सार्थकता के नित्य नूतन मार्गों पर अग्रसर हो, रवीन्द्रनाथ के इस विचार से घनश्यामदासजी प्रभावित थे।

देश के नवजागरण में रवीन्द्रनाथ के विचार, उनका साहित्य तथा उनके द्वारा शांतिनिकेतन की स्थापना आदि कितने महत्वपूर्ण हैं, इसे घनश्यामदासजी भली-भाँति जानते थे। इसीलिए किसी धनाभाव के कारण उनके कार्य में कोई बाधा न पहुँचे, इसके लिए वह सदा प्रयत्नशील थे। उनका एक चारित्रिक गुण यह था— जिनकी वह मदद करते थे, उसे बताते नहीं थे। गुप्तदान देकर वह अपनी विशिष्टता का परिचय देते रहते थे। उदाहरण के लिए मगनवाड़ी वर्धा से 30 अगस्त, 1936 को महादेवभाई का एक पत्र घनश्यामदासजी को मिला। उस पत्र से अलग विश्वभारती, शांतिनिकेतन, संसद की कार्रवाई की नकल भी मिली। अपने पत्र में महादेवभाई ने साठ हजार रुपयों के गुप्तदान की सहायता की सूचना दी थी। महादेवभाई को पता नहीं था कि यह गुप्तदान स्वयं घनश्यामदासजी ने किया था। यह बात जब पता चली और उनसे पूछा गया तो उन्होंने सिर्फ इतना कहा, ''इस दान के पीछे एक मर्मस्पर्शी इतिहास है, जिसे दोहराने की जरूरत नहीं है।'' वह मर्मस्पर्शी इतिहास इस प्रकार है : विश्वभारती पर साठ हजार रुपये का ऋण उतारने के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर अपने नाट्य दल के साथ स्वयं दिल्ली आये थे। यह सूचना जैसे ही महात्मा गांधी को मिली, उन्होंने घनश्यामदासजी से कहा कि यह हम सब लोगों के लिए अपमान की बात है कि इस अवस्था में गुरुदेव इस तरह कष्ट उठायें। इतना संकेत पाते ही घनश्यामदासजी ने विश्वभारती को साठ हजार रुपयों का गुप्तदान कर दिया। समृद्धि के उपयोग का यह अनोखा उदाहरण है।

इसी तरह 29 अक्तूबर, 1932 को घनश्यामदासजी ने 'एंटी-अन्टचबिलिटी' के लिए चंदा उगाहने का काम शुरू किया। उनका लक्ष्य था कि नवंबर तक कलकत्ता से एक लाख रुपये और बंबई से पचहत्तर हजार रुपये एकत्र हो जाएँ। वैसे तो यह पूरी रकम वह अकेले ही दे सकते थे, लेकिन वह अपने मित्रों को इस काम में सहयोगी बनाना चाहते थे। इस संदर्भ में अपने मित्र सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को उन्होंने सबसे पहले पत्र लिखा, "पचहत्तर हजार रुपये आप दो बम्बई से। एक लाख कलकत्ता से आशा है।"[95]

विविध क्षेत्रों में बहु आयामी ढंग से जीवन को जीने वाले घनश्यामदासजी के प्रति लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे थे। यह व्यक्ति राजनीति और उद्योग-व्यवसाय, दो परस्पर विरोधी क्षेत्रों में इतनी सफलता के साथ कैसे रह रहा है। जिस अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में उसके इतने उद्योग चल रहे हैं, वह कैसे उसी शासन-व्यवस्था के खिलाफ खड़े होकर स्वतंत्रता-संग्राम में संलग्न है। इससे भी अधिक आश्चर्य भारतीयों और अंग्रेजों दोनों को इस बात पर था कि इसके बावजूद 'गीता' को सदा अपने सिराहने रखने वाला यह व्यक्ति 'रामायण', 'जीवन आदर्श', 'शुद्ध कर्म' के अर्थ को समझकर उन्हीं की प्रेरणा से अपना जीवन जी रहा है। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास से लेकर गिलबर्ट लाफेट, विंस्टन चर्चिल, रेजिनाल्ड क्लार्क और लार्ड लोदियन आदि अनेक देशी-विदेशी नेता और उद्योगपतियों ने उनसे प्रश्न किए हैं, "क्षेत्रों में रहकर आप हर समय 'गीता' की बात क्यों करते हैं? क्या आप संन्यासी हैं?"

सर पुरुषोत्तमदास को इसका उत्तर देते हुए घनश्यामदासजी ने कहा, "मुझे ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है, मेरी इस बात पर आपको हँसी आती है और आप मुझ पर अभियोग लगाते हैं कि मैं हर समस्या को दार्शनिक-आध्यात्मिक दृष्टि से देखने लगता हूँ। पर मैं क्या करूँ, यही मेरा स्वभाव है। जब व्यक्ति बेसहारा महसूस करता है तो ईश्वर ही एकमात्र सहारा है।"[96]

घनश्यामदासजी जानते थे कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्रीय व्यवस्था तो शरीर मात्र है, यदि उसमें प्राण न हो तो वह शरीर निरर्थक है। वह प्राण है जातिगत

95. पी.डी. फाइल 729/1932, नेहरू संग्रहालय पुस्तकालय
96. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के नाम घनश्यामदासजी का पत्र, 15 जून, 1933

एकता। अन्य देशों में इस एकता की आन्तरिक शक्ति से ही राष्ट्रीय व्यवस्था की रचना हुई है। हमारे देश में जाति-जाति में अलगाव है। पश्चिम महादेश में श्रेणी-श्रेणी में भेद है। श्रेणीगत पार्थक्य में यदि आन्तरिक सामंजस्य स्थापित न हो, बाह्य व्यवस्था की रक्षा नहीं हो सकती। जहाँ मनुष्य-मनुष्य में विच्छेद है वहाँ राष्ट्रीय शक्ति के साथ-साथ बुद्धि भी शिथिल हो जाती है। इसी को तोड़ने और एकता तथा सहकारिता के भाव को जगाने को ही घनश्यामदासजी ने सामाजिक नवजागरण का मूल सूत्र समझा। इस कार्य को उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम का महत्वपूर्ण भाग माना। इस कार्य में जिसने जितना भी आर्थिक सहयोग माँगा "उसके लिए मेरा सर्वस्व हाजिर था।"[97]

97. गांधीजी की छत्रछाया में, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 121

छठा अध्याय

राजनीतिक संकटकाल

भारत के लिए सन् 1935 से 1940 तक का समय असाधारण हलचल और उत्तेजना से परिपूर्ण था। इस समय राजनीतिक-क्षेत्र में जो घटनाएँ घटीं, भावना और संकट की स्थितियों से भरपूर थीं। 1935 में सरकार ने विवश होकर आरक्षण सहित डोमिनियन स्टेटस देने की आवश्यकता मान तो ली, परन्तु स्वेच्छा से नहीं मानी। पदारूढ़ शासक दल की इच्छा नहीं थी कि भारतीय प्रजा के साथ बराबर की हैसियत से सलाह की जाए। वे भारतीय नेताओं पर अपनी इच्छा थोपना चाहते थे। तथापि 1930 की स्थिति से वापस हटना संभव नहीं था। परन्तु 1936 में भी लक्ष्य बहुत दूर और यात्रा बड़ी लम्बी मालूम होती थी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति का आंदोलन कभी आगे बढ़ता, कभी पीछे हटता था। ध्येय की प्राप्ति तुरंत हुई तो नहीं, परंतु गांधीजी के कारण भारत की काया पलट गयी। इस आंदोलन का आरम्भ गांधीजी की उस दांडी यात्रा से हुआ, जो उन्होंने समुद्र तट तक की थी। फिर जंगल की आग की भाँति यह आंदोलन सारे देश में फैल गया। एक बहुत ही छोटे कानून को सांकेतिक रूप से तोड़ा गया था। परंतु यह बहुत बड़े पैमाने पर सविनय अवज्ञा के रूप में एक आक्रमणात्मक आंदोलन बन गया। इसका एक स्वरूप था करबंदी।

सरकार इस आंदोलन को ऐसा युद्ध समझती थी, जिसका उद्देश्य भारत में अंग्रेजी राज्य का अंत करना था। राष्ट्रीय प्रेस भी इसके समाचार युद्ध समाचारों की भाँति प्रकाशित किया करते थे। होर अनुदार था। विलिंग्डन उदार था। दोनों ने ही कांग्रेस शत्रु को कुचल डालने के लिए निश्चय कर लिया और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार की समूची शक्ति का उपयोग किया। उन्होंने बेन और इर्विन की उदार नीति को तिलांजलि दे दी।

उधर ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय शासन विधान, मंथर गति से पास हो रहा

था, इधर उसे लेकर भारत और इंगलैंड में विचार-विमर्श का सिलसिला जारी था। यह सिलसिला बिल के पास हो जाने के बाद भी बना रहा। इस विचार-विमर्श के शुरू के दौर में आर्थर मूर ने घनश्यामदासजी को बताया कि सी.एफ. एंड्रयूज के संबंध में उनके देशवासियों की धारणा कुछ विशेष अच्छी नहीं है। क्योंकि उस संकटकाल में जी.डी. ने भारत और ब्रिटेन के बीच मध्यस्थता-कार्य के लिए जिन महत्वपूर्ण अंग्रेजों को अपने साथ लिया था, उनमें एंड्रयूज विशेष व्यक्ति थे। "मेरी धारणा वैसी नहीं थी और मैं उनकी साधु प्रकृति और नेकनीयती पर तनिक भी संदेह करने को तैयार नहीं था। पर उनमें ये गुण शायद उनकी बुद्धि की अपेक्षा अधिक परिमाण में थे, जिनके कारण वह अंग्रेजों की निगाह में व्यर्थ ही टाँग अड़ाने वाले जँचने लगे थे। फलतः उन्हें मध्यस्थता के काम में सफलता प्राप्त नहीं हुई।"[98]

उस समय आपसी विश्वास का जो संकट था, उसके निवारण के लिए जी.डी. चिन्तित थे। सी.एफ.ए. जैसे मध्यस्थों के द्वारा निवारण सचमुच संभव नहीं था, क्योंकि दुर्भाग्य से उनके संबंध में उच्च पदस्थ व्यक्तियों की धारणा अच्छी नहीं थी। संदेह निवारण तो केवल उन्हीं लोगों के द्वारा संभव था जो बापू को अच्छी तरह जानते हों और दूसरे पक्ष से भी भलीभाँति परिचित हों तथा उनके विश्वासपात्र हों। जी.डी. के अनुसार यह दुर्भाग्य की बात थी कि जो लोग इस गणना में आते थे, उनमें से अधिकांश भीरु थे और उन्हें धमकाया या नीचा दिखाया जा सकता था।

जी.डी. की प्रेरणा से सी.एफ.ए. दिल्ली क्षेत्र के सचिव और होम मेम्बर से मिलने गये थे। वह दोनों से मिलने में सफल हुए या नहीं, जी.डी. को तनिक शंका हुई। अतएव जी.डी. स्वयं भारतमंत्री के सामने भारतीय दृष्टिकोण पेश करने की चेष्टा में लग गये। उन्होंने कलकत्ते से 16 दिसम्बर, 1934 को सैमुअल होर को अपने पत्र में लिखा :

"मैं मानता हूँ कि वर्तमान पार्लमिंट में संयुक्त प्रवर समिति द्वारा की गयी सिफारिशों से बहुत आगे बढ़ना शायद संभव नहीं होगा, पर मैं तो स्थिति को बिल्कुल दूसरे ही दृष्टिकोण से देख रहा हूँ।''' जहाँ तक हमारा संबंध है, मैं समझता हूँ कि हम सभी का लक्ष्य सोलह आने उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार हैं। इस लक्ष्य की

98. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 265

दिशा में उठाया गया पहला कदम मामूली सुधार भी हो सकता है और भारी सुधार भी। पर अभीष्ट की सिद्धि के लिए जो चीज सबसे अधिक आवश्यक है, वह है पारस्परिक विश्वास, सदभावना, सहानुभूति और पारस्परिक अवबोध। क्या हम कह सकते हैं कि ये इस समय भारत में मौजूद हैं ? मैं किसी दल को दोष नहीं दे रहा हूँ, पर मेरे मन में भाव यही है कि चूँकि सरकार शासक दल है, इसलिए उसी को वैसी अवस्था को जन्म देना है।

मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप इस घटनाक्रम के मनोविज्ञान का विश्लेषण करें, क्योंकि योजना में संशोधन करने के बजाय उसके रद्द किए जाने की जो बात सुनाई पड़ रही है, उसका कारण उसकी त्रुटियाँ नहीं, बल्कि यह घटनाक्रम ही है।

गांधी-अरविन पैक्ट ने स्वीकार किया था कि :

1. केन्द्र उत्तरदायित्वपूर्ण हो।

2. संघ सरकार बने।

3. जो आरक्षण और अभिरक्षण हों वे स्पष्टतया ही भारत के हित में हों।

यह स्पष्ट है कि पैक्ट पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों द्वारा यह बात मान ली गयी थी कि अंतिम लक्ष्य चाहे जो हो, अंतरिम समय के लिए उनका रहना जरूरी है।''[99]

उस समय जो लोग स्वतंत्रता की बात करते थे और इस शब्द के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग अर्थ लगाते थे, वे भी आरक्षणों को अंतरिम समय के लिए सोलहों आने उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार वाले अंतिम लक्ष्य का विरोधी नहीं पाते थे। इस धारणा का आभास जी.डी. को लग गया था। उनका मानना था कि इस समय जिस वैयक्तिक नाते का अभाव है, वह उस गांधी-अरविन पैक्ट में ही मौजूद था। जी.डी. ने गांधी-अरविन पैक्ट के प्रति साझेदारी की भावना पर जोर दिया और सैमुअल होर को अपने एक पत्र में लिखा, ''जब तक दोनों पक्षों के बीच पारस्परिक अवबोध और विश्वास पैदा नहीं होता, तब तक उस साझेदारी को प्रकृत रूप कैसे दिया जा सकता है ? क्या मैं यह निवेदन कर सकता हूँ कि प्रगति की मात्रा

99. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 267-268

नहीं, उसका ढंग ही असली चीज है ? मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को एक दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण में अमल में लाया गया था और मुझे आशा है कि उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जाएगी।''[100]

इस पत्र के लिखने के बाद जी.डी. मूर से मिले और फिर बंगाल के गवर्नर से मिले तथा उसी विषय पर चर्चा की। गवर्नर जी.डी. से सहमत तो हुए, पर साथ ही उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा :

''आप वाइसराय से क्यों नहीं मिलते ?'' मैंने कहा, 'वाइसराय के लिए तो मैं अछूत जैसा हूँ।' इस पर वह बोले, 'आप गत वर्ष तो मिले थे ?' मैंने कहा, 'नहीं'। मैंने उनसे कहा कि मैं वाइसराय से मिल सकता हूँ, जब इस विषय पर बात करने का उनकी ओर से बढ़ावा मिले, पर यदि वह समझें कि मैं ख्वामख्वाह टाँग अड़ाता फिरता हूँ और अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता हूँ, तो मेरा जाना ठीक नहीं है। उन्होंने कहा कि यदि वाइसराय समझेंगे कि आप गांधी के दूत बनकर आये हैं तो उन्हें बातचीत करने में हिचकिचाहट होगी। मैंने उत्तर दिया, 'मैं किसी का दूत नहीं हूँ, और जहाँ तक मुझे मालूम है, गांधीजी ने किसी को अपना दूत नियुक्त नहीं किया है।' उन्होंने मेरी नेकनीयती में पूरा विश्वास प्रकट करते हुए कहा, 'वाइसराय से बात करके देखूँगा और यदि उनसे भेंट करने में कोई लाभ दिखाई देगा तो आपको लिखूँगा।' उन्होंने मुझसे पूछा, 'अभी कलकत्ते में ही रहेंगे ?' मैंने उत्तर दिया, 'हाँ'। मेरी धारणा है कि सी.एफ.ए. का उनसे मिलना निरर्थक होगा। कहना तो यह चाहिए कि वह बना-बनाया खेल बिगाड़ देंगे।

मैं इन लोगों के साथ घनिष्ठता बढ़ाना चाहता हूँ, जिससे बापू का प्रतिनिधित्व अच्छी तरह किया जा सके। ऐसा किया भी जा सकता था, पर इसके लिए अनुकूल अवसर दिखाई नहीं देता है। यदि मैं व्यवस्थापिका सभा में होता तो बात दूसरी होती। पर इस समय तो मैं अपने ढंग से काम कर रहा हूँ और स्थिति को अपने ही ढंग से चलने देना चाहता हूँ।''[101]

100. जी.डी. का सैमुअल होर को पत्र, 16 दिसम्बर, 1934

101. महादेव भाई को लिखे गए पत्र से, मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ-268-269

एक सप्ताह भर इस संबंध में जी.डी. सोच में पड़े रहे। फिर निश्चय किया कि वह इसी ढंग से एक पत्र सैमुअल होर को भी लिखें। क्योंकि उन्हें मालूम था कि उस मौजूदा हालत में सरकार के लिए यह संभव नहीं कि वह बापू के साथ विधान संबंधी मामलों पर बातचीत शुरू करे। इसलिए जी.डी. ने उस बात पर जोर नहीं दिया। लेकिन परिस्थितिवश वह केवल इस बात पर जोर दे रहे थे कि ब्रिटिश सरकार बापू को समझे और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये। ऐसा करने से बाकी सब गुत्थियाँ अपने आप सुलझ जाएँगी। अपने इस विचार को उन्होंने महादेव भाई के एक पत्र में बड़े ही सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है, "बापू और सरकार के बीच केवल बापू ही मध्यस्थ बन सकते हैं।"

संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट को ध्यानपूर्वक पढ़कर जी.डी. ने कहा कि उस रिपोर्ट में कुछ नहीं रखा। उसकी सिफारिशों का मतलब केवल इतना ही है कि स्वामी अपने नौकर को ऐसे अधिकार सौंपे जो इच्छानुसार छीने जा सकें। उनका विश्वास था कि यदि ब्रिटिश सरकार और बापू के बीच उचित समझौता हो जाए तो यह बात भी हमें स्वराज के निकट ले जा सकती है और कुछ समय बाद बेहतर विधान प्राप्त करने में हमारी सहायक हो सकती है। बापू जिसे हृदयपरिवर्तन कहते थे, उसे घनश्यामदासजी वैधानिक मामलों की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे।

विधान के सवाल पर सैमुअल होर एवं जी.डी. एकमत नहीं थे। सैमुअल होर के दृष्टिकोण में 'संरक्षण' काफी ठोस थे, केवल कागजी नहीं थे। सैमुअल होर आश्वस्त थे कि जो लोग सारी समस्या पर गहराई से विचार करते हैं और इस बात के लिए उत्सुक हैं कि भारत के साथ उचित व्यवहार किया जाए, उनकी बात पर विश्वास करने लगे हैं।

19 जनवरी, 1935 को जी.डी. ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए सैमुअल होर को पत्र लिखा कि वह जानते हैं कि भारत के हित में भी कुछ न कुछ 'संरक्षण' की तो आवश्यकता होगी ही, पर उन्हें नहीं लगा कि रिपोर्ट में जिन संरक्षणों की व्यवस्था हैं, भारत के हित में हैं। रिपोर्ट में सबसे बड़ी कमी तो यह है कि उसमें अंतिम लक्ष्य की ओर अगले कदम का कोई उल्लेख नहीं है। जी.डी. ने लिखा, "पारस्परिक सद्भावना से बुरे संरक्षण भी खतरों के लिए बीये का काम कर सकते

हैं, जबकि मानवीय भावनाओं के अभाव में अच्छे संरक्षण भी शांति और सहज कार्य संचालन के मार्ग में बाधक सिद्ध होंगे।''[102]

जी.डी. विधेयक की प्रत्येक पंक्ति के अर्थ को समझते थे। विधेयक जिस परिस्थिति में तैयार हो रहा था, वह उससे पूर्णतः परिचित थे। क्योंकि 1935 में लंदन में जब वह विधेयक तैयार किया जा रहा था, घनश्यामदासजी वहीं थे। वह वहाँ के दोनों राजनीतिक दलों के सदस्यों से मिलते रहे। इस प्रक्रिया में उन्होंने यह देखा कि पहले कदम के रूप में 1935 का अधिनियम ब्रिटिश कूटनीति का एक निष्कपट मसौदा है। उन्हें उस मसौदे की सारी सीमाएँ और संभावनायें ज्ञात थीं। उनका विश्वास था कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए ब्रिटिश शक्ति से बराबर व्यक्तिगत सम्पर्क अनिवार्य है। भारत एवं ब्रिटिश के बीच में विश्वास का संकट पैदा होते रहना स्वाभाविक था। उनके अनुसार यदि लोगों में परस्पर मतभेद है तो व्यक्तिगत एवं बातचीत से दोनों पक्षों को एक-दूसरे के समीप लाया जा सकता है। ''यदि दोनों पक्षों ने सद्‌भावना एवं सहानुभूति का परिचय दिया तो इन प्रस्तावित सुधारों के द्वारा हम अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँच सकते हैं।''[103]

जी.डी. का यह भी मानना था कि यदि ब्रिटेन ने इस दिशा में नेकनीयती से काम नहीं लिया तो 'संरक्षण' स्वतंत्रता-प्राप्ति के मार्ग में मात्र रोड़े सिद्ध होंगे। और यदि नेकनीयती और सहानुभूति के दर्शन हुए तो यही संरक्षण-मार्ग सुरक्षित-मार्ग सिद्ध होगा। इसी विश्वास के साथ वह लंदन में चर्चिल और उनके अनुयायियों से मिले और भारत के पक्ष को उनके सामने रखा। अनुदार दल के युवक सदस्यों से मिलकर उन्होंने पाया कि उन लोगों की सहानुभूति भारत के पक्ष में है। वे लोग अनुभव कर रहे थे कि वे भारत के हित के लिए सही मामलों में अपने अधिकारों का त्याग कर रहे हैं।

लंदन के उस सम्पर्क-स्थापन-कार्य के सिलसिले में घनश्यामदासजी ब्रिटेन के

102. सैमुअल होर को जी.डी. का पत्र, मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 272

103. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 273

अर्थ-मंत्री और इंडिया आफिस में भारत के उप-सचिव श्री बटलर से मिले। उनसे जो बातचीत हुई उसकी भी लम्बी रिपोर्ट उन्होंने गांधीजी को भेजी। उस रिपोर्ट में उन्होंने लिखा कि लंदन में रहने वाले अंग्रेजों को सचमुच इस बात का विश्वास है कि 'भारतीय शासन बिल' पास होना भारत में स्वायत्तशासन की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम होगा।

उधर भारत में ठीक इसके विपरीत यह भावना थी कि यह कानून पीछे ले जाने वाला कदम है। जी.डी. ने इस तथ्य से श्री बटलर को अवगत कराया और एक निश्चित सुझाव दिया कि भारत में जो नया वाइसराय भेजा जाए उसे भारतवासियों के साथ तुरंत सम्पर्क स्थापित करने की पूरी ताकीद रहे। दूसरा सुझाव यह दिया कि या तो स्वयं भारत सचिव ही, अथवा उप सचिव, भारत आकर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करें। ब्रिटिश के सामने जी.डी. ने एक और विकल्प रखा कि गांधीजी को लंदन बुलाया जाए और यदि संभव हो तो उनके बुलाने का कारण कुछ और बताया जाए, यद्यपि असली उद्देश्य बातचीत करना ही हो। इस विकल्प के प्रति उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखाई, बल्कि उन्होंने जोर दिया कि जी.डी. जल्दी से जल्दी प्रधानमंत्री श्री बाल्डविन और भारतमंत्री लार्ड जेटलैंड से मिलें।

सर जार्ज शुष्टर से जी.डी. की भेंट हुई। उस मुलाकात के संबंध में जी.डी. ने गांधीजी को अपनी विशेष रिपोर्ट भेजी।

भारत की राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने 1936 में लार्ड लिंलिथगो को भारत का वाइसराय बनाया। उनका पहला कार्य था भारत को संघशासन बनाने की दिशा में आगे बढ़ाना। उनके भारत आगमन से पहले 1935 के विधेयक के अधिनियम में कुछ तबदीली हो जाने पर भारतीय राजनीतिक नेताओं के मन में कुछ संदेह उत्पन्न हो गया था। अतः ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में भारतीय नेताओं के विश्वास को फिर से प्राप्त कर विधेयक के कार्यान्वयन का मार्ग प्रशस्त होना अभी शेष था।

लिंलिथगो भारत के वाइसराय बनने पर भारत के लिए कोई अजनबी नहीं थे। वह इससे पिछले वर्षों में यहाँ कृषि संबंधी शाही कमीशन के अध्यक्ष रह चुके थे और इस हैसियत से उन्होंने कश्मीर और पेशावर से लेकर कन्याकुमारी तक देश के सभी भागों की यात्रा की थी। वह कृषि संबंधी विषयों के प्रसिद्ध विशेषज्ञ थे

और जब वह वाइसराय बन कर भारत आये तो उनके साथ तुरंत ही घनश्यामदासजी का संपर्क हुआ। उस समय घनश्यामदासजी पिलानी में कृषि शिक्षण संबंधी एक बृहत प्रयोग में लगे हुए थे। वहाँ बच्चों के लिए दूध की समुचित व्यवस्था हो, इसके लिए अच्छी नस्ल के पशुओं की उन्हें दरकार थी। इसी प्रसंग में उनकी भारत में पहली भेंट वाइसराय से हुई।

कुछ ही दिनों बाद लार्ड लिंलिथगो थोड़े दिनों के लिए लंदन गये और यहीं पाँच अगस्त, 1936 को उनसे जी.डी. की विधिवत मुलाकात हुई। इस मुलाकात का जो विवरण घनश्यामदासजी के पत्रों और अन्य विवरणों में प्राप्त है, उससे यह चित्र स्पष्ट होता है कि जी.डी. की दृष्टि में "वाइसराय एक सदाशयी और ईमानदार व्यक्ति हैं, जिन्हें अपने वातावरण के साथ संघर्ष करना पड़ रहा है। उनकी अवस्था उस तैराक जैसी थी, जो नदी की तेज धारा में प्रवाह के विरुद्ध तैरने की कोशिश कर रहा हो। इस प्रवाह की तेजी का उन्होंने पहले कभी अंदाजा नहीं लगाया था। अंत में उन्हें इस प्रवाह में बह जाना पड़ा। मैं मानता हूँ कि भेंट के समय अधिकतर बात मैंने ही की। मैंने उन्हें याद दिलाया कि जेटलैंड, हेलीफैक्स, लोदियन और होर ने मुझसे कहा था कि गांधीजी को नये वाइसराय से मिलने के पहले कोई नया निर्णय नहीं करना चाहिए। मैंने उन्हें यह भी बताया कि किसी प्रकार मैंने उनके व्यक्तिगत संदेश और अपने संस्मरण गांधीजी तक पहुँचा दिये थे। स्थिति के बारे में मेरे आशावादी दृष्टिकोण के साथ सहमत होने में उन्हें कठिनाई का बोध हुआ था, किंतु उन्होंने वादा किया कि कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर कोई नया निर्णय न किया जाये, इसकी वह चेष्टा करेंगे। मैंने कहा कि लार्ड विलिंगडन ने यह डर फैलाने में सक्रिय भाग लिया है कि यदि वाइसराय गांधीजी से मिलेंगे तो परिणाम अच्छा न निकलेगा। लिंलिथगो को इस बात का अच्छी तरह पता था, और वह सहमत थे। वह जिस वातावरण से घिरे हुए थे, उसकी विरोध-भावना की गंध उनकी नाक में पहुँच चुकी थी।"[104]

अगस्त, 1937 के प्रारंभ में वाइसराय लार्ड लिंलिथगो दिल्ली वापस आये, तब श्री बिड़ला से उनकी अगली मुलाकात हुई। "घनश्यामदास बिड़ला के यह पूछने पर कि क्या वह गांधीजी को नहीं बुलायेंगे ? वाइसराय ने बताया कि गांधीजी

104. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 325

से बातचीत करने के मुद्दों की उनकी सीमाएँ हैं। उन्होंने यह भी इंगित किया कि वह ऐसा कोई काम नहीं करेंगे, जिससे कांग्रेस दल को सुविधा या वोट मिले, इसीलिए वह गांधीजी को नहीं बुला सकेंगे। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि उनके दरवाजे सभी के लिए खुले हैं।''[105]

बातचीत में वाइसराय ने महसूस किया कि श्री बिड़ला चाहते थे कि वाइसराय वामपंथी ताकतों के विरुद्ध कांग्रेस में वास्तविक प्रतिनिधि गांधीजी को सहयोग दें। इस पर ''वह कुछ क्षण विचार-मग्न हो गये, फिर बोले, 'गांधीजी और जवाहरलालजी का पारस्परिक संबंध क्या है ?' मैंने उत्तर दिया, 'आपको स्थिति को समझने के लिए दोनों के स्वभाव को समझना होगा। दोनों के स्वभाव, दृष्टिकोणों और विचारों में अंतर है। पर इसके कारण दोनों के पारस्परिक स्नेह-संबंध में कोई अंतर नहीं पड़ता है। जब तक गांधीजी जीवित हैं, मैं कांग्रेस में फूट पड़ने की कोई संभावना नहीं देखता हूँ।' उन्होंने कहा, 'मैं भी यही समझता हूँ।' उन्होंने पूछा, 'निर्वाचन का खर्च कौन उठावेगा ? गांधीजी ?' मैंने कहा, 'मैं तो ऐसा नहीं समझता हूँ, यह सब कांग्रेस के द्वारा ही किया जायेगा, और जहाँ तक मैं समझता हूँ, कांग्रेसवादी पाँच प्रांतों में बहुमत से जीतेंगे।'

इसके बाद उन्होंने कहा, 'मैं आपसे साफ कह रहा हूँ। जब मैं यहाँ आया तो सरकारी हलकों में भारी त्रास फैला हुआ था। मैंने सर हेनरी क्रेक से अच्छी तरह बातचीत की। मुझे भय है कि फिलहाल मेरे लिए कोई कदम उठाना सम्भव नहीं होगा। मैं जानता हूँ कि कांग्रेस बड़ी मजबूत पार्टी है और प्रांतों में बहुमत प्राप्त करेगी। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि कांग्रेस ने जनता में स्वाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की है और भारत में जो वैधानिक परिवर्तन हुए हैं, उनका बहुत-कुछ श्रेय उसी को है।' ''[106]

संघशासन के संबंध में गांधीजी का दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट नहीं था, लेकिन पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसा दो-टूक भी नहीं था। वाइसराय के सम्मुख गांधीजी की मंशा को उद्घाटित करते हुए श्री घनश्यामदास बिड़ला ने कहा कि गांधीजी ने

105. दि वाइसराय एट बे, मि. जोन ग्लेडवोन, पृष्ठ 34-35

106. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 326

स्वयं उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया है, जिसमें कहा गया था कि अगर संघशासन कार्यान्वित हुआ तो कांग्रेस सरकारों को त्यागपत्र दे देना चाहिए।

पंडित नेहरू ने लार्ड लोदियन को बताया था कि गांधीजी को भी संघशासन के संबंध में आपत्तियाँ हैं, इस संदर्भ में श्री बिड़ला ने वाइसराय को स्पष्ट किया कि गांधीजी राज्यों की स्थिति पर अपना एतराज जाहिर करने के कारण संघशासन की खिलाफत नहीं करेंगे। वह तो सेना एवं विदेशी मामलों के संरक्षण के लिए ज्यादा चिंतित हैं। वह यह आश्वासन चाहते हैं कि ये दोनों महत्वपूर्ण विषय केन्द्र के लिए आरक्षित हों।

श्री घनश्यामदास बिड़ला अविलम्ब संघशासन चाहते थे। गांधीजी के लिए संघशासन प्राप्त करना संभव था, भले ही पंडित नेहरू सैद्धांतिक कारणों से संघशासन का एकदम विरोध कर रहे थे। ऐसी स्थिति में श्री बिड़ला ने व्यावहारिक अनुभव से सूझ-बूझ वाले व्यक्ति की भूमिका निभाई। वह किसी राजनीतिक नेता के बारे में कुछ भी नहीं बोले।

इस स्थिति में घनश्यामदासजी इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि वाइसराय की महात्मा गांधी से जल्दी से जल्दी भेंट हो। उस समय वाइसराय के मन में यह बात घर कर गयी थी कि अगर वह पहले महात्मा गांधी से मिले तो अन्य राजनीतिक पार्टियों के लोग यह समझ बैठेंगे कि वाइसराय कांग्रेस के साथ आवश्यकता से अधिक मैत्री कर रहे हैं और अधिक महत्व दे रहे हैं। उन्हें डर था कि लोग उन्हें पक्षपात का दोषी ठहरायेंगे।

इस पूरी स्थिति से निपटने के लिए जी.डी. एक ओर गांधीजी से मिलकर बात करते थे, दूसरी ओर वाइसराय और उनके सचिवालय के महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलकर वह मानसिकता पैदा करना चाहते थे कि गांधीजी और वाइसराय की जल्दी से जल्दी मुलाकात संभव हो सके। वास्तव में यह बड़ा संकटपूर्ण कार्य था। अपने इस संकट के बारे में उन्होंने लिंलिथगो से कहा, ''मैं कांग्रेसवादी नहीं हूँ। अतएव जब मुझे आपकी स्थिति कांग्रेस को और कांग्रेस की स्थिति आपको समझानी पड़ती है तो मुझे असुविधा का सामना करना पड़ता है। आप स्वयं गांधीजी जैसे किसी कांग्रेसवादी को कांग्रेसी राजनीति की चर्चा करते हुए देखने का अवसर क्यों नहीं ढूंढ़ते हैं ? यदि आप ऐसा करें तो आपको उनके रुख के संबंध में वास्तविक ज्ञान

प्राप्त होगा और उन्हें भी आपका दृष्टिकोण समझने का अवसर मिलेगा। फिलहाल भारत सरकार के विधान में किसी प्रकार का परिवर्तन करना संभव है, ऐसा मैंने कभी नहीं सुझाया है, पर इसके अलावा और बहुत-सी बातें की जा सकती हैं और करनी चाहिए।''[107]

वाइसराय को निर्वाचन के बाद की स्थिति के बारे में तरह-तरह की शंकायें थीं। वह स्पष्ट नहीं जानते थे कि निर्वाचन के बाद स्थिति कैसी होगी और सरकार को क्या कार्यवाही करनी होगी। गुप्तचर सूत्रों से उन्हें खबर मिल रही थी कि कांग्रेसी लोग निर्वाचन से और उसके बाद पदग्रहण करने से बचने की चेष्टा कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें डर था कि पदग्रहण करने के बाद शिक्षा-प्रचार और अन्य कार्यों के लिए उन्हें भारतीय जनता पर टैक्स लगाना पड़े तो वह बदनाम हो जाएँगे। घनश्यामदासजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा, ''आपकी खबर बिल्कुल निराधार है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि यदि उचित अवबोध रहा और वातावरण में सुधार हुआ, और कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो वे लोग शिक्षा, सफाई आदि के लिए उन लोगों पर टैक्स लगाने में, जो टैक्स का भार वहन करने में समर्थ हैं, तनिक भी नहीं हिचकिचाएँगे। वास्तव में इससे कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ेगी ही।' उन्होंने मेरी बात मानी, पर कहा कि उन्हें यह खबर एक कांग्रेसवादी ने ही दी है। पर उन्होंने यह भी कहा, 'फर्ज करिए, मैं गांधीजी से मिलूँ और कहूँ कि मैं यह कर दूँगा और वह कर दूँगा और विधान को अत्यंत उदार ढंग से अमल में लाऊँगा और जोखिम भी उठाने को तैयार रहूँगा, क्या आप पद-ग्रहण को तत्पर हैं तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि उनका उत्तर होगा — 'नहीं'। मैंने उत्तर दिया, 'महोदय, आप पहले से ही बहुत कुछ फर्ज किये ले रहे हैं।' उन्होंने पूछा, 'क्या आप समझते हैं कि वह पद-ग्रहण करने को राजी हो जाएँगे?' मैंने कहा, 'बेशक, बशर्ते उन्हें विश्वास हो जाये कि जनता की सेवा के लिए रचनात्मक कार्य करने योग्य वातावरण मौजूद है। गांधीजी आरंभ से ही रचनात्मक कार्य करते आये हैं, इसलिए कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से वह तनिक भी घबराने वाले नहीं हैं। पर शर्त यही है कि वातावरण ठीक ढंग का हो।' इसके बाद मैंने कहा, 'मैं आपके विचारों से परिचित हूँ, मैं उन्हें गांधीजी के पास पहुँचा दूँगा। मुझे इस बात

107. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 327

से खुशी हुई कि आपने सारी बात इतनी स्पष्टता और स्वच्छता के साथ रखी। अब मैं आपको इस मामले को लेकर और अधिक परेशान नहीं करूँगा। यदि आपको कभी मेरी सहायता की जरूरत पड़े, तो मैं हाजिर हूँ, पर फिलहाल आपको स्थिति का अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त है, इसलिए मैं अधिक कुछ नहीं कहूँगा। मैं आपके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ, पर कोई बात नहीं है।' "[108]

अंततः कांग्रेसी नेताओं एवं मुसलमानों के प्रतिनिधियों सहित गांधीजी लिंलिथगो से मिले। उस बैठक में लिंलिथगो को लगा कि गांधीजी संघशासन स्वीकार कर सकते हैं। अंत में उन्होंने कहा कि 1935 के अधिनियम के संघ संबंधी खंड में एक ऐसी अच्छी योजना है, जिसके तहत निकट भविष्य में संघशासन के कार्यान्वयन की कोई उम्मीद है। विदेश एवं रक्षा विभाग के बारे में वाइसराय ने वही आश्वासन दोहराया कि पहले इन विषयों पर वह अपनी कैबिनेट को अपने विश्वास में लेंगे।

मुसलमानों ने माँग की कि केन्द्र में मुसलमान प्रत्याशियों के लिए राज्यों की सीटें एक अनुपात में आरक्षित हों। तब लिंलिथगो ने श्री घनश्यामदास बिड़ला को बताया कि इन स्थितियों पर नियंत्रण करने से तो संघशासन की बात अगले 20 वर्षों के लिए स्थगित कर देनी होगी।

श्री बिड़ला ने कहा कि भारत में साम्प्रदायिक स्थिति तेजी से खराब होती जा रही है और कांग्रेस इसके बारे में सजग है। उन्होंने सुझाव दिया कि मुसलमानों को उनका उत्तर-पश्चिम का संघ दे देना शायद ठीक रास्ता होगा। इस बात से लिंलिथगो हैरान रह गये। पहले उन्हें लगा कि श्री बिड़ला मजाक कर रहे हैं। लेकिन जब उन्होंने देखा कि सुझाव गंभीर है तो उन्होंने पूछा कि क्या मुस्लिम संघशासनों एवं हिन्दू संघशासनों के बीच शांति बनाए रखने के लिए ब्रिटिश सेना स्थायी रूप से इसी भूखंड पर रहे ?

घनश्यामदासजी ने आगे वाइसराय से कहा कि संघशासन की संभावना सिर्फ सरकार एवं कांग्रेस के बीच समझौते में है और इसकी उत्तम आशा वाइसराय एवं गांधीजी के निरंतर विचार-विमर्श से ही की जानी चाहिए। इस तरह घनश्यामदासजी

108 मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 327-328

के प्रयत्नों से लार्ड लिंलिथगो का गांधीजी के प्रति अविश्वास काफी कम हुआ और उन्होंने गांधीजी को अपेक्षाकृत अपने समीप पाया।

लार्ड लिंलिथगो के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए घनश्यामदास बिड़ला ने वाइसराय के निजी सचिव लेथवेट को पत्र लिखा :

"श्री एच.ई. लार्ड लिंलिथगो द्वारा निभाई गयी भूमिका का महत्व बताने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि उनके इस महान कार्य ने हमारे इतिहास में नया युग का पन्ना खोल दिया... लार्ड लिंलिथगो अरसे तक स्नेहमय कृतज्ञतापूर्वक याद किए जायेंगे।"[109]

कांग्रेस ने जुलाई 1937 को अंतरिम मंत्रिमंडलों से सात प्रांतों में शासन कार्य सँभाला। शेष चार प्रांतों — पंजाब, बंगाल, असम और सिंध में गैर-कांग्रेसी सरकारें अप्रैल मास तक सत्ता में रहीं। सितम्बर 1938 में असम में भी ऐसे गुट ने काम सँभाल लिया, जिसका नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में था। इन सब सरकारों के आगे बहुत बाधाएँ थीं। अपने कर्तव्य पालन में उनके सामने काफी रुकावटें थीं। प्रत्येक सरकार को दो प्रकार के काम करने पड़ते थे —

1. प्राथमिक या आवश्यक कार्य — जैसे कानून और व्यवस्था बनाये रखना, और
2. सहायक कार्य — जैसे कृषि सुधार, उद्योग विकास, शिक्षा, जनस्वास्थ्य और समाज कल्याण।

मंत्रिमंडलों के सामने प्रथम कठिनाई संविधान के प्रावधानों से उत्पन्न हुई। भारत सचिव, गवर्नर जनरल और गवर्नरों के पास ऐसी सुरक्षित शक्तियाँ थीं, जिनसे प्रांतीय स्वायत्त सरकारों के अधिकार सीमित हो गये थे। परन्तु वाइसराय और कांग्रेस के बीच एक शिष्ट समझौता हो जाने से प्रांत के प्रतिदिन के कामों में गवर्नर का हस्तक्षेप बहुत कम हो गया। इसलिए कांग्रेस शासन के समय में कोई खास शिकायत खड़ी नहीं हुई, यद्यपि कुछ मामलों में तनाव बहुत बढ़ गया था।

इसके अतिरिक्त प्रशासनिक कठिनाइयाँ भी थीं। मंत्रियों को अनुभव नहीं था, परंतु सुधारों के लिए उनमें बड़ी उमंग थी। अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के

109. दि वाइसराय एट बे, पृष्ठ 117

लिए उन्हें स्थायी सेवाओं पर अवलम्बित रहना पड़ता था और इन स्थायी कर्मचारियों को और ही प्रकार के प्रशासन की आदत थी, उनके ध्येय, रुख और कार्य भिन्न थे।

इस प्रकार अंग्रेजी नौकरशाही और नवनिर्वाचित मंत्रियों के परस्पर टकराव से बिल्कुल नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। मंत्रियों के सचिव भारतीय सिविल सेवा के सदस्य थे। वे योग्य तथा अनुभवी प्रशासक थे, परन्तु उन्हें जनतांत्रिक तरीकों की आदत नहीं थी। उन्हें इस बात पर भी विश्वास नहीं था कि मंत्रियों के सभी विचार कार्यान्वित किए जा सकते हैं। भारतीय सिविल सेवा के अधिकांश उच्च सिविल व पुलिस कर्मचारी अभी यूरोपियन थे। उनके लिए भारतीय मालिकों के नीचे काम करना आसान नहीं था और फिर उन पर मंत्रियों का भी पूरा नियंत्रण नहीं था।

उस समय घनश्यामदासजी भारत और ब्रिटेन के बीच व्यापारिक समझौते की बातचीत करने के लिए लंदन गये। इस अवसर का लाभ उठाते हुए उन्होंने भारत में अंग्रेज नौकरशाही (गवर्नर) और नवनिर्वाचित मंत्री परिषद् शक्ति के बीच पारस्परिक संदेहों को दूर करने और ऐसे समझौते पर पहुँचने की कोशिश की जिसके द्वारा भारत में स्वशासन का प्रयोग आरंभ हो जाए। उस समय अंग्रेज़ नौकरशाही द्वारा स्वशासन को 'प्रेरणाहीन प्रांतीय स्वायत्त शासन' नाम दिया गया था।

लंदन में घनश्यामदासजी को बापू के विश्वस्त सचिव महादेव देसाई का पत्र मिला कि लार्ड हेलीफैक्स "हमारे साथ दुरंगी चाल चल रहे हैं और भारत के मित्र नहीं हैं।"

उस पत्र को पाकर घनश्यामदासजी चिंतित हुए। उन्होंने सीधे लार्ड हेलीफैक्स से बात की और उन्हें स्पष्ट शब्दों में बताया कि गवर्नरों, अंग्रेजी नौकरशाही के लिए मंत्रियों के प्रति मैत्रीभाव से आचरण करना कितना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने केवल विधान चलाने के लिए पदग्रहण नहीं किया है, बल्कि स्वतंत्रता-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए ऐसा किया है। उन्होंने बताया कि अगर गवर्नरों और नौकरशाही ने घपलेबाजी की तो कांग्रेस इस वैधानिक मार्ग को छोड़कर पुनः प्रत्यक्ष कार्रवाई करने को बाध्य होगी।

लार्ड हैलीफैक्स ने जी.डी. को आश्वासन दिया और कहा कि वह इस संबंध में किसी प्रकार की शंका न करें, क्योंकि अंग्रेजों को अपने आपको नयी परिस्थितियों

के अनुरूप बनाने में देर नहीं लगती है। उन्होंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि लिंलिथगो बापू के साथ पारस्परिक मैत्री का संपर्क स्थापित करने का अवसर नहीं गँवायेंगे। इसके साथ ही हैलीफैक्स जी.डी. के इस सुझाव से कि लोदियन, लेंसबरी, चर्चिल जैसे व्यक्तियों को सम्पर्क स्थापित करने हेतु भारत जाना चाहिए, खुश हुए और बोले कि इससे व्यक्तिगत मैत्री की भावना तो बढ़ेगी ही, वे ब्रिटिश हितों को भारत को और भारतीय हितों को ब्रिटेन को समझाने में भी समर्थ होंगे।

इस दौरान लंदन में सर जार्ज शुष्टर, बटलर, लार्ड डरबी, चर्चिल, ओलीवर स्टेनले, सर रोजर लमले आदि महत्वपूर्ण लोगों से सम्पर्क करके जी.डी. ने उनके दिमाग में वही बातें बैठाने की चेष्टा की, जो बातें उन्होंने हैलीफैक्स से कही थीं।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ लार्ड लिंलिथगो ने घोषणा की कि वह एक सलाहकार समिति के गठन की जरूरत महसूस कर रहे हैं। उस समिति में भारत के सभी मुख्य राजनीतिक दल और भारतीय राज्यों के राजा प्रतिनिधि होंगे। उन्होंने यह भी घोषणा की कि युद्ध के पश्चात सरकार 1935 अधिनियम के लिए अपेक्षित संशोधन तैयार करने में कुछ समुदायों के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करने की सोचेगी। अल्पसंख्यकों के विचारों पर पूरा ध्यान दिया जाएगा।

असल में यह घोषणा इसलिए भी की गयी थी कि युद्ध में भारतीयों का सहयोग मिले। कांग्रेस कार्यसमिति ने इस घोषणा का जमकर विरोध किया। अंग्रेजों की कुटिल चाल में आकर मुसलमान कांग्रेस से अलग होते जा रहे थे और अपने हितों की सुरक्षा में उपाय चाहते थे।

इस स्थिति का दुष्परिणाम भविष्य में क्या हो सकता है, इसके प्रति घनश्यामदासजी अत्यधिक चिंतित थे। सन् 1936 से लेकर 1940 तक के वर्षों में उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के प्रति समुचित वातावरण निर्माण करने हेतु अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों एवं पत्रकारों से 'लंदन टाइम्स' और 'मेनचेस्टर गार्जियन' इन दो प्रमुख ब्रिटिश-पत्रों में अनेक लेख प्रकाशित कराये। इन लेखकों में डब्ल्यू.पी.क्रोजियर, ज्योफ्रे डवसन प्रमुख थे। इस प्रसंग में 'लंदन टाइम्स' के ज्योफ्रे डवसन के अनेक महत्वपूर्ण पत्र उपलब्ध हैं।[110]

110. जी.डी. बिड़ला पेपर्स, फाइल नंबर 32

कलकत्ता से 10 मार्च, 1939 को ज्योफ्रे डवसन को लिखे अपने पत्र में घनश्यामदासजी ने लिखा, "इंगलैंड और भारतवर्ष के बीच आपसी समझ और सद्भावना के विकास के बारे में आपने बड़ा योगदान दिया है, जिसके लिए मैं धन्यवाद देता हूँ, पर आपके सम्पादकीय स्तंभों में भारतीय राजनीति और गांधीजी के बारे में जो विचार 'लंदन टाइम्स' में छपे हैं, सचाई से कोसों दूर हैं। गांधीजी विशेषकर उनके अनशन के बारे में जो टिप्पणियाँ वहाँ के पत्रों में आये दिन देखने को मिलती हैं, हास्यास्पद हैं। गांधीजी के आचरण के पीछे जो दर्शन है, उसे अंग्रेजों द्वारा समझ पाना इतना आसान नहीं है।"

कलकत्ते से 30 नवंबर, 1938 को डवसन को लिखे अपने एक पत्र में जी.डी. ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि भारतीय राजनीतिक संकट को ब्रिटिश शासन यहाँ लोगों को विभिन्न वर्गों में विभक्त कर किस तरह बढ़ा रहा है, इसके बारे में इंगलैंड की पार्लियामेंट को कोई चिंता नहीं है। भारत में भारतीय राज्यों के राजा और मुसलिम लीग इन दो वर्गों को किस तरह से राजनीति की मुख्य धारा से अलग कर उनका दुरुपयोग करने का सोचा जा रहा है, इसके प्रति भी घनश्यामदास ने गहरी चिंता व्यक्त की। "पर मेरा विश्वास है कि भारत का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।"

इन्हीं वर्षों में वाइसराय के निजी सचिव जे.जी. लेथवेट से घनश्यामदासजी का अत्यधिक पत्र-व्यवहार हुआ। इनमें से कुछ व्यक्तिगत स्तर का है और अधिकांश राजनीतिक स्तर का। इन सभी पत्रों में जी.डी. का एक ही उद्देश्य था कि वह वाइसराय एवं गांधीजी को एक-दूसरे के नजदीक ले आयें। गांधीजी के दृष्टिकोण को वाइसराय को समझाएँ और वाइसराय के मंतव्यों को सही-सही अर्थों में गांधीजी तक पहुँचाएँ। क्योंकि इन दोनों के बीच वैमनस्य पैदा करने वाली तमाम शक्तियाँ कार्यरत थीं। कुछ गैर-कांग्रेसी शक्तियाँ हिंसा के प्रतिपादन से राजनीतिक संकट को काफी जटिल बना रही थीं, विशेषकर बंगाल की राजनीति ने विभिन्न दलों के बीच हिंसक रूप धारण कर लिया था और बंगाल की सरकार, जो उस समय कई दलों की मिली-जुली सरकार थी, नष्ट न हो जाए, इसके लिए जी.डी. लेथवेट को उचित परामर्श देते रहे।[111]

111. लेथवेट पेपर्स, फाइल नंबर-22, जी.डी. बिड़ला पेपर्स।

व्यक्तिगत स्तर से लेथवेट को लिखे जी.डी. के पत्रव्यवहार का मुख्य लक्ष्य यही था कि गांधीजी को शांतिपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने के सारे अवसर दिए जाएँ। देश में अहिंसा की भावना स्थायीरूप प्रदान किए जाने की स्थिति बनायी जाए। उन्होंने लेथवेट के माध्यम से वाइसराय से बार-बार कहा कि गांधीजी कल्पना के राज्य में विचरण नहीं करते ''जब गांधीजी हमारे बीच नहीं रहेंगे तो हमें काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। पर यदि हम उनके जीवनकाल में सहयोग और शांति की परम्परायें स्थापित कर सके तो इससे भारत बहुत-सी कठिनाइयों से और काफी परेशानियों से बच जाएगा।''[112]

इसी तरह जी.डी. और लार्ड लोदियन के बीच निजी और राजनीतिक दोनों स्तरों पर काफी पत्रव्यवहार[113] उन्हीं वर्षों में हुआ। भारत और ब्रिटिश शासन के बीच जो अविश्वास का संकट उन दिनों रहा, उसे दूर करने में जी.डी. ने लार्ड लोदियन को भी अपना महत्वपूर्ण साधन बनाया। उन्होंने लार्ड लोदियन को अपने इस विचार से सहमत किया कि दोनों देश दो शक्तियाँ हैं। दोनों शक्तियों में परस्पर विश्वास स्थापित होना चाहिए, तभी स्वतंत्रता का कोई महत्व संभव है। जी.डी. के विचार से दोनों देशों में अविश्वास का एकमात्र कारण व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव होना अनिवार्य है। ''पर शायद बापू का निर्णय हममें से किसी भी व्यक्ति के निर्णय के मुकाबले में अधिक युक्तिसंगत होगा, इसलिए हम सबको उसे ही मानना चाहिए।''[114]

वाइसराय के निजी सचिव, लेथवेट, लार्ड लोदियन, डवसन आदि अनेक अंग्रेजों से भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में तमाम प्रयासों के बावजूद ''कभी-कभी हताश हो जाता हूँ, पर साथ ही मुझे इस विचार पर सांत्वना मिलती है कि मेरा यही पुरस्कार क्या कम है कि मैंने बापू के आगे अंग्रेजों का पक्ष लिया और अंग्रेजों के आगे बापू का। यह काम भी बड़ा रोचक है। वैसे इस कार्य से मेरा जी ऊब जाता है, पर मैं जितनी ही अधिक बापू की चर्चा अंग्रेजों से और अंग्रेजों की चर्चा बापू से करता हूँ, मुझे उतना ही अधिक प्रतीत होता जाता है कि दुनिया की इन

112. लेथवेट फाइल के आधार पर, जी.डी. बिड़ला पेपर्स।
113. लार्ड लोदियन फाइल नम्बर 20, जी.डी. बिड़ला पेपर्स।
114. लार्ड लोदियन को लिखे पत्रों के आधार पर।

दो बड़ी शक्तियों में मेल न होना कितने दुर्भाग्य की बात है। मेरा ख्याल है कि जब इन दोनों शक्तियों में मेल हो जाएगा तो संसार का बड़ा उपकार होगा। अपने इस विश्वास से मुझे प्रोत्साहन मिलता है।''[115]

कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक 8 से 15 सितम्बर, 1939 को वर्धा में हुई। पूरे सप्ताह तक विचार-विमर्श के बाद प्रस्ताव पास हुआ कि केंद्रीय विधान सभा के सभी राष्ट्रीय सदस्यों को हटा दिया जाए।

समिति ने घोषित किया कि जब तक भारतीयों को समानता और स्वतंत्रता नहीं दी जाएगी, वे युद्ध में सहयोग करने से इनकार करेंगे। समिति ने याद दिलाया कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के वचन और वायदे भूतकाल में कैसे झुठलाए और तोड़े गये हैं और प्रथम विश्व युद्ध में अन्य देशों को अपने राज्य में मिलाया गया है। टर्की के साथ अच्छे व्यवहार और भारत में राजनीतिक प्रगति के वायदों की किस प्रकार उपेक्षा की गयी है। प्रेसिडेंट विल्सन के 14 बिन्दुओं को भुला दिया गया है।

तथापि समिति ने अपना अंतिम निश्चय स्थगति रखा और चाहा कि सरकार युद्ध के ध्येयों और विशेषकर भारत के भविष्य के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करे, क्योंकि यदि युद्ध का ध्येय यथापूर्व स्थिति को बनाये रखना है तो भारत इस युद्ध में भाग नहीं लेगा।

कार्य-समिति के इस प्रस्ताव का अर्थ सरकार ने यह लगाया कि कांग्रेस युद्ध के प्रयास में सहयोग नहीं देना चाहती। जेटलैंड ने तो कहा कि यह सौदे का प्रयत्न है। मद्रास के गवर्नर ने वाइसराय को सलाह दी कि ''मेरे ख्याल से हमको सौदा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि कांग्रेस सहयोग नहीं करेगी तो यह उसकी अंत्येष्टि होगी, न कि हमारी।''[116]

वाइसराय ने अपनी लम्बी विज्ञप्ति में कांग्रेस की माँगों के विषय में तीन वैकल्पिक माँगों पर विचार किया। उन्हें पूर्णतः ठुकरा दिया जाए, उन्हें पूर्णतः मान

115. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 350-351
116. प्राइवेट आफिसर पेपर्स एस.एस., दि वाइसराय टु दि सेक्रेटरी आफ स्टेट, 16 सितम्बर, 1939 नं. 1948 एस.।

लिया जाए, या प्रतिष्ठा बचाने के लिए मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाए। प्रथम दो विकल्पों के विरुद्ध दलील देकर उसने प्रतिष्ठा बचाने के लिए रियायतें देने का सुझाव दिया। वह यह था कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों और नरेशों की एक सलाहकार सुरक्षा सम्पर्क समिति बनाई जाए। उनका ख्याल था कि कांग्रेस के विरोध के बावजूद युद्धकाल में काम चल सकता है। इससे भारत पर अंग्रेजों का नियंत्रण निर्बल नहीं होगा और संवैधानिक प्रगति नहीं करनी पड़ेगी "जिससे हमारे मित्र नरेशों और मुसलमानों के हितों की हानि हो।"[117]

अगले दिन भारत सचिव ने उत्तर दिया कि "कांग्रेस की माँगें पूरी की जाने योग्य नहीं हैं। निश्चित समय के अन्दर डोमिनियन स्टेटस का वचन देना असंभव होगा। यदि यह सम्भव हो तो इसका एकमात्र प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि मुसलमानों का समर्थन नहीं मिलेगा।"[118]

भारतीय राजनीति पर उधर विश्वयुद्ध का प्रभाव, इधर वाइसराय और कांग्रेस के बीच अविश्वास का बढ़ता हुआ भाव—इस संकट को ध्यान में रखकर घनश्यामदासजी ने सितम्बर, 1939 में एक मसौदा तैयार किया जिसमें लिखा, "जो युद्ध इंगलैंड लड़ रहा हो, उस युद्ध का प्रभाव बहुत सारे देशों की स्वतंत्रता पर पड़ेगा, भारत की अप्राप्त स्वतंत्रता पर भी।"[119]

जब सब बातें उनके मन में स्पष्ट हो गयीं तो उन्होंने उस योजना का प्रयास भारत के वाइसराय और ब्रिटेन के कुछ मित्रों को भेजा, "लोकतांत्रिक शक्तियों की पराजय का प्रभाव भारत तथा अन्य निर्बल देशों की स्वतंत्रता पर निश्चत रूप से पड़ेगा। भारत को ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट निर्णय लेना होगा कि उसका दायित्व और कर्तव्य क्या है?"

"भारत ने सदा यही कहा है कि निर्बल देशों की रक्षा के लिए इंगलैंड को

117. प्राइवेट आफिसर पेपर्स आफ एस.एस., दि वाइसराय टु दि सेक्रेटरी आफ स्टेट, 21 सितम्बर, 1939 पर्सनल एंड प्राइवेट टेलीग्राम, 2003 एस.।

118. प्राइवेट आफिसर पेपर्स आफ एस.एस., दि वाइसराय टु दि सेक्रेटरी आफ स्टेट टु दि वाइसराय, सितम्बर 22, 1939 नं. 31 प्राइवेट एंड पर्सनल।

119. इम्पोर्टेंट पेपर्स, 6-9-1939, 7-7-1940 फाइल नं. 38 आफ पर्सनल पेपर्स।

हथियार उठाना चाहिए। इसके साथ ही यदि भारत यह भी कहे कि वह इंगलैंड को अपना सहयोग नहीं देगा, तो इस कथन को लोकतांत्रिक और फासिस्ट दोनों शक्तियाँ गलत समझेंगी। लोकतंत्र के शत्रुओं की विजय न भारत चाहता है और न चाह सकता है। भारत का कोई भी नेता इंगलैंड की कठिनाई को अपने लिए सुअवरस नहीं समझता है। यदि इंगलैंड के कष्टों को भारत के लिए सुअवसर समझना भूल होगी, तो फिर ग्रेट-ब्रिटेन के लिए भी, उससे भी बड़ी भूल यह होगी कि एक ओर तो वह भारत से एक महान उद्देश्य की रक्षा के नाम पर उसके उच्च विचारों को जगाकर उनसे फायदा उठाये और दूसरी ओर उसी उद्देश्य से उसे वंचित रखे जिसके लिए वह अन्यत्र युद्ध कर रहा है। भारत की स्वतंत्रता के लिए इस समय इंगलैंड से अधिक आदर की अपेक्षा की जाती है। भारत ने संकट के समय सदा इंगलैंड का साथ दिया है, इसलिए भारत को इंगलैंड का मित्र समझना चाहिए। भारत के लिए स्वतंत्र शासन के अधिकार को लेकर कोई झगड़ा नहीं है। झगड़ा है स्वतंत्र शासन करने की उसकी योग्यता को लेकर। परन्तु पिछले दो सालों में भारत ने प्रान्तों में जिस प्रकार सफलता से शासन चलाया है, उससे उसके दुश्मनों के मन से भी संदेह दूर हो गया है। कोई भी इस बात से असहमत नहीं हो सकता कि पूर्ण स्वतंत्रता की ओर भारत के प्रस्थान में अब देर नहीं करनी चाहिए। ऐसा न हो कि लोग यह कहें कि इंगलैंड ने लोकतंत्र की रक्षा के लिए अन्यत्र तो युद्ध किया, लेकिन अपने ही मित्रों को उन सिद्धान्तों से वंचित रखा, जिसके लिए वह चाहता था, भारत युद्ध करे।''[120]

इस मसौदे को तैयार करने का उद्देश्य स्पष्ट था। घनश्यामदासजी अंग्रेजों के मन में भारत के प्रति सौजन्यता और सहृदयता को पूरी तरह जगाना चाहते थे। गांधीजी की तरह वह चाहते थे कि अंग्रेजों के मन में न केवल वैमनस्य समाप्त हो, बल्कि मित्रता भी स्थापित हो। यही वजह थी कि वह अंग्रेजों के संकट और दुर्दिन से किसी प्रकार के भी लाभ उठाने के पक्ष में नहीं थे।

इस समय लार्ड लिंलिथगो ने ऐलान किया कि एक सहायक समिति का गठन किया जाएगा जिसमें सारे भारतीय राजनीतिक दल के प्रतिनिधियों के साथ, रजवाड़ों के राजे भी होंगे। साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की कि युद्ध के बाद 1935

120. इपोर्टेंट पेपर्स, 6-9-1939, 7-7-1940 फाइल नं. 38 आफ पर्सनल पेपर्स

अधिनियम में आवश्यक संशोधन किए जाएँगे। कांग्रेस की कार्यकारी-समिति ने इसका विरोध किया और कांग्रेस मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र देने के लिए कहा गया।

24 और 26 सितम्बर को कांग्रेस का मंतव्य समझाने के लिए गांधीजी वाइसराय से मिले। 30 सितम्बर को गांधीजी ने 'हरिजन' में लिखा, "यद्यपि यह अचम्भे की बात मालूम होगी, परन्तु मेरी सहानुभूति मित्र राष्ट्रों के साथ है। वैसे तो इस युद्ध के दो पक्ष बन गये हैं। एक ओर सामाजिक जनतंत्र है जिसका विकास पश्चिमी देशों में हुआ है और दूसरी ओर हिटलर की तानाशाही है।"

परन्तु कांग्रेस के नेताओं की दलीलों को, अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति के कथन को और परिणामों की चेतावनियों को एक ओर रख कर वाइसराय ने 17 अक्तूबर को निम्नलिखित वक्तव्य जारी कर दिया :

"मुझे सम्राट की सरकार ने यह कहने का अधिकार दिया है कि युद्ध के अंत में सरकार भारत के विविध समुदायों, दलों और हितों के प्रतिनिधियों से, भारतीय नरेशों से परामर्श करने के लिए बिल्कुल तैयार रहेगी और अभीष्ट परिवर्तनों की रचना के लिए उनकी सहायता और सहयोग लेगी।"[121]

वाइसराय ने यह भी घोषणा की कि तुरंत ही एक सलाहकार मंडल स्थापित किया जाएगा जिसमें ब्रिटिश भारत के राजनीतिक दलों और भारतीय नरेशों के प्रतिनिधि लिए जाएँगे। इस समूह का उद्देश्य यह होगा कि युद्ध की कार्यवाहियों से संबंधित प्रश्नों के साथ भारत के लोकमत की संगति बिठाई जाए।

यह ऐलान घृणापूर्ण उपेक्षा प्रकट करता था और बहुत धीरे-धीरे बनाया गया था। इससे उत्सुक हृदय भी ठंडे हो सकते थे। भारतीयों के मन में इससे उत्साह तो क्या सहानुभूति की चिंगारी भी पैदा हो सकती थी।

गांधीजी ने कहा कि यह ऐलान गहरी निराशा का प्रतीक है। इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि "यदि ब्रिटेन का वश चलेगा तो भारत में जनतंत्र स्थापित नहीं होगा। युद्ध के अन्त में दूसरी गोलमेज परिषद् बुलाने का वायदा किया गया है, परन्तु

121. दि इंडियन एन्युअल रजिस्टर 1939, खंड 2, पृष्ठ 387

पिछली परिषद् की भाँति यह भी अवश्य विफल होगी। कांग्रेस ने तो रोटी माँगी थी, परन्तु इसे पत्थर मिला है।''[122]

ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में जी.डी. ने वाइसराय के निजी सचिव, लेथवेट को 21 अक्तूबर, 1939 को कलकत्ता से लिखा, ''मैं वाइसराय के वक्तव्य पर कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता। पर इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि परस्पर सद्भाव और विश्वास की दिशा में अब तक किए गये प्रयत्नों का ऐसा अंत दुखद है। आज से पहले इससे बदतर हालत थे, पर वाइसराय ने उस पर सफलता हासिल की थी। 1937 की तुलना में आज तो हालात उतने बुरे नहीं हैं।''' वाइसराय को निराश नहीं होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि इसका उचित हल शीघ्र ही निकलेगा।''

जी.डी. के इस पत्र का अनुकूल प्रभाव पड़ा। कुछ ही दिनों बाद उन्होंने सीधे वाइसराय को एक पत्र लिखा जिसका अभिप्राय था कि यद्यपि गांधीजी और वाइसराय के बीच बातचीत सफल नहीं हो पायी है, फिर भी वाइसराय और गांधीजी एक-दूसरे के समीप आ गये हैं। गांधीजी का मत था कि अल्पसंख्यकों की समस्या की आड़ में अंग्रेजों को अपने उचित कर्तव्य से नहीं हटना चाहिए। साथ ही भारतीयों को चाहिए कि इस समस्या से मुँह न छुपाएँ, स्वयं इसका हल खोज निकालें। लगता था, स्थितियाँ भिन्न थीं। युद्ध के कारण लार्ड लिंलिथगो ने बिना परामर्श किये ही भारत को युद्धरत राष्ट्र घोषित कर दिया। इस बात को घनश्यामदासजी ने अंग्रेजों की गंभीर भूल माना।

इसी से कांग्रेसी मंत्रियों ने युद्ध के आरंभिक काल में पद-त्याग कर दिया था। तब भी घनश्यामदासजी के प्रयत्नों से वाइसराय ने फिलहाल गांधीजी के साथ सम्पर्क बनाये रखा और दोनों के बीच अनेक पत्र-व्यवहार हुए। लगभग एक गतिरोध-सा आ गया था, परन्तु घनश्यामदास बिड़ला ने यह उचित समझा कि इस सन्नाटे को तोड़ा जाए। दोनों पक्षों में फिर से परस्पर बातचीत हो सके, इसके लिए उन्होंने सार्थक परिस्थिति का निर्माण किया। भारत की स्वतंत्रता और उसके संविधान का स्वरूप क्या हो, इसका उन्होंने अपने विवेक-अनुसार एक प्रारूप तैयार किया। उस प्रारूप को एक पत्र के रूप में उन्होंने रॉजर हिक्स को भेजा। उन्होंने

122. दि इंडियन एन्युअल रजिस्टर 1939, खंड 2, पृष्ठ 393

पाँच सुझाव दिये थे। घनश्यामदासजी के सिवाय इंगलैंड में क्वेकरों ने और समझौता समिति के कार्लहीथ जैसे अन्य सदाशयी व्यक्तियों ने भी कोई रास्ता ढूँढ निकालने का प्रयास किया था। वे प्रयास निष्फल रहे। तब भी 11 नवम्बर, 1939 को घनश्यामदासजी वाइसराय लिंलिथगो से मिले। वाइसराय से मिलकर घनश्यामदासजी को लगा, ''बहुत ही दुखी और चिंतित थे। युद्ध एक भयंकर मोड़ ले रहा है··· वाइसराय भारत को लेकर बहुत परेशान हैं। यदि मैं कोई ठोक प्रस्ताव ले आऊँ तो वह उस पर सहानुभूति से विचार करेंगे।''

घनश्यामदासजी ने पूरी परिस्थिति का विश्लेषण किया। उन्हें मालूम था, अंग्रेजों की योजना एक और गोलमेज परिषद् बुलाने की थी। विधानसभा में प्रतिनिधित्व के प्रश्न को लेकर भारतीय और अंग्रेजों में मतभेद था, ''हम भारतीय उसमें ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि नहीं चाहते।''[123]

घनश्यामदासजी ने तीन चरणों में स्वतंत्रता-प्राप्ति का सुझाव वाइसराय के आगे रखा :

1. वाइसराय के मंत्रिमंडल में भारतीयों का तुरंत प्रवेश।
2. 1935 अधिनियम, इस प्रावधान के साथ कि रक्षामंत्री और विदेशमंत्री दोनों ही असेंबली के अधीन हों।
3. युद्ध के समाप्त होते ही 'डोमिनियन स्टेटस' की घोषणा।

वाइसराय को उस सुझाव में कोई दोष नहीं दिखाई दिया। लेकिन मंत्रिमंडल में भारतीयों के प्रवेश के प्रति उन्होंने आस्था नहीं दिखाई। वाइसराय ने कहा कि नये मंत्री जब-तब अपना त्यागपत्र देते रहेंगे तो और लज्जास्पद बात हो जाएगी।

वाइसराय के साथ घनश्यामदासजी की खुली बातचीत हुई। इसके बाद घनश्यामदासजी को लगा, वाइसराय एक ओर विश्वयुद्ध की भयानकता और दूसरी ओर भारतीय-स्वतंत्रता मार्ग पर आयी हुई विषम परिस्थिति के कारण, बहुत ही क्षुब्ध और निराश हैं। वाइसराय को इस तरह देखकर घनश्यामदासजी समझ गये कि भारतीय स्वतंत्रता के संदर्भ में इनसे इस समय कुछ भी आशा करना बेकार है।

123. इंपोर्टेंट पेपर्स, 6-9-1939, 7-7-1940 फाइल नं. 38 आफ पर्सनल पेपर्स

फिर भी 15 नवम्बर को वर्धा से जी.डी. ने लेथवेट को पत्र में लिखा, "जबसे यहाँ आया हूँ तब से रोज गांधीजी से देर तक खुलकर बातें होती हैं। मैं दिल्ली आकर वाइसराय से मिलूँ, गांधीजी चाहते हैं। मैं तब तक यहाँ रुकूँ जब तक वह इलाहाबाद में कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक से और श्री जवाहरलाल नेहरू से वार्ता करके न लौट आयें।"[124]

दिल्ली में वाइसराय से जी.डी. की भेंट का बड़ा महत्व था। इस प्रसंग में लेथवेट के पत्र इसके प्रमाण हैं।

घनश्यामदास जब इस बार भी वाइसराय से मिले और भारतीय स्वतंत्रता के बारे में गांधीजी के विचार बताये तो उसका कोई उचित प्रभाव उन पर नहीं पड़ा।

घनश्यामदासजी के मतानुसार गांधीजी, कांग्रेस और वाइसराय के ध्येयों में यह अन्तर था कि वाइसराय तो चाहते थे कि भारत के भाग्य का निर्णय ब्रिटिश सरकार करेगी। परन्तु कांग्रेस का ख्याल इसके विपरीत था। गांधीजी का विचार था कि "अपनी वास्तविक स्वतंत्रता का स्वरूप स्वयं भारत निश्चित करे। उस पर बाहर का कोई प्रभाव नहीं हो।"[125]

इस पूरी स्थिति को देखते हुए घनश्यामदासजी को चिंता थी कि इस युद्धरत पक्ष की दृष्टि से भारत की क्या हैसियत मानी जाएगी ? और इसका क्या दूरगामी असर भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति पर पड़ेगा ?

124. इंपोर्टेंट पेपर्स 6-9-1939 से 7-7-40 जी.डी. फाइल नं. 38
125. महात्मा तेंदुलकर, खंड 5, संस्करण 1949, पृष्ठ 2311

सातवाँ अध्याय

स्वतंत्रता की ओर

मार्च, 1940 में द्वितीय महायुद्ध का पहला चरण समाप्त हो रहा था। ब्रिटेन में चेम्बरलेन को प्रधानमंत्री पद छोड़ना पड़ा और 10 मई को चर्चिल पदारूढ़ हो गये। उन्होंने कोई वादा नहीं किया, बल्कि कहा कि "मैं तो रक्त, श्रम, अश्रु और पसीने का वचन दे सकता हूँ।"

"ऐसे संकटपूर्ण समय में आपके प्रधानमंत्री होने पर आपको हार्दिक बधाई देता हूँ। आपको शायद यह पता हो कि भारतवर्ष में इस समय जो लोग आपकी राजनीति से सहमत नहीं हैं, वे भी आपकी इस नियुक्ति के पक्ष में हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से आपसे दो बार मिल चुका हूँ और आपके घर दोपहर का भोजन कर चुका हूँ। आपके स्वभाव से मुझे पता चला है कि आप एक दृढ़ निश्चयी और आत्म-विश्वास से भरे व्यक्ति हैं।"[126]

चर्चिल के नाम इस पत्र के साथ जी.डी. ने वाइसराय के साथ हुए गांधीजी के वार्तालाप का पूरा ब्यौरा भी भेजा और अपने पत्र में फिर दोहराया कि "गांधीजी इंगलैंड के सबसे बड़े मित्र हैं। युद्ध के बारे में उनके जो विचार हैं, उन्हें पढ़कर आपके दिमाग में विरोध की ऐसी कोई आशंका नहीं रह जाएगी।··· भारतवर्ष में ऐसे वामपंथी विचारों के लोग भी हैं, जो यह मानते हैं कि इंगलैंड की विपत्ति भारत का सौभाग्य है, पर गांधीजी के हम सब शिष्य ऐसा नहीं मानते। गांधीजी की कामना है कि इंगलैंड युद्ध की इस विभीषिका से सुरक्षित बच निकले। मेरा विश्वास है कि अंत में गांधीजी का अशीर्वाद सच सिद्ध होगा।"

उस समय ब्रिटेन की शासन-सत्ता चूँकि अनुदार दल के हाथ में थी, इसलिए स्वभावतः प्रधानमंत्री चर्चिल ने अनुदार नीति का कठोरता से अनुसरण किया।

126. इम्पोर्टेंट पेपर्स - 6.9.1939 से 7.7.40, बी.डी. फाइल नं. 38

घनश्यामदासजी के शब्दों में भारतीय प्रश्न के विषय में चर्चिल बड़े ही कठोर व्यक्ति थे। उनके दिमाग में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ की बातें भरी हुई थीं। उस समय वह भारतवर्ष में आये थे और उन्होंने मलकंद की लड़ाई में उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मातहत अफसर की हैसियत से कार्य किया था। जी.डी. की उनसे पहली मुलाकात गोलमेज परिषद् के दिनों में हुई थी।

गांधीजी को छोड़ अन्य सभी कांग्रेसी नेताओं का ख्याल था कि चर्चिल के प्रधानमंत्रित्वकाल में भारत की किसी प्रकार की राजनीतिक प्रगति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। परंतु गांधीजी के साथ जी.डी. का विश्वास था कि ऐसी स्थिति में भी भारतीय राजनीतिक प्रगति के बारे में, लोकमत की दृष्टि से कुछ करना आवश्यक है। युद्ध के दूसरे चरण में अंग्रेजों के सिर पर खतरा मंडरा रहा था और भारत के सामने भी देश-विभाजन का भय था। इस भयावह स्थिति का ब्रिटिश सरकार को कोई हल नहीं सूझता था। न तो वह भारतीय स्थिति की गंभीरता को ठीक-ठाक समझ सकती थी और न यह देख सकती थी कि शीघ्रता से बदलती हुई युद्ध की स्थिति आगे क्या रूप धारण करेगी।

ऐसी परिस्थिति में रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वातंत्र्य की माँग की और प्रस्ताव पारित कर कहा कि साम्प्रदायिक समस्या का हल विधाननिर्मात्री सभा द्वारा हो सकता है। साथ ही कांग्रेस 'सविनय अवज्ञा' के पुनरारम्भ पर भी विचार कर रही थी। भारत सचिव जेटलैंड ने 3 अप्रैल, 1940 को अपने रेडियो भाषण में यह बात पुनः दोहराई, ''हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर समझौते के बिना भारतवर्ष में किसी भी समझौते का पालन नहीं हो सकता है।''[127]

घनश्यामदासजी इस स्थिति की गहराई में उतरकर देख रहे थे कि भारतीय-जन किस तरह ब्रिटिश शासन नीति से असंतुष्ट होते जा रहे हैं। ''यह नहीं, जहाँ एक ओर वीर भारतीय सेना, जिस पर आज हम ठीक ही इतना गर्व करते हैं, अपनी विशिष्टता स्थापित कर रही थी और ब्रिटिश सेना से भी अधिक तेजी के साथ विक्टोरिया क्रास और दूसरे सम्मान प्राप्त कर रही थी, वहाँ दूसरी ओर जनता को इन चीजों में किसी प्रकार के आनंद का बोध नहीं हो रहा था, और यदि वह खुले

127. दि इंडियन एन्युअल रजिस्टर, 1940, खंड I, पृष्ठ 57

रूप से विरोधी न थी, तो उदासीन अवश्य थी। बहुतों के हितों में तो नात्सियों के प्रति एक प्रकार की सहानुभूति तक पैदा हो गयी थी। जापान के प्रति तो प्रायः सभी हलकों में सहानुभूति थी। इस पर विचित्र बात यह थी कि उसकी विजय की कामना किसी को नहीं थी।''[128]

इस स्थिति के बावजूद जी.डी. का यह विश्वास और प्रयत्न रहा कि वाइसराय से गांधीजी का बराबर सम्पर्क बना रहे।

24 मार्च, 1940 को मुस्लिम लीग ने भारत के बँटवारे का आह्वान करने के लिए संकल्प कर लिया था। 1940-41 के बीच अपने संकल्पानुसार मुस्लिम लीग ने भारतवर्ष के विभिन्न हिस्सों में देशहित के विरुद्ध कितना कुछ कर लिया था, इसकी चिंता जी.डी. के अनेक व्यक्तिगत पत्रों में उभरी है।

कुछ दिनों बाद घनश्यामदास बिड़ला वाइसराय से मिले। उन्होंने वाइसराय से कहा कि कांग्रेस के लिए यह समझना असंभव हो गया है कि अगर ब्रिटिश सरकार अनिच्छुक अल्पसंख्यकों एवं राजाओं पर संघशासन लागू करने को उतावली है तो वह उतनी ही उतावली उन्हें स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा देने में क्यों नहीं दिखाती। सरकार का यह रुख विश्वास की कमी की ओर इंगित करता है।''' वाइसराय का कहना था अनुदार दल की नजरों में स्वतंत्रता और उपनिवेश के दर्जे में अंतर है।

आठ अगस्त, 1942 को कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का संकल्प अंगीकार कर लिया और गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसा पर आधारित जन-आंदोलन प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखा। इससे सरकार बौखला गयी और कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। उधर जेल में गांधीजी ने आमरण अनशन पर जाने की धमकी दे दी। इस तरह सम्पूर्ण भारत में विक्षोभ फैल गया था।

इस अशांति यानी जन आंदोलन को आर्थिक बल देने का संदेह श्री घनश्यामदास बिड़ला पर किया गया। इस संदर्भ में वाइसराय लार्ड लिंलिथगो का श्री एमरी को भेजा गया 20 अगस्त, 1942 का पत्र उल्लेखनीय है :

''''' सम्पर्कों पर लगातार नजर रखें। इस तूफान का वास्तविक केन्द्र बिहार

128. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 376.

है, जहाँ अभी तक समस्या विकट रूप लिए हुए है। शांति की पुनर्स्थापना के लिए सेना एवं स्थानीय बलों द्वारा सभी संभव कार्रवाई की जा रही है।''' होप (मद्रास के गवर्नर) ने टिप्पणी की है कि यह समझने का कोई कारण नहीं था कि कांग्रेस विशेषकर मद्रास में भारी प्रदर्शन करने को उत्सुक थी जिससे कि उससे राजगोपालाचारी के अभाव को पूरा किया जा सके। बंगाल की रिपोर्ट, यह पक्का संदेह दर्शाती है कि श्री घनश्यामदास बिड़ला एवं उनके समर्थक मारवाड़ी, आंदोलन को आर्थिक मदद कर रहे हैं और वे मिल एवं कारखानों की हड़ताल को भी आर्थिक मदद देने का प्रयास कर सकते हैं। नेशनलिस्ट प्रेस का बंद होना इस भयप्रसारक अफवाह से मेल खा रहा है। अस्ती (केन्द्रीय प्रदेश), चिमनुर एवं गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में पुलिस के हत्यारों को पकड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी जा रहीं है, लेकिन अभी हम इन घटनाओं को प्रचारित नहीं कर रहे हैं।''[129]

उस समय की स्थिति को देखते हुए गांधीजी ने तब अनशन आरम्भ नहीं किया। हालाँकि उन्होंने लार्ड लिंलिथगो की अनशन न करने की प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी। कांग्रेस द्वारा की जा रही हिंसा से वह चिंतित थे। यही कारण था कि उन्होंने श्री घनश्यामदास बिड़ला से कहा कि ''जब तक मैं अंतःप्रेरणा से प्रेरित नहीं होऊँगा, अनशन प्रारंभ नहीं करूँगा।''[130]

'भारत छोड़ो' संकल्प अपनाने से पूर्व ही कांग्रेस द्वारा प्रयास किए जा रहे थे कि ब्रिटिश सरकार भारत को स्वतंत्र करने के लिए स्वयं कोई तारीख निश्चित करे, भले ही वह तारीख युद्ध के बाद की निश्चित की जाए।

हिंसा का खेल रुक जाने पर गांधीजी ने 1943 के शुरू में अनशन प्रारंभ किया। लार्ड लिंलिथगो द्वारा कांग्रेस के नेताओं को जेल से आजाद न किए जाने के विरुद्ध वाइसराय की परिषद् के भारतीय सदस्यों को त्याग-पत्र देने के लिए राजी करने के प्रयत्न किए गये। इस संदर्भ में श्री एमरी को लिखा गया लार्ड लिंलिथगो का 11 फरवरी, 1943 का पत्र दृष्टव्य है :

''.... मैं श्रीवास्तव से मिला। यह लगा कि बिड़ला, पुरुषोत्तमदास आदि द्वारा

129. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग-2, पृष्ठ 762, प्रलेख-592
130. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग-2, पृष्ठ 843, प्रलेख-652

जोगेन्द्र एवं अहमद के साथ-साथ हिन्दू सदस्यों को त्याग-पत्र देने के लिए राजी करने के अत्यधिक दृढ़ निश्चय से प्रयास किए जा रहे हैं। श्रीवास्तव अभी अपनी बात पर डटे हुए हैं, लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि अगर परिषद् में वह अकेले हिन्दू सदस्य रहे तो उनकी उपस्थिति भी लगभग असंभव हो जाएगी।''[131]

गांधीजी का जीवन भारत के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण था, इस बात को सभी भलीभाँति समझते थे। यही कारण था कि श्री घनश्यामदास बिड़ला सहित अनेक लोग तुरंत किसी मैत्रीपूर्ण हल की इच्छा रखते थे, ताकि गांधीजी के अनशन को समाप्त किया जा सके। इसी सिलसिले में श्री राजगोपालाचारी एवं श्री घनश्यामदास बिड़ला ने लार्ड लिंलिथगो से मिलने की कोशिश की, लेकिन उन्होंने व्यक्तिगत रूप से मिलने से मना कर दिया।''[132]

गांधीजी के अनशन से लार्ड लिंलिथगो भी परेशान थे। वह उनके स्वास्थ्य के बारे में जानने को उतावले रहते थे। जब श्रीवास्तव से उन्हें यह जानकारी मिली कि पूना से डाक्टर बी.सी. राय ने टेलीफोन पर दिल्ली में श्री घनश्यामदास बिड़ला को बताया है कि गांधीजी अब खतरे में नहीं हैं, तो उन्हें काफी तसल्ली मिली। लार्ड लिंलिथगो के निर्देश पर अधिकारी गांधीजी को आहार खिलाने की असफल कोशिश में रहे।

बहुत से भारतीय नेताओं द्वारा ब्रिटिश सरकार एवं कांग्रेस के बीच समझौता कराने के प्रयास किए जा रहे थे। 10 मार्च, 1943 को बम्बई में श्री जयकर के निवास-स्थान पर एक सभा की गयी, जिसमें श्री एम.आर. जयकर, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी. राजगोपालाचारी, श्री घनश्यामदास बिड़ला, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, श्री भूलाभाई, श्री जे. देसाई, श्री के.एम. मुंशी, सर अर्देशीर दलाल, श्री जे.आर.डी. टाटा, श्री एस.ए. ब्रूलवी, श्री वालचंद हीराचंद, सर चुन्नीलाल भाईचंद मेहता, सर होमी मोदी, श्री देवदास गांधी, मास्टर तारासिंह, श्री एस. रामनाथन, श्री जी.एल. मेहता, श्री अल्लाह बक्श, सर जगदीश प्रसाद, श्री कस्तूरभाई लालभाई एवं डाक्टर मेक्केंजी उपस्थित थे। सभा में अग्रलिखित संकल्प पास किया गया :

131. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 3, पृष्ठ 651, प्रलेख-453
132. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 3, पृष्ठ 713, प्रलेख-515

"हमारी यह राय है कि पिछले कुछ महीनों की दुखद घटनाओं को देखते हुए कांग्रेस और सरकार दोनों अपनी नीतियों के बारे में पुनर्विचार करें। हाल ही में हममें से कुछ लोगों की गांधीजी से बातचीत हुई, जिससे हमें विश्वास हो गया कि वर्तमान समय में समस्या के समाधान के अच्छे परिणाम होंगे। यह हमारा विश्वास है कि अगर गांधीजी स्वतंत्र हैं तो आंतरिक गतिरोध को दूर करने में वह अपनी सहायता एवं मार्गदर्शन देने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ेंगे··· हमारी ओर से कुछ प्रतिनिधियों को अधिकारिक रूप से गांधीजी से मिलने देने की अनुमति वाइसराय से माँगी जाए, ताकि वर्तमान घटनाओं पर उनकी प्रतिक्रिया प्राप्त हो सके और समझौते की भूमिका तैयार करने में मदद मिल सके।"[133]

ब्रिटिश सरकार युद्ध और सांप्रदायिक एकता के नाम पर भारत की स्वतंत्रता के प्रश्न को किस अनिश्चित और संकटपूर्ण दिशा में ठेल रही थी, इससे गांधीजी और उनके सहयोगियों, जिनमें सरदार पटेल, राजगोपालाचारी और घनश्यामदास प्रमुख थे, की चिंता चरमसीमा पर पहुँच रही थी। इसका सीधा प्रभाव उस समय चल रहे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन पर पड़ा जो 17 अक्तूबर, 1940 से 1941 तक चला। उसमें मुख्य सत्याग्रही थे विनोबाभावे, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, राजगोपालाचारी और मौलाना आजाद। 1941 के अंत तक यह आंदोलन कांग्रेस के छोटे-बड़े लोगों तक पहुँच गया और ग्रीष्म ऋतु के मध्य तक इसके कारण लगभग बीस हजार व्यक्तियों को दण्ड मिला।

इस उत्पीड़न से ऐसे बड़े-बड़े भारतीयों को भी क्षोभ हुआ, जो कांग्रेस से बाहर थे। सप्रू, जी.डी. ने गत्यावरोध को समाप्त करना चाहा, परंतु एमरी ने कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि 22 अप्रैल, 1941 को उन्होंने हाउस आफ कामन्स में एक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने कांग्रेस के हाई कमान पर यह दोष लगाया कि उसने भारत के सात प्रांतों में निवास करने वाले दो करोड़ लोगों को स्वशासन की परम्परा बनाने के अवसर से वंचित किया है। मुसलमान और भारतीय नरेश भारत की केन्द्रीय सरकार में शामिल नहीं होना चाहते हैं। उनके निश्चय को कांग्रेस नें और भी दृढ़ कर दिया है।

इस भाषण के कारण गांधीजी ने 27 अप्रैल को एक वक्तव्य जारी किया जिसके

133. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 3, पृष्ठ 800-801, प्रलेख 584

विषय में उदार नेता श्री श्रीनिवास शास्त्री और जी.डी. ने कहा कि "इसके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक पंक्ति में उचित रोष भरा हुआ है और ऐसा रोष है, जिसको महात्मा गांधी आम तौर पर व्यक्त नहीं किया करते।"[134]

सविनय अवज्ञा आंदोलन उस समय तक चला, जब महायुद्ध में जापानी खतरा भारतीय आकाश पर मंडराने और आसपास के समुद्रों पर घूमने लगा। उस नयी स्थिति में कांग्रेस कार्य-समिति ने गांधीजी की नितांत अहिंसा के सिद्धांत से अपना मतभेद प्रकट किया। तब 15 दिसम्बर को गांधीजी ने कांग्रेस आंदोलन के नेतृत्व से त्यागपत्र दे दिया।

अब तक भारत ने महायुद्ध में सहयोग नहीं दिया था, परंतु अब उसका रुख बदलने लग गया था। 30 दिसम्बर, 1941 को बारदौली में कांग्रेस कार्य-समिति ने प्रस्ताव पास किया कि सहयोग दिया जाए। "परंतु शर्त यह थी कि ब्रिटेन ऐसी स्थिति उत्पन्न करे, जिसमें भारत स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए सम्मानपूर्वक लड़ सके।" इस प्रस्ताव की पुष्टि जनवरी, 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने भी कर दी।

तेज बहादुर सप्रू, घनश्यामदास बिड़ला और बारह अन्य प्रतिष्ठित भारतीयों ने, जिनका कांग्रेस दल से संबंध नहीं था, 12 जनवरी को प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल को तार भेजा कि कार्यकारिणी परिषद् को तुरंत ही राष्ट्रीय सरकार का रूपं दे दिया जाए, और प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें पुनः स्थापित कर दी जाएँ। इम्पीरियल युद्ध समिति में ऐसे भारतीय प्रतिनिधि लिए जाएँ, जिनको राष्ट्रीय सरकार ने निर्वाचित किया हो और भारत के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाये, जैसा स्वतंत्र उपनिवेशों के साथ किया जाता है। उस समय विंस्टन चर्चिल वाशिंगटन में थे। उन्होंने 7 जनवरी को एटली के नाम भेजे तार में कहा कि :

"मुझे आशा है कि मेरे सहयोगी समझेंगे कि संवैधानिक प्रश्न खड़ा करने में इस समय खतरा है और संवैधानिक परिवर्तन करने में तो और भी अधिक खतरा है। इस समय जब शत्रु सीमा पर खड़ा है, यह ख्याल निराधार है कि इस संकट

134. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 297
फुटनोट-63-द इंडियन एन्युअल रजिस्टर, 1941 खंड I, पृष्ठ 326

के समय में कांग्रेस के हाथ में शक्ति सौंप कर हम भारत से अधिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं।... विरोधी राजनीतिक तत्वों को सुरक्षा क्षेत्र में शामिल करने से काम ठप्प हो जाएगा।"[135]

इस तार के मसौदे को जी.डी. ने 'लंदन टाइम्स' जैसे महत्वपूर्ण पत्र में पढ़कर समझ लिया कि "ब्रिटिश सरकार के इरादे सच्चे नहीं हैं। इसके फलस्वरूप लोगों में घोर असंतोष भरने लगा है और उसका विस्फोट हुआ 8 अगस्त, 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में। तय तो यही हुआ था कि गांधीजी के नेतृत्व में यह आंदोलन शांतिपूर्ण रहेगा, लेकिन सरकार ने पहले से ही चौकन्नी होकर सारे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। आंदोलन अपनी दिशा खो बैठा और सारे देश में खलबली मच गयी। लोग विध्वंस और हिंसा पर उतर आये। लार्ड लिंलिथगो को यह संदेह हो गया कि इस आंदोलन को बिड़ला परोक्ष रूप से वित्तीय सहायता दे रहे हैं।"[136]

गांधीजी पूना में आगाखाँ पैलेस में नजरबंद थे। उन्होंने वहाँ उपवास की घोषणा कर दी। उपवास की अवधि इक्कीस दिन है, सुनकर घनश्यामदासजी घबरा गये। के.एम. मुंशी को अपने साथ लेकर घनश्यामदासजी ने एक प्रतिनिधि सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया, जिससे सरकार को बापू की रिहाई के लिए प्रेरित किया जा सके। राजगोपालाचारी और सर तेजबहादुर सप्रू को तार भेजकर उनसे सम्मेलन में उपस्थित होने का अनुरोध किया। वे राजी हो गये।

घनश्यामदासजी का दिल्ली वाला मकान इतने बड़े सम्मेलन के लिए पर्याप्त नहीं था, इसलिए घनश्यामदासजी ने वह अधिवेशन भारतीय व्यापारी संघ के अहाते में किया। सब ने एक स्वर में गांधीजी को रिहा करने का प्रस्ताव किया। तब भी ब्रिटिश सरकार का दिल नहीं पसीजा।

उसी समय कुछ मित्रों ने जिन्होंने बिड़ला परिवार के साथ बापू के सम्पर्क को सदैव अपनी ईर्ष्या का विषय बनाया था, यह आपत्ति उठायी कि जब कभी बापू

135. भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 320
फुटनोट - द ट्रांसफर आफ पावर, 1942, 47, खंड I, क्रिप्स, मिशन मैन्सर्ग और लुम्बी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 14 चर्चिल से एमरी को, 7 जनवरी, 1942
136. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 2, पृष्ठ 762, प्रलेख 592

दिल्ली या बम्बई आते हैं तो बिड़ला भवन में ही क्यों ठहरते हैं ? उन्होंने बापू को यह समझाने की चेष्टा की कि बिड़ला भवन से ही वह पहले भी गिरफ्तार हो चुके हैं और उनकी गिरफ्तारी बिड़ला-परिवार के लिए अहितकर हो सकती है। बापू ने कहीं और ठहरने से इनकार कर दिया और उन्होंने जब यह बात घनश्यामदासजी को बतायी तो उनका यही उत्तर था कि किसी भी हालत में वह बापू की जिम्मेदारी उठाने से पीछे नहीं हटेंगे। यह जिम्मेदारी उन्होंने निबाही भी। वह गांधीजी का ध्यान रखते रहे और साथ ही यह स्पष्ट करते रहे कि "मेरी भक्ति बापू के प्रति है और मैं उन्हें किसी भी चीज के लिए इनकार नहीं कर सकता हूँ। उन्हें मुझ से जो रुपया मिला, उसे उन्होंने ऐसे काम में लगाया, जो जनता के हित के लिए हो। जनता के लिए वह बहुत बड़े धन-संग्राहक बन गये थे, तथा उनकी अपीलें हरिजनों, गृह-उद्योगों, बुनियादी तालीम और विविध रचनात्मक कामों के लिए होती थीं।"[137]

गांधीजी ने राजनीतिक कार्यों के लिए घनश्यामदासजी से पैसा नहीं माँगा। यदि वह माँगते तो घनश्यामदासजी राजनीतिक कार्यों के लिए भी गांधीजी को पैसा देते। गांधीजी को किसी भी काम के लिए मना करना उनके लिए संभव ही नहीं था। किंतु गांधीजी स्वयं चाहते थे कि घनश्यामदासजी का रुपया खादी, हरिजन-उद्धार, आश्रम के कार्य इत्यादि रचनात्मक कामों में ही लगे, इसीलिए उन्होंने उन्हीं रचनात्मक कामों के लिए समय-समय पर रुपया माँगा।

वाइसराय को भी इसका विश्वास नहीं था कि घनश्यामदासजी का रुपया राजनीतिक कामों में नहीं लगता था। उनके सेक्रेटरी लेथवेटं से घनश्यामदासजी की एक बार जबरदस्त बहस हुई।

लेथवेट ने घनश्यामदासजी से कहा, "क्या यही बात सबकी जबान पर नहीं है कि आप कांग्रेस को धन देते हैं।"

घनश्यामदासजी ने कहा, "सबकी जबान पर क्या बात है, इससे तो मुझे कोई सरोकार नहीं है, प्रश्न तो यह है कि क्या आपका भी यही विश्वास है ?"

उन्होंने कहा, "नहीं।"

137. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 426

घनश्यामदासजी ने कहा, "चूँकि मुझे यह पता चल गया है कि वाइसराय को मुझ पर भरोसा नहीं है, इसलिए मैं बात को आगे नहीं बढ़ाना चाहता।"

लेथवेट ने कहा, "पर क्या आप कांग्रेसवादी नहीं हैं ?"

घनश्यामदासजी ने उत्तर दिया, "मैं कुछ नहीं जानता, मैं गांधीवादी अवश्य हूँ। गांधीजी मेरे लिए पिता समान हैं। मैं उनके सारे लोकोपकारी और रचनात्मक कार्यों में गहरी दिलचस्पी रखता हूँ। गांधीजी ने मुझसे राजनीतिक लड़ाई में भाग लेने को कभी नहीं कहा। वाइसराय को अब तक यह जान लेना चाहिए था कि समूचे भारत में उनकी सहायता करने की जितनी चेष्टा मैंने की और उनका साथ देने के मामले में जितनी वफादारी मैंने दिखायी, उतनी और किसी ने नहीं दिखायी होगी और वाइसराय ने मुझे यह पुरस्कार दिया है। यदि वाइसराय की धारणा यह है कि एक ओर तो मैं उनके पास एक मित्र की हैसियत से आता हूँ और दूसरी ओर गुप्त रूप से उनके खिलाफ काम कर रहा हूँ तो फिर उनका समय और अधिक बर्बाद करने की मेरी इच्छा नहीं है। वाइसराय ने मेरी ईमानदारी पर शक करके मेरे प्रति अन्याय किया है। और, मैं और अधिक लांछित होना नहीं चाहता।"[138]

लेथवेट ने घनश्यामदासजी को शांत करने की बहुत चेष्टा की। वह उन्हें बिदा करने के लिए अपने कार्यालय के बाहरी अहाते तक आये। हर तरह का शिष्टाचार दिखाया, पर घनश्यामदासजी किसी भी तरह शांत होने की वृत्ति में नहीं थे।

लेथवेट ने कहा, "हम चाहे जब मिल सकते हैं और बातचीत कर सकते हैं।"

पर घनश्यामदासजी ने कह दिया, "वाइसराय की ओर से यह प्रसाद पाने के बाद वाइसराय भवन में फिर पाँव रखने की मेरी इच्छा नहीं है और उनके साथ मेरी बातचीत का यह बिल्कुल अंतिम अध्याय है।"[139]

बीस अक्तूबर, उन्नीस सौ तैंतालीस को लिंलिथगो के बाद फील्ड मार्शल विकांउट वेवेल भारत के वाइसराय बनकर आये। उन्हें इसलिए चुना गया था क्योंकि वह एक फौजी थे। इस समय ब्रिटिश सरकार के लिए भारत दोहरा संकट

138. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 427-428
139. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 428

बना हुआ था। भारत की सीमा पर जापानी सैनिक बढ़ आ रहे थे और अंदर, देश में हिन्दू और मुसलमानों के बीच भयंकर तनातनी चल रही थी।

ऐसे समय में भी घनश्यामदासजी कांग्रेस और सरकार के बीच कड़ी बने रहे। सबसे पहले लार्ड वेवेल ने घनश्यामदासजी को बंगाल अकाल के संबंध में बातचीत के लिए बुलाया। इस बात का उतना राजनीतिक महत्व नहीं था, लेकिन इससे यह पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार घनश्यामदासजी की आर्थिक सूझ-बूझ का कितना लाभ उठाना चाहती थी।

लार्ड वेवेल को भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सेतुबंध का कार्य करना था। इसके अतिरिक्त उन्हें राजनीतिक उन्नति, जापानियों के विरुद्ध भारत की सेना प्रबंध और युद्ध-कार्य के सहयोग के लिए देश में सभी वर्गों को संगठित करने के लिए प्रस्ताव बनाने थे।

लेकिन लार्ड वेवेल के सम्मुख तात्कालिक समस्या आर्थिक थी। श्री घनश्यामदास बिड़ला ने उनके कार्यकाल में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लार्ड वेवेल के कार्यभार ग्रहण करने के बाद श्री बिड़ला की उनसे बंगाल के अकाल पर पार पाने के लिए बातचीत हुई। श्री बिड़ला ब्रिटिश के लिए सलाहकार और राजनीतिक मामले में कांग्रेस की कड़ी ही नहीं थे, अपितु जब भी ब्रिटिश अपने को क़िसी मुसीबत में पाते, श्री बिड़ला उन्हें लाभकारी प्रतीत होते थे।

लार्ड वेवेल ने स्वीकार किया है :

''बिड़ला, कांग्रेस के समर्थक, आज सुबह 6 मार्च, 1944 को मुझसे मिले। भारत के औद्योगिक एवं कृषि विकास पर हमारी बड़ी दिलचस्प बातचीत हुई। उन्होंने विकास परिषद् के लिए एक सदस्य की सिफारिश की। राजनीति से बाहर रहकर भी उन्होंने राजनीति को प्रभावित किया है।''[140]

लार्ड वेवेल को भारत का भविष्य, जिसके कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश प्रतिष्ठा कम या ज्यादा हो सकती थी, अनिश्चित लगा। इसलिए उन्होंने युद्ध के बाद भारत के पुनर्निर्माण की दिशा में कुछ बातों को महत्व देना तय किया।

140. द वाइसराय जनरल, पृष्ठ 59

उनके कामों से भारतीय राजनीतिज्ञों को लगा कि कुछ होने वाला है। श्री बिड़ला और अन्य महत्वपूर्ण लोग उसकी भनक लेने को बहुत उत्सुक रहे।

श्री एल.एस. एमरी को लार्ड वेवेल ने लिखा :

"... 27 नवम्बर, 1944 को जी.डी. बिड़ला ने, जिन्हें संभवतः गांधीजी ने भेजा था, मेरे निजी सचिव से विभिन्न समाधानों पर विचार-विमर्श किया। श्री बिड़ला का स्पष्ट विचार था कि वर्तमान संविधान के तहत केन्द्र में संयुक्त सरकार संभव है।"[141]

इसके दो दिन बाद लार्ड वेवेल को जी.डी. ने एक पत्र प्रेषित किया, जिसमें लिखा कि राजनीतिक दलों का हिज मैजेस्टीस गवर्नमेंट से आशा एवं अपेक्षा है कि वह कोई समुचित कार्रवाई करे, क्योंकि उसके बिना नयी दिल्ली में हमेशा निराधार कल्पनाएँ होती रहती हैं।

24 नवम्बर, 1944 को जिन्ना ने एक पत्र में मुडी को बताया कि नया संविधान तय करने के लिए क्रिप्स की क्रियाविधि मुसलमान कभी नहीं स्वीकार करेंगे। जिन्ना को सप्रू समिति में भी कोई रुचि नहीं थी। उसने सरकार द्वारा प्रायोजित सम्मेलन के प्रति कोई खास गुस्सा नहीं दिखाया और केन्द्र की संयुक्त सरकार में हिस्सा लेने में रुचि दिखाई, भले ही कांग्रेस ऐसा करने से मना कर दे। जिन्ना की निगाह में कांग्रेस एवं महासभा दोनों एक थीं।

लार्ड वेवेल ने घनश्यामदासजी के प्रसंग से सर ई. जैकिंस[142] को भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए। "बिड़ला या तो प्रतिनिधि समिति के पक्ष में इस शर्त के साथ थे कि विवादास्पद साम्प्रदायिक मामले मध्यस्थों को सौंप दिये जाएँ जिनके निर्णय बाध्यकारी हों या 'अन्तरिम सरकार' के किसी रूप, बल्कि मुडी को जिन्ना द्वारा सुझाई रूपरेखा के अनुसार हो। जैकिंस के यह कहने पर कि बाध्यकर फैसले का मतलब तो आरोपित संविधान हो जाएगा, श्री बिड़ला ने कहा कि वह सोचते हैं कि 'अन्तरिम सरकार' बेहतर है और शायद गांधीजी भी इससे सहमत हो जाएँ।"[143]

141. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 5, पृष्ठ 236, प्रलेख 113
142. लार्ड वेवेल के निजी सचिव
143. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 5, पृष्ठ 552, प्रलेख 120

25 जनवरी, 1945 को वी.पी. मेनन की श्री घनश्यामदासजी बिड़ला एवं श्री भूलाभाई देसाई से 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के तत्कालीन संयुक्त सम्पादक श्री दुर्गादास के निवास पर लम्बी बाचतीत हुई। बातचीत में उस समय देश की राजनीतिक स्थिति पर खुलकर विचार-विमर्श हुआ।

वी.पी. मेनन ने उस बातचीत का निचोड़ हिज एक्सलेंसी की जानकारी हेतु सर ई. जेकिंस को लिखकर भेजा।

उस बातचीत में सरकार के सुधार कार्यालय की अनुपयोगिता की बात उभरी और श्री मेनन से ''हिज एक्सलेंसी प्रगतिशील हैं'', यह उत्तर पाकर जी.डी. ने पूछा, ''तब सरकार की ओर से समझौता चेष्टा के रास्ते में कौन-सी बाधा है ?''

इस पर श्री मेनन ने कहा, ''क्योंकि सरकार की नजर में कांग्रेस की स्थिति संदिग्ध है।''

''.... बिड़ला ने कहा कि सरकार ने इस बात को महसूस नहीं किया है कि कांग्रेस की वर्तमान कार्य-समिति उग्रवादियों की नहीं है और समझौते के लिए शायद काफी दूर तक भी जाने की इच्छुक है। लेकिन अगर कांग्रेस पर उग्रवादी हावी हो गये तो कोई समझौता होना बहुत अधिक कठिन हो जाएगा। जो प्रभाव मुझ पर पड़ा उसके अनुसार श्री बिड़ला इस फिक्र में हैं कि उग्रवादियों का सामना करने के लिए कांग्रेस को पुनर्संगठित किया जाए।''[144]

श्री भूलाभाई देसाई ने एक प्रस्ताव तैयार किया। उन्हें यह विश्वास था कि उस प्रस्ताव के लिए गांधीजी एवं श्री जिन्ना का उन्हें समर्थन मिलेगा। 26 जनवरी, 1945 को इस संबंध में श्री घनश्यामदास बिड़ला से व्यक्तिगत रूप से बातचीत करके श्री देसाई काफी संतुष्ट हुए। वह चाहते थे कि उनके प्रस्ताव के अनुसार अंतरिम सरकार बनाने के बाद ही जेल में बंद कांग्रेसियों को छोड़ा जाए, क्योंकि तब शायद वे इस सरकार को आसानी से स्वीकार कर लेंगे। श्री देसाई चाहते थे कि इस संबंध में सरकार को तुरंत कदम उठाना चाहिए, क्योंकि समय निकला जा रहा है।

144. द ट्रांसफर आफ पावर, 1947-7, भाग 5, पृष्ठ 475, प्रलेख 234

श्री देसाई के प्रस्ताव से मिलती-जुलती कुछ बातें लार्ड वेवेल ने हिज मेजेस्टी सरकार के सम्मुख कुछ माह पहले से ही रख दी थीं। लार्ड वेवेल समय-समय पर तार द्वारा भारत की राजनीतिक गतिविधियों का विवरण ब्रिटेन भेजते रहते थे। 'ब्रिटिश वार कैबिनेट' में उनके तारों पर विचार-विमर्श होता था। "भारत के राज्य सचिव ने कहा कि तार यह स्पष्ट करते हैं कि बिड़ला का हाथ इस प्रस्ताव के पीछे था और यह कि श्री देसाई कांग्रेस समिति को पीछे कर देने को इच्छुक हैं।''' श्री देसाई के पीछे कितने अधिकारी हैं, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ, पर यह स्पष्ट है कि श्री बिड़ला श्री देसाई से संबद्ध थे, लेकिन यह भी साफ था कि श्री बिड़ला उनकी योजना के जोखिम का सामना करने को तैयार भी नहीं थे। उस योजना में कार्य-समिति और वर्तमान कांग्रेस बंदी जिनसे उन्हें इसका कड़ा विरोध करने की आशा थी, छोड़ने की बात सम्मिलित थी।[145]

श्री बिड़ला चाहते थे कि ब्रिटिश एवं कांग्रेस के बीच राजनीतिक समझौता वार्ता में आया गतिरोध तुरंत समाप्त हो। इस संदर्भ में 24 मई, 1945 को वह लंदन में लार्ड वेवेल से मिले। उन्होंने भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति पर विचार-विमर्श किया। गांधीजी ब्रिटिश विरोधी नहीं हैं, इसके उन्होंने कुछ प्रमाण दिए। श्री बिड़ला भारत में एक ऐसी सरकार चाहते थे, जो भारत की आर्थिक समस्याओं के प्रति अपने को समर्पित कर दे। उन्होंने कहा कि "ऐसी सरकार एक सर्वदलीय सरकार होनी चाहिए। उसमें व्यक्ति अपनी राजनीतिक पहचान एवं ईमानदारी के कारण चुने जाने चाहिए, उनका रुख बातों के प्रति होना ाहिए।"[146]

लंदन में इस दौरान लार्ड वेवेल ने संवैधानिक सुधार के लिए विचार-विमर्श किया। भारत लौटने पर उन्होंने 14 जून, 1945 को एक प्रसारण में कहा कि भारतीय राजनीतिक नेता उनके पास आकर विचार-विमर्श करें ताकि एक नयी कार्यकारिणी परिषद् बनाई जा सके, जिसमें कि हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी। इस परिषद् में वाइसराय एवं कमांडर-इन-चीफ के अलावा सभी भारतीय थे और पहली बार गृह, वित्त एवं विदेश मंत्रालय भारतीयों के हाथ में आये थे।

145. द ट्रांसफर आफ पावर, 1944-7, भाग-5, पृष्ठ 483, प्रलेख-238
146. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग-5, पृष्ठ 1060, प्रलेख-462

कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों को जेल से रिहा करने के आदेश जारी हुए। इस तरह भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता का यह पहला प्रयास था। इससे शिमला सम्मेलन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

शिमला सम्मेलन सफल नहीं हुआ। लेकिन इसकी सफलता के लिए श्री बिड़ला ने काफी प्रयत्न किए, भले ही वह उन दिनों लंदन में थे। उन्होंने 22 जून, 1945 को भारत में सर डी मोंटीथ से शिमला सम्मेलन के भविष्य के बारे में लम्बी बातचीत की। सर डी. मोंटीथ ने सर जेकिंस को लिखा :

"जैसा कि आप जानते हैं श्री बिड़ला ने श्री देवदास गांधी से गुप्त पत्रव्यवहार किया है और कांग्रेस प्रस्ताव को न ठुकराए यह सुनिश्चित करने के लिए तार द्वारा दबाव डाला है।...

... श्री बिड़ला को आशंका है कि परिषद् में हिन्दुओं और मुसलमानों की बराबर संख्या के आग्रह पर गांधीजी के विरोध से कहीं सम्मेलन भंग न हो जाए।... श्री बिड़ला लगातार इस बात पर बल देते रहे कि शिमला में कोई बाधा न आये। वह किसी प्रकार से ऐसी युक्ति की फिराख में थे, जिससे वहाँ कांग्रेस अपने धर्मनिरपेक्ष चरित्र को उभार सके।"[147]

एक संदेश में लार्ड वेवेल ने लिखा :

"... अभी तक इसमें कोई शक नहीं है कि हिन्दुओं की ओर से कांग्रेस और हिन्दू पूँजीपति, केन्द्र एवं प्रदेश के आम चुनावों में अधिकतर सीट ले जाएँगे।... इस समय कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग भारत के महत्वपूर्ण दल हैं अब इनकी और उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[148]

अगस्त, 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ। इधर ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार बनी। यह लार्ड वेवेल के लिए सूचक था कि नयी सरकार क्रिप्स के प्रस्ताव पर दोबारा पहुँचेगी। लार्ड वेवेल का कहना था कि अब क्रिप्स का प्रस्ताव दलों को स्वीकार नहीं होगा। दूसरी ओर क्रिप्स का कहना था कि उन्हें श्री

147. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग-5, पृष्ठ 1147, प्रलेख-532
148. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग-6, पृष्ठ 1200, प्रलेख-63

घनश्यामदास बिड़ला एवं अन्य महत्वपूर्ण लोगों ने बताया है कि हिन्दू उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेंगे, हिन्दू किसी संवैधानिक सभा की स्थापना का स्वागत करेंगे और अपनी भूमिका बखूबी निभाएँगे।

"युद्ध का अंत होने पर 1945 में भारतवर्ष को अशांत समय में से होकर गुजरना पड़ा था, किन्तु अगस्त में जब इंगलैंड में मजदूर दलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई तो दृश्य इतना बदल गया कि उन दिनों के घटना-चक्र वेवेल-योजना, शिमला-सम्मेलन और अन्य उत्तेजनाओं का जिक्र करना बेसूद-सा होगा। श्री जिन्ना के बारे में बहुत से लोगों ने यह समझने की भूल की कि वह झांसा-पट्टी देने वाले व्यक्ति हैं। पर वह अखिल भारतीय एकता के मार्ग में एक दुर्लघ्य दीवार और निष्ठुर इरादों को पूरा करने के मामले में अडिग व्यक्ति सिद्ध हुए। ब्रिटेन में सरकार का जो परिवर्तन हुआ उससे भी यह रुकावट दूर नहीं हुई और शुरू-शुरू में ब्रिटेन में हुए परिवर्तन के महत्व को भारत में पूरी तरह से नहीं समझा गया। संदेह की जड़ का उखाड़ना कितना कठिन कार्य है, यह घनश्यामदास के साथ हुए पत्राचार से सिद्ध होता है।

सर् स्टेफोर्ड क्रिप्स ने उन्हें लिखा :

"आशा करता हूँ कि आपके कांग्रेसी मित्र सर्वथा नकारात्मक दृष्टिकोण न अपना कर हमारी कुछ सहायता करेंगे।

कांग्रेस की ओर से जो वक्तव्य दिये जा रहे हैं वे उन लोगों के लिए अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो रहे हैं, जो इस मामले का निपटारा करने की चेष्टा में लगे हुए हैं। इन वक्तव्यों से तो विरोधियों की दलीलें ही वजनदार होती जा रही हैं।

आपने मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए जो कुछ किया है, और जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिए मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ। ब्रिटिश सरकार का निश्चय ही इस मामले में आगे बढ़ने का इरादा है, पर भारत की मदद के बिना हम सफल नहीं हो सकते।"

उत्तर में घनश्यामदासजी ने लिखा :

"चुनाव के समय आपको कुछ असंयत भाषण सुनने को मिलेंगे, पर उन्हें महत्व नहीं देना चाहिए। आखिर चुनाव तो चुनाव ही हैं। ब्रिटिश चुनाव हमारे

चुनाव से कुछ कम कटुतापूर्ण नहीं था। इसके अलावा अतीत की पृष्ठभूमि मौजूद है ही। साथ ही इंगलैंड के अंग्रेजों की मनोदशा की यहाँ के अंग्रेजों की मनोदशा के अंतर की बात भी नहीं भूलनी चाहिए। इसके ऊपर इधर इन्दोनेशिया के उपद्रव को लेकर जनता का मन काफी उद्वेलित हो रहा है, सो यह भी दुर्भाग्य की ही बात है। मैं आशा करता हूँ कि ब्रिटिश सरकार इस प्रश्न को हल करने में भी सहायक कदम उठाएगी। लोकतंत्र और स्वशासन इन्दोनेशिया के लोगों के लिए अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कम जरूरी नहीं है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि इस आकांक्षा के प्रति आपकी पूरी सहानुभूति है। इन सम्बन्धित प्रश्नों के हल का तमाम एशियाई राष्ट्रों पर गहरा प्रभाव पड़ेगा।

मुझे भविष्य निश्चितरूप से उज्ज्वल और मित्रतापूर्ण नजर आता है। बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि दोनों पक्ष कैसा आचरण करते हैं, और यह भी सही दृष्टिकोण और व्यक्तिगत सम्पर्क पर ही निर्भर है।

इस समय व्यक्तिगत सम्पर्कों में वृद्धि हो तो बड़ी बात हो, क्योंकि आगामी छह महीने दोनों देशों के पारस्परिक संबंधों के लिए बड़े ही महत्व के महीने सिद्ध होंगे। मैं यहाँ अपने कुछ मित्रों को यह सुझाव दे चुका हूँ। पर वे सब इस समय चुनावों में बेतरह व्यस्त दिखाई देते हैं। यदि आपके पक्ष के कुछ लोग व्यक्तिगत हैसियत से भारत की यात्रा करें तो कितनी अच्छी बात हो।

जो भी हो, स्थिति को सरल बनाने की दोनों ओर से भरसक कोशिश होनी चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भगवान के आशीर्वाद से दोनों देशों के बीच स्थायी मित्रता के संबंध स्थापित हो सकेंगे। इससे सारी दुनिया का भी मंगल होगा।''

इस समय श्री आर्थर हेण्डर्सन के साथ घनश्यामदासजी का काफी पत्र-व्यवहार हुआ। यथासमय मंत्रिमंडल मिशन, जिसमें लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स और श्री एलेक्जेंडर थे, यहाँ पहुँचा। सर स्टेफोर्ड क्रिप्स और पैथिक लारेंस भारत के जाने-बूझे मित्र थे और औसत दर्जे के समझदार आदमी ने यह जरूर समझ लिया होगा कि ब्रिटिश सरकार ने युद्धकाल में लड़ाई बंद होते ही और शांति-संधि पर हस्ताक्षर होने की प्रतीक्षा किए बिना ही भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने का जो वादा किया था, पूरा करने का उसका पूरा-पूरा इरादा है। पर विधि का विधान

किसी तरह की दया-ममता दिखाए बिना हमें विभाजन की ओर खींचे लिए जा रहा था। कांग्रेस यह मानने के लिए तैयार न थी कि मंत्रिमंडल मिशन की योजना का एकमात्र उद्देश्य देश को विभाजन से बचाना है। उसने तो इस योजना को फूट डालकर शासन करने की नीति का सबसे ताजा प्रदर्शन समझा। उसका लालन-पालन ही इस धारणा के वातावरण में हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि कभी भारत-स्थित अंग्रेजों ने इस नीति का अनुसरण किया था, पर यह नीति वेस्टमिनिस्टर को कभी नहीं रुची। खैर, मंत्रिमंडल मिशन की योजना को रद्द कर दिया गया। कांग्रेस का कहना यह था कि वह इस योजना को उसी दशा में स्वीकार कर सकती है, जब उसकी अपनी ही व्याख्या करने की छूट रहे। यह व्याख्या ऐसी थी कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एटली ने साफ-साफ कह दिया था कि वह सही नहीं है, क्योंकि योजना के प्रस्तावकों की व्याख्या वैसी नहीं है और उसके बारे में वही ज्यादा जान सकते हैं। राजाजी ने सदा की भाँति इस अवसर पर भी अपने दिमाग को ठंडा रखा। उन्होंने घनश्यामदासजी को लिखा :

"प्रिय घनश्यामदासजी,

मैंने कार्य-समिति का प्रस्ताव आज प्रातःकाल पत्रों में पढ़ा। मुझे जिसकी आशंका थी, वही हुआ। यह रुपये में सोलह आने की माँग है और पुरानी कहानी की पुनरावृत्ति-मात्र है।

आप कोई खुशखबरी दे सकें तो बात दूसरी है।"[149]

लंदन से वापस लौटने के बाद लार्ड वेवेल ने 19 सितम्बर, 1945 को एक घोषणा प्रसारित की, जिसमें बताया कि हिज मेजेस्टीज गवर्नमेंट भारत में भारतीयों की पूरी तरह अपनी सरकार बनाने के लिए कृतसंकल्प है। भारत एवं ब्रिटेन के बीच समझौते के संदर्भों पर विचार कर रही है। सर्दियों में केन्द्र एवं प्रदेशों में चुनाव होंगे आदि।

नवम्बर, 1945 तक स्थिति अत्यधिक बिगड़ गयी थी। श्री जिन्ना अलग सत्ता के रूप में पाकिस्तान बनाने के लिए कृतसंकल्प थे। दूसरी तरफ कांग्रेस के नेताओं

149. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 433-435

के भाषणों में भी बहुत उत्तेजना होती थी। ऐसे समय में श्री घनश्यामदास बिड़ला ने अपने प्रभाव से उग्रवादी गतिविधियों को हतोत्साहित किया।

बीस नवम्बर, 1945 को लार्ड वेवेल ने लार्ड पैथिक लारेंस को एक पत्र लिखा, जिसमें निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं — "मेरे पास प्रमाण है कि श्री जी.डी. बिड़ला ने कांग्रेस के भाषणों की हिंसा के प्रति सतर्क किया है और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' जिसके वह मालिक हैं, के सम्पादक को पत्र में उत्तेजना कम करने को कहा है।"[150]

छह दिसम्बर, 1945 को श्री बिड़ला द्वारा संसद सदस्य मेजर हेंडरसन को लिखे गये पत्र की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

"···· आज सुबह मैंने राज्य सचिव द्वारा की गयी घोषणा पढ़ी। मैंने ऐसी मनोवृत्ति बना ली है कि तुम्हारी सभी बातों में मैं अच्छाई देखता हूँ।··· यह खेदजनक स्थिति है कि जब हम अपने लक्ष्य के बहुत पास पहुँच गये हैं, आपसी विश्वास की कमी होती जा रही है।"

"···· लेकिन हम बारूद के ढेर पर बैठे हैं। दि इंडियन नेशनल आर्मी पर मुकदमे, इंदोनेशिया की अशांति, बिना मुकदमा चलाये हजारों युवकों को हिरासत में रखना, ये सब वर्तमान स्थिति के तनाव को और बढ़ाती हैं। एक-एक करके रास्ते से इन्हें हटाना होगा। लेकिन जैसा मैंने पहले कहा है कि मैं लगातार एक आशावादी विचार लिए हुए हूँ।"

इस पत्र में हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान की सीमा संबंधी प्रश्न, सीमा क्षेत्रों को किस देश में मिलने के प्रश्न पर श्री घनश्यामदास बिड़ला ने कई बातों का उल्लेख किया और समाधान की प्रक्रिया के संबंध में अपने विचार व्यक्त करने के बाद कहा कि संविधान बनाना शुरू करने से पहले कुछ ऐसे सिद्धांत निर्धारित कर लिए जाने चाहिए।

पत्र के अंत में उन्होंने लिखा कि "हमको धैर्य, सहानुभूति और चतुरता से कड़ी मेहनत करनी है। पंडित जवाहरलाल नेहरू सहित कोई भी नेता चाहे कितना ही

150. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 6, पृष्ठ 509, प्रलेख 219

उत्तेजित भाषण दे, कोई भी संकट या हिंसा नहीं चाहता। हर कोई एक समाधान के लिए उत्सुक है।''[151]

स्वतंत्र भारत के नये संविधान बनाने में अपनाए जाने वाले सिद्धांत एवं प्रक्रिया पर भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श के लिए 24 मार्च, 1946 को एक कैबिनेट मिशन भारत आया, जिसके सदस्य थे — लार्ड पैथिक लारेंस, भारत के राज्य सचिव, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स, व्यापार बोर्ड क अध्यक्ष, श्री ए.वी. अलेक्जेंडर, एडमायरलटी के प्रथम लार्ड। इसके साथ ही इस पर भी ध्यान रखा कि वाइसराय मिशन के विचार-विमर्श से कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच नयी अंतरिम सरकार के निर्माण पर समझौते के नये द्वार खुलें। अंतरिम सरकार में वाइसराय के अलावा कोई भी ब्रिटिश नहीं होगा और उसी के शासनकाल में संविधान तैयार किया जाएगा।

घनश्यामदासजी की यह बद्धमूल धारणा थी कि विभाजन होकर रहेगा। साथ ही वह यह भी समझते थे कि हमारी कठिनाइयों से निस्तार पाने का यह एक अच्छा-खासा तरीका है।

वह सर स्टेफोर्ड के स्वास्थ्य के बारे में खासतौर पर चिंतित थे, क्योंकि ये दिन बेहद गर्मियों के थे और उन्हें ऐसी आबहवा में रहने का अभ्यास नहीं था। वह इतने श्रांत दिखाई देते थे कि जब जी.डी. ने इसका जिक्र गांधीजी से किया तो वह बोले, ''सर स्टेफोर्ड से कहो कि मैं बिना फीस उनकी डाक्टरी कर सकता हूँ।'' बापू को दूसरों की चिकित्सा करने में बड़ा आनंद आता था और उन्होंने अपने लिए भी खान-पान के संबंध में कड़े नियम बना रखे थे। अतएव जी.डी. ने सर स्टेफोर्ड को खाने-पीने की सूचनाओं से भरा एक पत्र भेजा और साथ ही कुछ फल और सब्जियाँ भी। पत्र के उत्तर में 6 अप्रैल, 1946 को सर स्टेफोर्ड ने लिखा :

''गांधीजी ने मेरी चिकित्सा का भार लेने की जो बात कही, उसका मेरे दिल पर खासतौर से असर हुआ। मैं उनके प्रस्ताव को गंभीर भाव से ग्रहण करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि उनके विचार उस महिला (बीट्रिस ब्रेट) के विचारों-जैसे हैं, जो इंगलैंड में मेरे स्वास्थ्य की देखभाल करती है। यदि मुझे किसी चिकित्सक की दरकार हुई तो गांधीजी से अवश्य अनुरोध करूँगा।

151. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग-6, पृष्ठ 663, प्रलेख-299.

आपने प्रोटीनों की जो चर्चा की है, सो आपके कहने के बाद से ही मैंने छाछ की व्यवस्था कर ली है। मैंने पहले इस ओर ध्यान नहीं दिया था, पर मुझे इस रूप में दूध सचमुच अच्छा लगता है और यह मेरे स्वास्थ्य के लिए भी हितकर है। इस प्रकार आपकी सलाह मेरे लिए बड़ी ही लाभदायक सिद्ध हुई है।''[152]

भारत में कैबिनेट मिशन के विचार-विमर्श में श्री घनश्यामदासजी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने 6 जून, 1946 को लार्ड पैथिक लारेंस के निजी सचिव श्री एफ.एस. टर्नबुल को भोजन पर आमंत्रित किया और अंतरिम सरकार की संभावना पर काफी देर तक चर्चा की। उन्होंने बताया कि वह महसूस करते हैं कि कांग्रेस जिन्ना की इस बात को नहीं स्वीकार करेगी कि अंतरिम कार्यकारिणी में मुस्लिम लीग को बराबर सीटें दी जाएँ। जी.डी. ने बताया कि कार्यकारिणी बनाने के दो ही स्वीकार्य मार्ग हैं। एक, मुसलमानों का उसमें लगभग वही अनुपात हो जो उनका केन्द्रीय कार्यकारिणी में था, यानी सीटों का लगभग 33 प्रतिशत रखा जाए। दूसरा, अंतरिम सरकार प्रादेशिक सरकार पर आधारित हो।[153]

राजनीतिक स्थिति पर पर्याप्त बातचीत होने के बाद आर्थिक मामलों पर विचार-विमर्श होने लगा तो जी.डी. ने एक उद्योगपति के नजरिए से दो-टूक जवाब दिया कि जब तक राजनीतिक समस्या हल नहीं होती, तब तक सब कुछ अनिश्चित है।

कैबिनेट मिशन कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग को स्वीकार्य कोई संतोषजनक हल प्रदान कर पाने में असफल रही। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग उग्र रूप लेने लगी। शुक्रवार 16 अगस्त, 1946 को सुबह कलकत्ता और देश के अन्य कई स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। कलकत्ते में मुस्लिम लीग की सरकार थी। वहाँ तीन दिन तक हिंसा, हत्या, लूट एवं आगजनी का नंगा नाच होता रहा। लगभग 6000 लोग मारे गये और लगभग इतने ही घायल हुए। रास्ते वस्तुतः शवों के कचराघर बन गये थे, जहाँ से शव छह दिनों तक भी नहीं हटाए गये थे।

152. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 435-436.
153. वाइसराय के निजी सचिव श्री जी.ई. अबल को राज्य सचिव के निजी सचिव श्री ए.एफ.एस. टर्नबुल का पत्र

श्री घनश्यामदास बिड़ला ने इस नर संहार का चित्र खींचते हुए 22 अगस्त, 1946 को अपने पत्र में मेजर हैंडर्सन को लिखा, ''मैंने 1926 के दंगे देखे, जो बहुत भयंकर थे। लेकिन कलकत्ता में हुए इन दंगों के समान दंगे भारत के इतिहास में कभी नहीं हुए।''[154]

इतना ही नहीं, श्री बिड़ला ने प्रमाणों सहित यह सूचना दी कि इन दंगों के पीछे बंगाल की मुस्लिम लीग का हाथ है। एक बार कैबिनेट मिशन के सर स्टेफोर्ड के पूछने पर घनश्यामदासजी ने दृढ़ शब्दों में कहा था कि भारत में गृहयुद्ध की कोई संभावना नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं दंगे भले ही हो सकते हैं। साथ ही साथ उन्होंने यह भी बताया कि मुस्लिम प्रदेश होने के बावजूद पंजाब में कोई खतरा नहीं है, लेकिन बंगाल, विशेषकर कलकत्ता में दंगे होने की संभावना इसलिए है, क्योंकि यहाँ लीग की सरकार है और जब लीग चाहेगी तो यहाँ दंगे होंगे।

श्री घनश्यामदासजी की बात सोलह आने सही निकली। शुक्रवार सुबह से लेकर शनिवार दोपहर बाद तक लूटपाट, आगजनी, हत्याएँ होती रहीं। दोपहर बाद जब गवर्नर ने कमान सँभाली और सेना को बुलाया तो हिंसा का नंगा नाच थमा।

''अगर गवर्नर को दोषी करार दिया जाए तो उसकी गलती सिर्फ यह थी कि प्रारंभ में उन्होंने कानून एवं व्यवस्था का कार्य खुद सँभालने के बदले लीग सरकार पर भरोसा किया। सिंध में 16 तारीख को 'सीधी कार्रवाई' का दिन घोषित करके आम छुट्टी घोषित की गयी थी, लेकिन वहाँ गवर्नर ने उसे रद्द करके स्थिति को संभाल लिया। ··· पुलिस पूरी तरह से विफल हो गयी है — कुछ अपनी कमजोरी से और कुछ लीग सरकार की वजह से।''[155]

सभी समुदाय के लोगों ने आम राय से दंगों की भर्त्सना की। वे बंगाल सरकार से बहुत खफा थे और बंगाल में अच्छी सरकार के अभाव में अपने को असुरक्षित महसूस कर रहे थे। व्यवसाय ठप्प हो रहें थे और संत्रस्त लोग कलकत्ता से पलायन कर रहे थे।

ऐसे में संयुक्त सरकार के बनने से लोगों के राहत की सांस लेने की संभावना

154. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 8, पृष्ठ 297, प्रलेख 189
155. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 8, पृष्ठ 279, प्रलेख 189

थी। घनश्यामदासजी ने तब देखा, "इस ओर लीग और कांग्रेस के बीच समझौता होने की कोई संभावना नहीं है। कांग्रेस और मुसलमानों के बीच समझौता होने का अवसर है।" उन्हें डर लगता था कि अगर संयुक्त सरकार में लीग ने भाग नहीं लिया तो बहुत से उसके मुसलमान सदस्य लीग छोड़ देंगे।

कोई राजनीतिक हल न होने पर अंत में वाइसराय ने घोषणा की कि वह अंतरिम सरकार बनाने जा रहे हैं। अंतरिम सरकार में लीग ने हिस्सा लेना स्वीकार नहीं किया। उनतीस अगस्त, 1946 के अपने पत्र में जी.डी. ने सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को लिखा, "··· जब मैंने यह घोषणा सुनी तो महसूस किया कि कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच अगर कुछ मेल था, उसे यह और मुश्किल बनाएगी। ··· मुझे यकीन है कि कुछ ही महीनों में लीग से उचित समझौता संभव हो जाएगा, अगर वाइसराय कांग्रेस को स्थिति से निपटने की अनुमति दें। ··· कांग्रेस लीग का सहयोग लेने के लिए उत्सुक है और मुझे विश्वास है कि वह इस ओर पूरी ईमानदारी से प्रयास करेगी। लेकिन जब तक जिन्ना यह महसूस करते रहेंगे कि उन्हें वाइसराय के माध्यम से विशेषाधिकार मिल रहा है, तब तक वह अपनी कट्टरता को नहीं छोड़ेंगे। ··· लेकिन वाइसराय द्वारा अपनाई जाने वाली प्रस्तावित पद्धति लीग और कांग्रेस दोनों के लिए नुकसानदेह है। वाइसराय को या तो अपनी सरकार पर विश्वास करना है और उसे अपनी सहायता देनी है या उसे रद्द करना है। उनकी यह अस्थिर नीति भारत के लिए अत्यधिक अनर्थकारी होगी।"[156]

मंत्रिमंडल मिशन इंगलैंड लौट गया। उसे अधिक सफलता नहीं मिली, जिसे दीर्घकालीन योजना कहा जाता है उसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, इसलिए कांग्रेस को सरकार बनाने को कहा गया। इस पर श्री जिन्ना बिगड़ गये। ऐसा लगने लगा कि उन्होंने अपनी पार्टी की ओर से योजना के दोनों अंगों को अर्थात् अल्पकालीन और दीर्घकालीन अंगों को—अंगीकार करके कांग्रेस को मात दे दी है। उन्होंने लार्ड वेवेल को धिक्कारा और उन पर विश्वासघात का आरोप लगाया। प्रारंभ में तो वह अंतरिम सरकार की रचना में किसी प्रकार का सहयोग देने से बराबर इनकार करते रहे, पर अंत में उन्होंने स्वयं अलग रहते हुए अपनी पार्टी के प्रतिनिधियों को उसमें भाग लेने की अनुमति दे दी। यह जाहिर था कि उन्होंने

156. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग 8, पृष्ठ 344, प्रलेख 346

अंतरिम सरकार में अपने प्रतिनिधियों को मेलजोल की भावना से नहीं, बल्कि उस उद्देश्य से भेजा था कि वे चौकसी रखें और यह देखें कि उनके दावे अनसुने खारिज न हो जाएँ। इस कारण आरंभ से ही अंतरिम मंत्रिमंडल एक सुखी परिवार सिद्ध नहीं हुआ। वह तो दो झगड़ने वाले तत्वों का अखाड़ा बन गया। तेल और पानी की तरह उनके भी मिलने की संभावना नहीं थी।

इसके बाद कलकत्ते में जो भयंकर नर-संहार हुआ, वह अन्यत्र की निष्ठुरता का प्रतिबिम्ब मात्र था। राजनीतिज्ञों की योजनाओं में हजारों निर्दोष नर-नारियों के जीवन का मानो कोई मूल्य ही न हो। जी.डी. ने अक्तूबर में सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को लिखा :

"लीग अंतरिम सरकार में विरोधी मानस के साथ शामिल हो रही है। जिन्ना ने जवाहरलालजी की शर्तों को तो अस्वीकार कर दिया, पर जब वही शर्तें उनके सामने वाइसराय ने रखीं तो उन्हें झट स्वीकार कर लिया। यह भावी मेल-मिलाप के लिए शुभ चिह्न नहीं हैं।

पर, हमारी सरकार को तो राजनीति की अपेक्षा जनता की गरीबी की ओर अधिक गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए। किंतु सरकार आर्थिक मामलों को हाथ में नहीं ले पा रही है। वह तो राजनीति में व्यस्त है और आज की राजनीति का एकमात्र अर्थ है जिन्ना।"

उन आड़े दिनों में बापू और श्री नेहरू ने बंगाल और बिहार में बड़े शौर्य का परिचय दिया। वहाँ दोनों जातियाँ एक-दूसरे से बदला लेने में लगी हुई थीं। सर स्टेफोर्ड ने 18 नवम्बर, 1946 को जी.डी. को लिखा :

"मेरे ख्याल में शांति स्थापना के कार्य में गांधीजी का योग बहुत ही उल्लेखनीय रहा है और उन्होंने जो कुछ किया है, उसके लिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ।"

इस संदर्भ में घनश्यामदासजी के नाम 26 नवम्बर, 1946 का बापू का यह लम्बा पत्र ऐतिहासिक है :

चि. घनश्यामदास,

तुम्हें पता है कि मैं श्रीरामपुर में एकाकी रहता हूँ। साथ में प्रो. निर्मलचंद और

परसराम हैं। यहाँ घरवाले सज्जन हैं। एक ही हिन्दू कुटुम्ब इस देहात में है, बाकी सब मुसलमान हैं। सब दूर-दूर रहते हैं। यहाँ सैकड़ों देहात ऐसे हैं, जो पानी सूखने के बाद एक-दूसरे से वाहन संबंध कम रखते हैं। नतीजा यह है कि पैदल काम हो सकता है, इसलिए वो भी बदमाश लोग या शरीर से सशक्त साधु लोग ही एक-दूसरों के साथ व्यवहार कर सकते हैं। ऐसे एक देहात में मैं पड़ा हूँ और यहाँ से जो ऐसे देहात में दिन व्यतीत करूँगा। जब तक यहाँ के हिन्दू-मुसलमान हार्दिक मैत्री से नहीं रहते तब तक तो यहीं रहने का इरादा है। भगवान ही मन स्थिर रख सकता है। आज तो दिल्ली छूटा, सेवाग्राम छूटा, उरूली, पंचगली छूटा। इच्छा यहाँ मरना या करना है। इसमें मेरी अहिंसा की परीक्षा है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए आया हूँ। मुझे मिलना चाहिए तो यहाँ आ सकते हैं तो आना होगा। मैं आवश्यकता महसूस नहीं करता हूँ। किसी को पूछने के लिए भेजना है या हाथ से डाक भेजना है तो भेजो।

कंस्टीट्यूएट असेम्बली में मैं नहीं जाऊँगा। आवश्यकता भी कम है। जवाहरलाल, सरदार, राजेन्द्र बाबू, राजाजी, मौलाना सब जा सकते हैं, या पाँचों या कृपलानी। उन सबको पैगाम भेजो। यदि मिलिटरी की मदद से ही कंस्टीट्यूएट असेम्बली बैठ सकती है, तो नहीं बैठाना अच्छा होगा। शांति से बैठ सके तो जितने सूबे शरीक होवें, उनके ही लिए कानून बन सकते हैं। मिलिटरी पुलिस का भविष्य में क्या होगा, सो देखना होगा। मुस्लिम सूबे क्या करेंगे ? जिन सूबों में मुस्लिम संख्या कम है, वहाँ क्या करेंगे, यह सब देखना होगा। मेरा ख्याल है कि तब 16 अप्रैल का स्टेट पेपर बदलना होगा। काम मेरी निगाह में पेचीदा है, अगर हम सब काम स्वतंत्र रूप से करना चाहें तो। मैंने तो मेरे ख्यालों का दिग्दर्शन करवाया है।

यह भी मित्रवर्ग समझ लें कि यहाँ जो मैं कर रहा हूँ, वह कांग्रेस के नाम से मन में भी नहीं है, निजी अहिंसा दृष्टि से है। मेरे कार्य का विरोध हर कोई आदमी जाहिर में भी कर सकता है। उसका अधिकार है। धर्म भी हो सकता है। इसलिए जो कुछ किसी को कहना, करना है, निडर रूप से कहा जाए, किया जाए। मुझे किसी बात में सावधान करना है तो किया जाए।

इसकी नकल सरदार को भेजो और उपरोक्त और अन्य मित्रों को बतावें या इतनी करवा कर उन-उन मित्रों को भेजो।

तुम्हारे कहना है सो कहो।

मुझको लिखना पड़े, तो सो सीधा लिखो।''

इस दुःखद काल में जी.डी. ने एक लम्बा पत्र सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को लिखा — इतना लम्बा कि उसे पूरा उद्धृत करना संभव नहीं है। जी.डी. ने स्थिति का बहुत ही विषादपूर्ण चित्र खींचा :

''कांग्रेस के अंतरिम सरकार में जाने के बाद, वाइसराय ने, जिनके सलाहकार श्री एवेल हैं, लीग के साथ किसी समझौते पर पहुँचने के लिए हमको एक क्षण का भी अवकाश नहीं दिया। अपनी चालों से वह मुस्लिम लीग की जिद का पोषण करते रहे। जिन्ना एक सिरे से सबको गालियाँ देते रहे। 'डान' अखबार उग्र लेख लिखता रहा और वाइसराय जिन्ना के आगे सिर झुकाते रहे।

इसके बाद लीग अंतरिम सरकार में शामिल हुई। हमने संतोष की साँस ली और समझा कि अब संविधान सभा में लीग का सहयोग मिल जाएगा। हमें बताया गया कि जिन्ना से ऐसा आश्वासन ले लिया गया है। पर वास्तव में ऐसा कुछ नहीं किया गया था। ठीक मौके पर लीग ने अपना पंजा दिखाया और संविधान सभा में आने से इनकार कर दिया। वाइसराय ने स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लिया।

लीग के सरकार में शामिल होने के तुरंत बाद स्थिति कुछ जमती हुई नजर आयी। दंगों ने शायद सभी को यह सबक सिखाया कि हिंसा से कुछ मिलने वाला नहीं। जैसा कि आपको मालूम ही है, दंगों की शुरुआत कलकत्ते में हुई। मुसलमानों ने 'प्रत्यक्ष कार्रवाई' के दिन आक्रमण किया और हिन्दुओं ने जवाब दिया। मुसलमानों को हिन्दुओं से अधिक क्षति उठानी पड़ी। वे तड़प गये और उन्होंने कलकत्ते का बदला निकालने की योजना बनाई। अब नोआखाली-काण्ड हुआ। लोगों को भारी संख्या में धर्मच्युत किया गया। स्त्रियाँ भगाई गयीं और उन्हें निकाह करने को मजबूर किया गया। हिन्दू भड़क उठे। इस तरह बिहार और बिहार के बाद मेरठ के उपद्रव हुए।

जिन्ना ने आबादी की अदला-बदली का सुझाव रखा, जो कि मूर्खतापूर्ण सुझाव था। एक भी प्रमुख मुसलमान ने उनका समर्थन नहीं किया। पर उत्तर-प्रदेश, बिहार और अन्य स्थानों के लोगों को, जो लीग के सबसे बड़े स्तंभ थे, यह दिखाई

देने लगा कि पाकिस्तान कायम हो जाने के बाद भी हिन्दू क्षेत्रों में रहने वाले मुसलमानों को वहीं के वहीं रहना होगा और पाकिस्तान की स्थापना से उन्हें कोई मदद नहीं मिलेगी। उत्तर प्रदेश में लीगी समझौता करना चाहते थे और वहाँ मिला-जुला मंत्रिमंडल बनाने के इशारे भी किए गये। यदि सफल होते तो अन्य स्थानों में भी समझौते हो गये होते।

परंतु ठीक इसी मनोवैज्ञानिक अवसर पर मानो सारी योजना को उलट देने के लिए ही वाइसराय ने लंदन-यात्रा की यह योजना बनाई। जवाहरलालजी और प्रधानमंत्री के बीच तारों का जो आदान-प्रदान हुआ, उससे हमारी धारणा हुई थी कि 16 मई के दस्तावेज पर पुनर्विचार का कोई सवाल नहीं उठता है, पर अब मेरी राय में, अप्रत्यक्ष रूप से सारी बात पर पुनर्विचार होगा। बहुत सारी बातों को स्पष्ट छोड़ दिया गया है। मैंने ऊपर जो सवाल उठाये हैं, उनके बारे में जिन्ना और ब्रिटिश सरकार की वास्तविक स्थिति क्या है, सो हमें आज तक मालूम नहीं हुआ है।

मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि कांग्रेस अधिक-से-अधिक सदिच्छा से काम कर रही है। श्रीमती क्रिप्स की भाँति आप भी सरदार पटेल के भाषणों की आलोचना कर सकते हैं, पर यदि वह चुप रह जाते तो स्थिति को बहुत गलत समझा जाता और मैं आपसे सच कहता हूँ कि उन भाषणों का मुसलमानों पर बुरा असर नहीं पड़ा। उन्होंने विरोध अवश्य किया है, पर स्थिति को समझ लिया है।

पर, यदि हर मौके पर, जब कभी हम ठोस काम में जुटेंगे और वाइसराय अमले के प्रतिगामी तत्वों की सलाह पर और ब्रिटिश सरकार वाइसराय की सलाह पर सावधान सभी की प्रगति की राह में रोड़े अटकाने लगेगी तो लोग हताश हो जायेंगे और सारा ढाँचा गिर पड़ेगा और इतने परिश्रम के साथ स्थापित किया गया विश्वास नष्ट हो जायेगा। तब तो स्थिति पहले से भी अधिक गम्भीर हो जाएगी।

श्रीमती क्रिप्स ने मुझसे पूछा कि स्थिति को सुधारने के लिए आखिर क्या किया जाए ? मैंने उन्हें बताया कि निम्नलिखित बातें नितांत आवश्यक हैं :

1. अंतरिम सरकार एक टोली के रूप में काम करे। मुस्लिम लीग या तो संविधान सभा में भाग ले या अन्तरिम सरकार से अलग हो जाए। उससे यह बात साफ-साफ और दृढ़तापूर्वक कह देनी चाहिए।

2. यद्यपि मैं आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर आपत्ति नहीं करता और यह स्वीकार करता हूँ कि देश के किसी अनिच्छुक भाग पर कोई संविधान न लादा जाए, तथापि यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए, जैसा कि आपने 16 मई को राजकीय दस्तावेज में किया है, कि यदि मुसलमान शरीक नहीं होते हैं तो अंतिम उपाय यही है कि उन्हीं स्थानों में अपनी पसंद का संविधान लागू कर सकेंगे जिनमें उनका बहुमत होगा, अर्थात् सारे पंजाब और सारे बंगाल में नहीं। हमारी प्रभुत्व करने की कोई इच्छा नहीं है, पर साथ ही हम यह भी हर्गिज मंजूर नहीं करेंगे कि हमारे ऊपर उनका प्रभुत्व लादा जाए।

3. वाइसराय और अमले को अपना काम ठीक तरह से करना चाहिए। लार्ड वेवेल राजनीतिज्ञ नहीं हैं और उनके सलाहकार लीग का पक्षपात करते हैं और भारत को स्वतंत्र नहीं देखना चाहते। इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।

4. हर हालत में अमुक तारीख को सत्ता भारतीय हाथों में सौंप दी जाएगी, इसकी घोषणा होना बहुत जरूरी है। जब तक यह अनिश्चय की स्थिति बनी रहेगी, कोई समझौता संभव नहीं होगा।

मैं ब्रिटिश सरकार की कठिनाइयाँ समझता हूँ। मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि आप भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु आपको हमारी कठिनाइयों को भी तो समझना चाहिए। सदिच्छाओं के बावजूद अब तक जो कुछ होता रहा है, उससे खाई पटी नहीं है, उलटे और चौड़ी हो गयी है।

मेरा यह सोचना दुस्साहस होगा कि स्वतंत्रता की निश्चित तारीख या अवधि नियत करने के संबंध में मेरे सुझाव से प्रेरित होकर ही मजदूर सरकार ने वैसा करने का फैसला किया तथा लार्ड वेवेल को वापस बुलाकर उनकी जगह लार्ड माउंटबेटन को भेजा, पर मेरी धारणा है कि मेरे सुझाव का भी कुछ-कुछ असर पड़ा ही होगा।''

तीन दिन बाद 15 दिसम्बर, 1946 को जी.डी. ने सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को फिर लिखा :

''प्रिय सर स्टेफोर्ड,

12 तारीख को आपको पत्र लिखने के बाद, आपका पूरा भाषण भारत में

प्रकाशित हुआ। उसमें घटनाओं का ठीक-ठाक निचोड़ दिया गया है। कुल मिलाकर ब्रिटिश लोकसभा की बहस को संतोषजनक कहा जा सकता है। जब मैं देखता हूँ कि चर्चिल और जिन्ना तो आपको कोसते ही हैं, इधर हम भी आपकी आलोचना करते हैं तो आपके साथ मुझे बड़ी सहानुभूति होती है।

देखता हूँ कि मैंने अपने पिछले पत्र में जो मुद्दे उठाये थे, उनमें से एक का आपने अपने भाषण में उत्तर दिया है। 6 दिसम्बर के वक्तव्य के अंतिम वाक्य का जिक्र करते हुए आपने कहा है कि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों में कोई संविधान नहीं लादा जाएगा। इस बारे में मेरा कोई झगड़ा नहीं है। यह कोई नहीं चाहता कि मुसलमानों के सहयोग के बिना निर्मित संविधान पूर्वी बंगाल या पश्चिमी पंजाब या अन्य मुस्लिम क्षेत्रों पर लादा जाए। पर क्या सचमुच आपका यह विश्वास है कि जिन्ना सहयोग करेंगे ?

मुझे तो पूरा संदेह है कि जिन्ना अन्त में संविधान सभा में भाग लेने आ जायेंगे और वह ऐसा करेंगे भी तो सिर्फ पाकिस्तान की लड़ाई लड़ने के लिए। इसलिए मुझे तो उनके और हमारे बीच कोई समान आधार दिखाई नहीं देता है। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि कांग्रेस युक्तिसंगत रुख अख्तियार करेगी और उनके सहयोग का स्वागत करेगी।

मेरा अपना विचार तो यह है कि लीग के अन्य सदस्य उतनी कठिनाई पैदा नहीं करते हैं। बात उन्हीं तक सीमित हो तो वे युक्तिसंगत रुख अपना सकते हैं, पर जिन्ना कभी सहयोग करेंगे, ऐसी मेरी धारणा नहीं है। यथार्थवादियों को इस स्थिति का सामना करना ही होगा।''

इधर बापू और सब समस्याओं को एक ओर रखकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए साहसपूर्वक सचेष्ट थे, पर उन्हें सफलता यदा-कदा ही मिल जाती थी। वह तब भी पूर्वी बंगाल के दलदल में फँसे पड़े थे। सरदार पटेल समेत उनके सभी मित्र पूर्वी बंगाल में उनके लम्बे समय तक फँसे रहने की बुद्धिमत्ता को कुछ संदेह की दृष्टि से देखने लगे थे। बापू के इस प्रवास के फलस्वरूप उनके एकनिष्ठ सहकारियों पर भी असाधारण बोझ पड़ रहा था। उन्हें बड़ी तकलीफ में दिन गुजारने पड़ते थे। बापू के एक साथी ने उन स्थानों की तुलना चूहों के बिलों से की थी।[157]

157. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 436, 437, 438, 439, 440, 441 एवं 442

बारह सितम्बर, उन्नीस सौ छियालीस को नेहरूजी के नेतृत्व में अंतरिम सरकार बन गयी। अंतरिम कैबिनेट की पहली मीटिंग से पूर्व इसके सारे मंत्रिगण बिड़ला हाउस गये। वहाँ रामेश्वरदास बिड़ला की धर्मपत्नी ने सबके हाथ में नारियल देकर माथे पर तिलक लगाया।

आरंभ में मुस्लिम लीग इसमें शामिल नहीं हुई, लेकिन अक्तूबर में लियाकत अली आ गये और उन्होंने वित्त विभाग सँभाला। लियाकत अली ने इस सरकार की ओर से बजट पेश किया, वह ऐसा था कि जिससे कांग्रेस और उसके सहयोगियों, विशेषकर जो समृद्ध उद्योगपति थे, के बीच अलगाव आ जाए। घनश्यामदासजी को इन बातों की चिंता नहीं थी। उन्हें यही चिंता थी कि अन्तरिम मंत्रिमंडल एक सुखी, स्वस्थ परिवार सिद्ध नहीं हो रहा है। वह दो झगड़ने वाले तत्वों का अखाड़ा बन गया है। उन्हें अनुमान हो गया कि तेल और पानी की तरह उनके मिलने की कोई संभावना नहीं है।

28 फरवरी, 1947 को लार्ड वेवेल को पता चला कि 22 मार्च को उनके स्थान पर लार्ड माउंटबेटन भारत के वाइसराय बनने दिल्ली आ रहे हैं।

हिज मेजेस्टी गवर्नमेंट ने जून, 1948 तक उत्तरदायी भारतीयों को शक्ति हस्तांतरण करने का पक्का निश्चय कर लिया था। अगर उस तारीख तक कैबिनेट मिशन की योजना के अनुरूप पूरे प्रतिनिधित्व वाली संवैधानिक सभा के द्वारा तैयार किए गये नये संविधान के तहत कोई प्राधिकरण स्थापित नहीं होता, तो हिज मेजेस्टी गवर्नमेंट विचार करेगी कि किसे केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ दी जाएँ। ये शक्तियाँ भारतीयों के हित में केन्द्रीय सरकार जैसी संस्था को या कुछ क्षेत्रों को प्रादेशिक सरकारों या ऐसी ही अन्य उचित लगने वाली किसी संस्था को दी जाएँ। भारतीय राज्यों के बारे में कैबिनेट मिशन का यह कथन दोहराया गया कि परम सत्ता के अंतर्गत हिज मेजेस्टी गवर्नमेंट की शक्तियाँ एवं दायित्व ब्रिटिश भारत की किसी सरकार को नहीं सौंपे जाएँगे।

मुस्लिम लीग के अंतरिम सरकार में आने के बावजूद श्री जिन्ना पाकिस्तान लेने की बात पर डटे रहे। जी.डी. ने 16 दिसम्बर, 1946 को निम्नलिखित पत्र श्री ए.वी. अलेक्जेंडर को लिखा जो उन्होंने 23 दिसम्बर को अपनी टिप्पणी सहित लार्ड पेथिक लारेंस को भिजवा दिया।

"···· मुझे डर है, जिन्ना सहयोग नहीं कर रहे हैं। हाउस ऑफ कामंस में अभिभाषण के बाद अमरीका के प्रसारण एवं पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने पाकिस्तान पर स्पष्टतः बल दिया। ··· उनका सहयोग लेने के लिए हम सचमुच उत्सुक हैं। लेकिन इसी समय मुझे डर लगता है कि हम किसी बँटवारे की ओर झुकते जा रहे हैं। मेरे डर की पुष्टि हिज मेजेस्टी गवर्नमेंट का यह कथन भी करता है कि देश के किसी अनिच्छुक भाग पर कोई संविधान थोपा नहीं जाएगा। इसका मतलब हुआ कि जिन्ना के सहयोग के बिना संविधान सभा संविधान बना सकती है, जो पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब और मुस्लिम बहुमत क्षेत्र में लागू नहीं होगा। इस कथन की सहायता से जिन्ना बँटवारे पर बल दे सकते हैं। फिर भी हम विश्वास एवं आशा से कार्य कर रहे हैं। ··· लेकिन इतने बड़े देश में जब शक्ति का हस्तांतरण होना हो, ऐसे झगड़ों की संभावना रहती ही है, भले ही वह दुखदायी हो। फिर भी इन दंगों ने सभी सही लोगों के दिमाग में यह बात बैठा दी है कि यह परस्पर मारकाट किसी भी पक्ष के लिए लाभदायक नहीं है। यह एक ऐसा खेल है, जो दोनों पक्ष खेलते हैं और अनर्थकारी परिणाम भुगतते हैं। इसलिए मैं निराशावादी विचार नहीं रखता।"[158]

तब तक माउंटबेटन भारत के गवर्नर जनरल होकर आ गये। वह भारत के दो टुकड़े, हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान की योजना अपने साथ लाए। विभाजित भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ।

घनश्यामदासजी के विचार से भारत के विभाजन का उत्तरदायित्व किसी दल पर या किसी व्यक्ति विशेष पर थोपना उचित नहीं था। परन्तु घटनाओं से और स्वातंत्र्य संग्राम से संबंधित व्यक्तियों की नीतियों एवं उपायों से कुछ परिणामों पर पहुँचा जा सकता है। जिस तरह से भारतवर्ष को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उससे सिद्ध होता है कि इतिहास कोई निश्चित विज्ञान नहीं है।

घनश्यामदासजी ने इस समूचे स्वतंत्रता संग्राम में, जिसे वह स्वराज-प्राप्ति कहते थे, कई धरातलों पर बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके शब्दों में, "मेरे अध्ययन ने ही मुझे देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील बनाने तथा

158. द ट्रांसफर आफ पावर, भाग-9, पृष्ठ 406, 407, प्रलेख 221

तत्कालीन राजनीतिक नेताओं के साथ सम्पर्क कायम करने की प्रेरणा दी थी। रूस और जापान के युद्ध ने एशियाई राष्ट्रों में उत्साह की लहरें पैदा कर दी थीं और भारत भी अपने को इससे अलग नहीं रख सका। मेरे बाल-हृदय की सहानुभूति निश्चय ही जापान के साथ थी और भारत को फिर से स्वाधीन देखने की आकांक्षा मेरे भीतर हिलोरें मारने लगी।''[159]

पर घनश्यामदासजी के मनोभाव गांधीजी के प्रति उन्हें आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। ''मेरी यही धारणा है कि भाग्य की दया ने ही मुझे उनके पास तक पहुँचाया।''

इन्हीं शक्तियों ने घनश्यामदासजी को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की दिशा में प्रेरित किया। साथ ही भारत में अंग्रेजी राज के कारण जो अपमानजनक व्यवहार उन्हें अपने व्यक्तिगत जीवन में मिला था, उससे वह अनेक बार तिलमिलाकर रह गये थे। ''इसी ठेस ने मेरे भीतर राजनीतिक दिलचस्पी पैदा की, जिसे मैं सन् 1912 से आज तक निभाता चला आ रहा हूँ। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा श्री गोखले को छोड़कर और कोई राजनीतिक नेता नहीं, जिसके सम्पर्क में मैं नहीं आया। देश का कोई ऐसा राजनीतिक आंदोलन नहीं रहा, जिसमें मैंने दिलचस्पी न रखी हो अथवा अपने ढंग से उसे मदद न दी हो।''[160]

159. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 456
160. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 457

चौथा भाग

स्वतंत्र भारत :
आर्थिक दृष्टि

जब स्वतंत्रता का आगमन हुआ तो घनश्यामदासजी को दो बातों का सबसे अधिक महत्व दिखाई दिया। उनमें से एक थी स्वतंत्र भारत के उत्पादन-कार्य में वेगशील वृद्धि। वर्षा के मनमौजीपन के फलस्वरूप फसलों के नष्ट हो जाने से और कुछ अन्य कारणों से भी, हमारे लिए भूखों मरने का खतरा पैदा हो गया था और बंगाल के दुर्भिक्ष की बड़े पैमाने पर पुनरावृत्ति होने की संभावना दिखाई देने लगी थी। हम विदेशों से बड़ी मात्रा में खाद्यान्न आयात कर रहे थे, पर उसका मूल्य चुकाने के लिए न तो हम निर्यात की सामग्री ही पर्याप्त मात्रा में तैयार कर रहे थे और न हमें ऐसे बाज़ार ही सुलभ थे, जिनमें हम अपने देश में तैयार की गयी निर्यात की सामग्री को बेच पाते। फलस्वरूप हमें अपने आयात की कीमत चुकाने के लिए पौंड-पावने की अपनी संचित निधि को बड़ी तेजी के साथ खर्च करना पड़ रहा था।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि स्वतंत्र भारत को पूँजी की आवश्यकता थी। देश में पर्याप्त पूँजी होने के साधन उपलब्ध नहीं थे और यह स्पष्ट ही था कि पूँजी बाहर से मँगानी होगी। मंत्रियों ने शुरू-शुरू के उत्साह में आकर अदूरदर्शितापूर्ण भाषण दिये, जिससे देशी और विदेशी पूँजी, दोनों ही सशंकित हो गयी। मंत्रीगण अनेक दिशाओं में ब्रिटेन की मजदूर सरकार का अनुकरण करना चाहते थे। पर बाद में जो स्थिति सामने आयी, उससे पता चला कि उन्होंने उस सरकार की आर्थिक सफलताओं का मूल्य बहुत अधिक आँका था और जो कीमत उसे चुकानी पड़ी, उसे बहुत कम करके माना था। इस अवस्था में सुधार करने के उद्देश्य से घनश्यामदासजी ने उत्पादन बढ़ाने के साधन तलाश करने के लिए और भारत की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भी, जिसे उस समय काफी गलत समझा जा रहा था, ब्रिटेन और अमरीका की यात्रा की। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि ब्रिटेन में हमारी स्थिति को ज्यादा गलत समझा जा रहा था। अमरीका में न तो हमारी

स्थिति को ठीक समझा जा रहा था, न गलत ही। कुछ इने-गिने राजनेताओं को छोड़कर बाकी अमरीकियों को हमारी स्थिति की ओर से उदासीनता मात्र थी। इन राजनेताओं को हमारी स्थिति में भौगोलिक और नैतिक दृष्टि से केवल इतना ही अनुराग था कि हम साम्यवाद से मोर्चा लें।

सौभाग्य से इंगलैंड में घनश्यामदासजी को श्री चर्चिल के साथ लम्बी बातचीत करने का अवसर मिला, पर उन्होंने देखा कि चर्चिल को भारत के बारे में जितनी गलत जानकारी पहले थी, उतनी ही अब भी है। उन्होंने अपनी इस मुलाकात का विवरण सरदार पटेल को लिख भेजा था। उनके पत्र-व्यवहार में बापू का जो स्थान था, वह अब सरदार पटेल ने ले लिया था। उस पत्र का उद्धरण महत्वपूर्ण है :

"वह (चर्चिल) अकस्मात उबल पड़े — 'आप लोगों ने हैदराबाद में जो कुछ किया, सो मुझे पसंद नहीं आया। आपको जनमत-संग्रह करना चाहिए था।' "

"मैंने उन्हें बताया कि अब भारत में शांति विराज रही है और जो अंग्रेज हाल में वहाँ गये हैं, उनका कहना है कि दुनिया का कोई भी मुल्क आज भारत जितना शांत नहीं है। पंडित नेहरू और सरदार बहुत अच्छी तरह काम चला रहे हैं। हम साम्यवाद की बाढ़ को रोक रहे हैं, पर हमें लोगों की हालत को सुधारना है। हमें दो चीजों की दरकार है, पहली सशक्त रक्षा-व्यवस्था और दूसरी वेगशील औद्योगीकरण। ये दोनों बातें तुरंत होनी चाहिए। हमारे नेता अब काफी बूढ़े हो चले हैं। आज तो उनका शब्द ही कानून है। पर यदि वे अगले दस वर्षों में भारत का निर्माण न कर सकें तो उसके बाद क्या होगा, सो मैं नहीं जानता।"

उन्होंने कहा, 'मुझे दस वर्ष आगे की बात नहीं सोचनी चाहिए। सोचने के लिए एक साल बहुत काफी है।'

तब मैंने उन्हें मित्रता के उस संदेश की याद दिलाई, जो सन् 1935 में उन्होंने मेरे द्वारा गांधीजी को भेजा था। 'हम अब स्वतंत्र हो चुके हैं। हम मित्र हैं, आगे भी मित्र रहना चाहेंगे। फिर आप इतनी गैरियत के साथ क्यों बातें करते हैं?'

उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, 'मैं गैरियत नहीं बरत रहा हूँ। आप इंगलैंड के साथ अच्छा बर्ताव करेंगे तो मैं निश्चित रूप से अनुकूल प्रत्युत्तर दूँगा। शायद हम सरकार में लौट आयेंगे। समाजवाद जनता में अप्रिय होते जा रहे हैं, इसलिए मैं

कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता, जिसे भारत में अमैत्रीपूर्ण समझा जाए। पिछली बातों को सोचना मेरी आदत में दाखिल नहीं है। मुझे आगे की ओर देखना सिखाया गया है। भूतकाल भुला दिया है। अब यदि आप सहयोग करेंगे तो मैं भी सहयोग करने को तैयार हूँ।'

मैंने उन्हें बताया कि पंडित नेहरू ने किस प्रकार अपनी तमाम पिछली कटुता के बावजूद राष्ट्रमंडल में रहने का फैसला किया है। उन्होंने हृदय के पूरे योग के साथ उत्तर दिया, 'मैं उनकी उदारता की बहुत सराहना करता हूँ।' तब अकस्मात् उन्होंने प्रश्न किया, 'क्या आपके यहाँ अपना राष्ट्रीय गान है ? क्या उसकी ध्वनि अच्छी है ?' मैंने कहा, 'बहुत अच्छी तो नहीं है।'

आप अपने राष्ट्रीय गान के साथ 'ईश्वर राजा की रक्षा करें, क्यों नहीं बजाते ? ये छोटी-मोटी बातें काफी सहायक होती हैं। कनाडा का अपना गान है, पर उसके साथ वे लोग हमारे गान की ध्वनि भी बजाते हैं। इससे मित्रता की भावना पैदा होती है।'

मैंने कठिनाई बताई, पर साथ ही कहा, 'यह तो इंगलैंड पर ही निर्भर है। आप मित्र रहेंगे तो शायद इसकी भी नौबत आ जाए।'

उन्होंने कहा, 'मेरी धारणा है कि समय आने पर ऐसा भी होगा।' मैंने उनसे कहा कि हमारी सबसे बड़ी कमजोरी हमारी दरिद्रता है, जिसे हम थोड़े समय में दूर करना चाहते हैं और यदि हम अपने लोगों का स्तर ऊँचा न उठा पाए तो साम्यवाद की बाढ़ किसी के रोकने से न रुकेगी। इंगलैंड को इस मामले में हमारे साथ सहयोग करना चाहिए। उन्होंने कहा, 'बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ आपकी गरीबी एक कठिन समस्या अवश्य है।'

मैंने उनसे पूछा कि श्री ईडन भारत के क्या संस्मरण लाए हैं ? उन्होंने कहा, 'उन्हें बड़ी खुशी हुई। उन्होंने आपके साथ हुई बातचीत का मुझसे जिक्र किया था।' उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या नेहरू राष्ट्रमंडल के विचार को मनवा सकेंगे ? मैंने कहा, 'मुझे इसमें कोई शक नहीं है। समाजवाद बहुत शक्तिशाली नहीं है। साम्यवादी छिपे हुए हैं।' मैंने उनसे कहा कि ब्रिटेन को और किसी देश की अपेक्षा हमारी सहायता अधिक करनी चाहिए। उन्होंने स्वीकार किया, पुनः अपनी मैत्री की

आकांक्षा की पुष्टि की, पर साथ ही कहा कि पाकिस्तान के पास जल और खाद्य के साधन प्रचुर मात्रा में हैं।

यहाँ हर कोई यह सोचता प्रतीत होता है कि साम्यवादियों का प्रभाव कम होता जा रहा है। अतएव यदि अगले चुनाव में मजदूर दल के बहुमत में काफी कमी हो जाए तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।''[161]

इंगलैंड से अमरीका, अमरीका से लंदन लौटने पर, घनश्यामदासजी ने 11 जुलाई, 1949 को सरदार पटेल को लिखा :

''अब तक मैं यहाँ प्रधानमंत्री श्री एलेक्जेंडर, श्री बेविन, श्री नोएल बेकर, सर जान एण्डर्सन और श्री चर्चिल से मिल चुका हूँ। इनमें से कुछ से दुबारा और दूसरों से आगामी सप्ताह में मिलने की आशा है। क्रिप्स से एक-दो दिन में मिलने वाला हूँ।

मूडी के त्याग-पत्र और लियाकत की संभावित मास्को-यात्रा को यहाँ विशेष महत्व नहीं दिया जा रहा है। उन्हें यह सब कुछ पसंद नहीं है, पर वे इसे ब्रिटेन से रियायतें ऐंठने के लिए एक झांसा-मात्र समझते हैं। पाकिस्तान को ध्यान में रखा जाए तो इन तौर-तरीकों का असर यहाँ कुल मिलाकर बुरा नहीं रहा। पाकिस्तान को अब भी निम्नकोटि का ही समझा जाता है। हम लोग भले, विवेकशील और आदरणीय व्यक्ति समझे जाते हैं, साथ ही हमें सदा यही परामर्श दिया जाता है कि हमें पाकिस्तानियों को बहलाते रहना चाहिए। वे गिर पड़ें तो यह आपके ही हित में बुरा होगा, हमें ऐसी सलाह दी जाती है।

कश्मीर को लेकर ये सब बहुत चिंतित हैं। यहाँ के लोग जम्मू और बौद्धों के क्षेत्र की स्थिति को तो समझते हैं, पर इनकी समझ में यह बात नहीं आती कि हम मुस्लिम-बहुल कश्मीर घाटी को भारत में शामिल करने का आग्रह क्यों कर रहे हैं।

यहाँ हैदराबाद को लेकर किसी को परेशानी नहीं है। उसे तो भुला ही दिया गया है। मुख्य प्रश्न कश्मीर का है और प्रायः हर कोई किसी न किसी प्रकार के विभाजन का पक्ष लेता दिखाई देता है।

यहाँ की आर्थिक अवस्था बहुत खराब है, पर जो बात सबसे अधिक

161. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 446-448

उल्लेखनीय है, वह यह है कि ये लोग इस अवस्था का मुकाबला लौह-संकल्प के साथ और अत्यंत वैज्ञानिक तरीकों से कर रहे हैं। संभव है, लोग वर्तमान जीवनस्तर कायम न रख सकें, पर उसे कायम रखने के लिए कड़ा संघर्ष किए बिना ये उसे गिरने नहीं देंगे।

इंगलैंड की पूँजी भारत में लगने के बारे में अमरीका की अपेक्षा यहाँ की स्थिति अधिक अनुकूल है। मैंने यहाँ कुछ व्यवसायियों से बात की है और उनका रुख निराशाजनक नहीं था। कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें हल करना ही होगा, किन्तु इस बारे में भी मेरा ख्याल है कि मेरे लिए कुछ कर सकना संभव होगा।''[162]

जी.डी. उस दौरान लंदन में लार्ड हैलीफैक्स, इकोनामिस्ट के सम्पादक श्री क्रोथर, लेडी माउंटबेटन, लेडी क्रिप्स, कुमारी पामेला माउंटबेटन, लार्ड केमरोज और 'डेलीटेलीग्राफ' के सम्पादक से मिले। इन भेंट-मुलाकातों का लक्ष्य था यह जानना कि स्वतंत्र भारत के प्रति अब ब्रिटिश हुकूमत की सोच और रवैया क्या है ?

''लेडी माउंटबेटन हमारे सामान्य शासन कार्य से पूरे तौर से संतुष्ट नहीं थीं। उनका ख्याल था कि हम आवश्यकता से अधिक केन्द्रीकरण कर रहे हैं और मंत्रियों पर काम का बोझ ज्यादा है। उनकी वार्ता में आलोचना का पुट था, पर वह आलोचना मैत्री की भावना से ओतप्रोत थी। उन्होंने मुझसे कहा, 'आप मेरा सप्रेम अभिवादन सरदार को पहुँचा दीजिए।' रक्षामंत्री श्री एलेक्जेंडर और लेडी क्रिप्स ने भी ऐसा ही कहा है।

'डेली टेलीग्राफ' का और कभी-कभी 'डेली एक्सप्रेस' का भी रुख हमारे खिलाफ ही रहता है। कल भारत से प्राप्त एक शरारत भरा संवाद प्रकाशित हुआ, जिसमें अंग्रेजों और पाकिस्तानियों के बिगड़ते जा रहे संबंधों की चर्चा थी और इसका दोष संवाददाता ने भारत के मत्थे मढ़ा था। इस बारे में केमरोज और उनके सम्पादक के साथ लम्बी बातचीत हुई।

नोएल बेकर कश्मीर को लेकर चिंतित थे। वह जनमत-संग्रह में विश्वास रखते हैं, किन्तु मेरा ख्याल है कि उनका विश्वास क्षेत्रीय जनमत-संग्रह में है, सारी रियासत के लिए एक जनमत-संग्रह में नहीं।''[163]

162. मेरे जीवन में गाधीजी, घनश्यामंदास बिड़ला, पृष्ठ 449
163. मेरे जीवन में गांधीजी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 450

यहीं तक आकर घनश्यामदासजी ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी भूमिका के बारे में स्वयं लिखा है, ''बस, मेरी कहानी पूरी हुई'', पर यह उनकी सहज विनम्रता थी।

उनकी यह 'कहानी' उनके जीवन के अंतिम क्षणों तक चली। महात्मा गांधी के अनन्य सहयोगी होने के नाते वह केवल देश की 'आजादी' के लिए नहीं, वरन् 'स्वराज' के लिए इस संग्राम में अपना योगदान देने आये थे। उन्होंने भारतीय स्वराज को केवल उसके राजनीतिक संदर्भ में नहीं, बल्कि आर्थिक स्वराज के सपनों की पूर्ति में देखा।

उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ था — आर्थिक निर्भरता। यह केवल उनकी कल्पना नहीं थी। इस कल्पना को यथार्थ में बदलने के लिए उन्होंने एक योजना तैयार करने की सोची। बहुत से उद्योगपतियों ने मिलकर एक योजना बनायी, जिसके दो भाग थे — पहले भाग में उत्पादन पर विचार किया गया था और दूसरे में वितरण पर। चार मार्च, उन्नीस सौ चवालीस की इस योजना की रूपरेखा फिक्की के वार्षिक अधिवेशन में बम्बई के उद्योगपतियों, व्यापारियों और अधिकारियों के सामने घनश्यामदासजी ने प्रस्तुत की। इसका नाम पड़ा — 'बाम्बे प्लान'।

'बाम्बे प्लान' में भारत की दरिद्रता को मिटाकर, देश को समृद्ध बनाने के उपायों की घनश्यामदासजी ने गंभीर विवेचना की, ''एक अंग्रेज सालभर में जितनी रकम अपनी सिगरेटों पर खर्च करता है, उतना ही एक भारतीय सालभर में उपार्जन करता है।''[164]

यह घनश्यामदासजी के लिए एक डरावना चित्र था। उन्होंने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि भारत में समृद्धि के आधारभूत तत्वों — खनिज, जंगल और श्रम — किसी वस्तु का अभाव नहीं है। अभाव है तो उनके ठीक प्रयोग का।

'बाम्बे प्लान' की रूपरेखा के संबंध में उन्होंने कहा कि इसकी कोई सुनिश्चित रूपरेखा नहीं है। इसे कार्यरूप देते समय अनेक परिवर्तन करने होंगे। यह कथन एक अत्यंत व्यावहारिक व्यक्ति का है, जो यह जानता है कि केवल योजना बना

164. 'बाम्बे प्लान' से उद्धृत

देने से ही काम सफल नहीं हो जाता। योजना के बावजूद भूलें होती रहती हैं, क्योंकि कोई भीं योजना हर तरह से सम्पूर्ण नहीं हो सकती।

'बाम्बे प्लान' का लक्ष्य था — हर व्यक्ति को खाना, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य की न्यूनतम मात्रा उपलब्ध हो, ताकि उसे सामाजिक आधार मिल सके।

खाना, कपड़ा और मकान की न्यूनतम मात्रा थी — "अठाईस सौ उष्मांक (कैलोरी) का संतुलित भोजन, तीस गज कपड़ों और सौ वर्गफुट की एक साफ सुथरी जगह।"[165]

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दस हजार करोड़ रुपये का नियोजन आवश्यक था। इस रकम का कुछ भाग कृषि और कुछ उद्योग के क्षेत्र पर खर्च किया जाना चाहिए। साथ ही सामाजिक कार्यक्रम —जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात—पर भी कुछ खर्च करना आवश्यक है।

घनश्यामदासजी ने बार-बार दोहराया है कि योजनाएँ तभी कुछ करने में सक्षम होंगी, जब देश स्वतंत्र हो जायेगा। वे उथल-पुथल की क्रांति से स्वतंत्रता प्राप्त करने के पक्ष में नहीं थे। उथल-पुथल की क्रांति चाहे जिस उद्देश्य के लिए की गयी हो, अपने पीछे विनाश ही छोड़ जाती है। समृद्धि के अर्थ को सही ढंग से समझने वाले घनश्यामदासजी इसी कारण उथल-पुथल की क्रांति को स्वराज का ठीक रास्ता नहीं मानते थे। यही कारण था कि उन्होंने अपने सहकर्मियों से यह अनुरोध किया कि यद्यपि बहुत से नेता अब भी बंदी हैं, तथापि योजना का काम शुरू कर दिया जाना चाहिए, ताकि स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही देश समृद्धि की ओर सुचारु रूप से आगे बढ़ सके। कुछ समाजवादी विचारों वाले व्यक्तियों ने 'बाम्बे प्लान' को सिर्फ इसलिए दोषपूर्ण बताया कि वह पूँजीपतियों द्वारा बनाया गया था। इसका उत्तर देते हुए घनश्यामदासजी ने कहा कि दुनिया में हर जगह लोग किसी-न-किसी 'वाद' के शिकार हैं। वह तो सिर्फ उसी 'वाद' को महत्वपूर्ण मानते हैं, जो भारत को संसार में एक स्वतंत्र, सम्मानित और समृद्ध राष्ट्र बना दे।

घनश्यामदासजी ने उन लोगों की भी आलोचना की, जो भारत की समृद्धि को

165. 'बाम्बे प्लान' से उद्धृत

सिर्फ कृषि के क्षेत्र में बाँधकर रखना चाहते थे। वे जानते थे कि केवल कृषि के बल पर आधुनिक युग में कोई भी देश पूरी तरह समृद्ध नहीं हो सकता। फिर भारत जैसा विशाल देश तो कदापि नहीं, जहाँ अनंत साधन उपलब्ध हैं। अभाव है तो केवल सुनियोजन का।

घनश्यामदासजी चाहते थे कि देश की कृषि-आबादी घटे, इसके बिना समृद्धि असंभव है। कृषक भारत में आवश्यकता से अधिक हैं, जिन्होंने भूमि पर बेहद दबाव डाल रखा है। इसके फलस्वरूप उनके पास पूरे समय काम भी नहीं होता है। इस कारण घनश्यामदासजी के विचार से कृषि-क्षेत्र की आबादी को घटाकर पचास-साठ प्रतिशत कर देनी चाहिए और बची आबादी के बड़े हिस्से को उद्योगों में लगाने के लिए देश का औद्योगीकरण तेजी से होना चाहिए। ऐसा ही करके जापान तेजी से समृद्ध हो गया है। आँकड़ों सहित उदाहरण देकर उन्होंने अपनी इस बात को स्पष्ट किया।

योजना के लिए सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है, कुछ नेताओं ने ऐसा कहा था, लेकिन जी.डी. ने एक सुलझा हुआ हल निकाल दिया। औद्योगीकरण के लिए विदेशों से ऋण लेने की बात करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि जनसंख्या यदि नहीं बढ़ी तो देश का जीवन-स्तर पंद्रह सालों में दो सौ प्रतिशत ऊँचा उठ जाएगा। ऋण की अदायगी निर्यात से हो जाएगी। इन सारी बातों को उन्होंने पहले एक विशेषज्ञ अर्थशास्त्री की तरह समझाया और उसी को फिर जन-सामान्य की सरल भाषा में खोलकर स्पष्ट किया।

कृषि, उत्पादन, श्रम और धन के संबंधों का अच्छी तरह विश्लेषण करते हुए घनश्यामदासजी ने अंत में कहा, "इस योजना को बौद्धिक मनोरंजन कहना एक बड़ी भूल होगी।"[166] उन्होंने यह बताया कि यह योजना कार्यरूप में कई बार बदल जाएगी और इस प्रकार इसमें जो खामियाँ हैं, वे दूर की जाएँगी।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय नव-निर्माण के प्रति घनश्यामदासजी की योजना की रूपरेखा उनके इन तीन दस्तावेजों में है —

1. 30 मई, 1947 का 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित उनका लेख,

166. 'बाम्बे प्लान' से उद्धृत

2. 28 अप्रैल, 1949 का यूनाइटेड कमर्शियल बैंक की छठी आम सभा में अध्यक्ष की हैसियत से दिया गया अभिभाषण, और
3. 3 अगस्त, 1949 का लंदन में ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन और ओवरसीज लीग की संयुक्त बैठक में प्रस्तुत लेख।

इनके आधार पर स्वतंत्र भारत के नवनिर्माण के प्रति घनश्यामदासजी की क्या दृष्टि थी, उसे देखा-समझा जा सकता है।

स्वभावतः ब्रिटिश सरकार ने भारत के आर्थिक विकास के लिए कोई आधारभूत कार्य नहीं किया, बल्कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ माह पूर्व उसने यह घोषणा कर कि इंगलैंड पूरा स्टर्लिंग ऋण नहीं लौटा सकता, भारत को मझधार में ही छोड़ दिया था। उस समय भारत उत्पादन की समस्याओं में फँसा था। औद्योगीकरण संभव नहीं था, क्योंकि उसके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। डालर हमारे पास थे नहीं और स्टर्लिंग देना इंगलैंड ने बंद कर दिया था। फलतः उत्पादन घट रहा था और सरकारी खर्चे बढ़ रहे थे। ''संकट पहले से हमारे द्वार पर खड़ा है। इस सब से उचित रूप से निपटा नहीं गया तो गंभीर मुद्रास्फीति हो जाएगी और तब यह एक खतरनाक बात होगी। हमें और नोट छापने पड़ेंगे, जिसका सीधा मतलब होगा कीमतों में वृद्धि। कीमतों में वृद्धि से पुनः खर्च बढ़ेगा।

... हम इस स्थिति से अब दूर नहीं हैं। इस समय इस स्थिति को सुधारा जा सकता है। लेकिन सरकार को इस स्थिति से निपटने का न ज्ञान है और न अनुभव। वे (मंत्री) सोचते हैं कि भाषण ही हर रोग की दवा है।

... भारत के पास मजदूर हैं, स्रोत हैं, प्रतिभा है और उच्चाकांक्षा है, जिनसे एक देश समृद्ध बनता है। ... लेकिन नेताओं के पास यह सब सोचने का समय नहीं है। ... जब चर्चिल ने लड़ाई लड़ी तो युद्ध क्षेत्र में युद्ध होता रहा, लेकिन घर के मोर्चे की उपेक्षा नहीं की गयी... सरकार दिनरात देश की आर्थिक स्थिति की नब्ज पर उंगलियाँ रखे रहती थी। जो युद्ध करने योग्य थे, युद्ध कर रहे थे और बाकी अपने-अपने काम में लगे हुए थे।

यहाँ एकदम दूसरी स्थिति है। हमारे मंत्री केवल एक विषय पर ध्यान केन्द्रित करते दिखाई देते हैं। कोई भी नहीं सोच रहा कि आर्थिक क्षेत्र में क्या घट रहा है।''[167]

167. इण्डिया फेसिंग इकनॉमिक क्राइसेस, जी.डी.बिड़ला, 'हिन्दुस्तान टाइम्स' 30/5/1947 में प्रकाशित लेख

स्वतंत्रता-प्राप्ति के दौरान शर्मनाक एवं अमानवीय घटनाएँ हुईं, जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तक भी छुटपुट रूप से होती रहीं। लेकिन जल्दी ही भारत सरकार ने उन पर काबू पा लिया और लोगों में पुनः सुरक्षा की भावना पनपने लगी।

सरकार महत्वपूर्ण राजनीतिक मामलों पर ध्यान केन्द्रित रखे, इससे किसी को कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन इसके लिए लम्बे समय तक आर्थिक विकास की उपेक्षा करनी भारत जैसे नवस्वतंत्रता प्राप्त देश के लिए कहाँ तक उचित है ? यह प्रश्न जी.डी. ने नवस्वतंत्र भारत के कर्णधारों से किया। अनेक लोग इस संदर्भ में चिंतित थे। श्री जी.डी. बिड़ला ने 28 अप्रैल, 1949 को यूनाइटेड कमर्शियल बैंक लि. की छठी आम सभा में बैंक के अध्यक्ष की हैसियत से भाषण देते हुए कहा था, ''देश की आर्थिक समस्याओं के समाधानों पर गंभीर एवं अधिक विचार करना चाहिए, ताकि बढ़ती हुई राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के द्वारा लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके और फिर समाज विनाशकारी प्रभावों से सुरक्षित रह सके। ··· अधिक उद्योग-धंधे एवं ज्यादा उत्पादन के द्वारा ही देश के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है।''

उद्योग धंधों के विकास में सरकार अपनी अनुभवहीनता के कारण अपेक्षित भूमिका नहीं निभा पा रही थी। उद्योग-धंधों में वास्तविक पूँजीनिवेशक मध्यम वर्ग के लोग होते हैं, इस बात को सरकार पूरी तरह महसूस नहीं कर रही थी। ··· कंपनियों के शेयरों में लोग लाभ के लिए धन लगाते थे, न कि अपनी बचत को डुबाने के लिए।

सरकार ने अधिक आय पर कर की दर इतनी ज्यादा (1,50,000 रुपये की आय पर 96·875 प्रतिशत) निर्धारित की थी कि उत्पादन के प्रयासों को प्रोत्साहन मिलना समाप्त हो गया था। लोग उद्योगों में पैसा लगाने के बजाए बचत करने लगे थे। इससे पूँजी-बाजार बुरी तरह प्रभावित हो रहा था।'' नये वित्तमंत्री, डाक्टर जान मथ्थाई ने अपने पिछले बजट भाषण एवं इस पर विचार-विमर्श के दौरान पूँजी बाजार की दिक्कतों का सही मूल्यांकन किया और उच्च आय वर्ग को कुछ राहतें दी गयीं, लेकिन अगर पूँजी बाजार फिर भी कुप्रभावित होता है तो नीति को और उदार बनाना होगा।''[168]

168. जी.डी. बिड़ला का भाषण, 28 अप्रैल, 1949

नये पूँजीनिवेश के अभाव में नये उद्योगों की स्थापना तो काफी कठिन थी ही, स्थापित उद्योगों को भी संकट का सामना करना पड़ रहा था। सूती कपड़ा उद्योग एवं जूट उद्योग कच्चे माल के अभाव से बुरी तरह ग्रस्त था। कुछ मिलें तो बंद होने की स्थिति में पहुँच गयी थीं, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की कमी होने एवं बेरोजगारी बढ़ने की पूरी संभावनाएँ थीं। इसके अलावा चीनी, सीमेंट, कागज एवं इस्पात उद्योगों की आय में काफी गिरावट आ गयी थी। देश की खाद्यान्न स्थिति भी अनुकूल नहीं थी। विदेशी मुद्रा की काफी बड़ी राशि खाद्य पदार्थों के आयात में खर्च हो रही थी और खाद्यमंत्री की घोषणा के अनुसार खाद्य पदार्थों के संदर्भ में 1952 तक भारत आत्मनिर्भर हो सकता था।

आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए घनश्यामदासजी ने सबसे आवश्यक बैंकिंग एवं निवेश करने को प्रोत्साहन देना, माना जिससे औद्योगीकरण यथासंभव हो सके। गाँव के महाजन के स्थान पर एक ऐसा अभिकरण बनाया जाए, जो गाँव की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। हमारी कर नीति का भी पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

भारत के औद्योगीकरण के लिए आवश्यक मुख्य वस्तुओं एवं तकनीकी जानकारी में यूनाइटेड किंगडम एवं अमरीका महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता था, इस कारण घनश्यामदासजी का सुझाव था कि हमारी विदेश नीति में इन दोनों देशों से दोस्ती बढ़ाने का स्वर होना चाहिए। इसके सहयोग से हमारी अर्थव्यवस्था कम समय में अधिकतम उत्पादन सामर्थ्य प्राप्त कर सकती है।

मजदूर उद्योग का महत्वपूर्ण हिस्सा है। मजदूर एवं मालिक के संबंध सुधरे थे तो घनश्यामदासजी ने इस संबंध को बनाए रखने पर बल दिया था। उत्पादन के बढ़ने पर मजदूर की मजदूरी में बढ़ोत्तरी करनी ही होगी, जो उसके बढ़ते जीवन-स्तर को अभिव्यक्त करती है। इसके साथ ही कारखाने में इस तरह के उपाय उपयोग में लाने चाहिए, जिससे मजदूर की मेहनत की बचत हो सके। घनश्यामदासजी की दृष्टि में भारत में सबसे ज्यादा अवकाश दिवस होते हैं। उनका सुझाव इन्हें कम करने का भी था।

देश की समृद्धि तभी संभव होती है जब देश के सभी वर्ग उसमें सहयोग करें। आशा एवं विश्वास का इस कार्य में विशेष स्थान होता है। इसी बात को ध्यान

में रखते हुए घनश्यामदासजी ने कहा कि "विगत समय में और अब भी सरकार एवं वाणिज्य समुदाय के बीच के मतभेदों को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति रही है, जोकि उनकी दूरी का सार है। लेकिन, वस्तुतः जिन प्रस्तावों को मैंने रखा है, देश के सम्पूर्ण हित में हैं। व्यवसाय समुदाय ने सरकार को सहयोग देने का वचन दिया है।"[169]

स्वतंत्रता के दो वर्ष बाद भी भारत गंभीर आर्थिक संकट में था। 3 अगस्त, 1949 को लंदन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन और ओवरसीज लीग की संयुक्त बैठक में लेख पढ़ते हुए घनश्यामदासजी ने कहा कि यदि इस संकट को जल्दी हल नहीं किया गया तो यह सभी अच्छाई पर पानी फेर देगा और देश की स्वतंत्रता की नींव हिला देगा। भारत ने पिछले दो सालों में अनेक महा-विपत्तियों का सामना किया है और उन पर विजय पायी है। परंतु आर्थिक समस्या दूसरी समस्याओं की तरह नहीं होती।

वर्तमान उत्पादन 1947 की अपेक्षा बेहतर है और 1942-43 में जबकि उत्पादन अपनी चरम सीमा पर था, से थोड़ा कम है। हमने 1943 से 1948 तक नियंत्रण करने की कोशिश की और फिर कपड़े और खाद्य में कुछ नियंत्रण की नीति में परिवर्तन के कारण कुछ हद तक नियंत्रण को हटाया। लेकिन इन निर्णयों से मूल्यों को रोकने में समर्थ नहीं हुए। नियंत्रित उत्पादन से मूल्यों में बढ़ोत्तरी होती है और नियंत्रण से तथा मुद्रा-स्फीति की नीति से इस समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता।

··· मुद्रा स्फीति की अवधि में सामान्यतः स्टाक एक्सचेंज में शेयरों का मूल्य बढ़ जाता है। फिर भी भारत में, पिछले दो वर्षों के दौरान स्टाक एक्सचेंज के शेयरों में काफी गिरावट आयी है। ··· यह सचाई है कि भारत आज एक ऐसे कड़े आर्थिक संकट से गुजर रहा है, जिसका सामना उसने पहले कभी नहीं किया।

··· हर देश में समाज की रीढ़ मध्यवर्ग होता है। भारत में ऊँचे मूल्यों और ऊँचे करों ने मध्यम वर्ग की कमर तोड़ दी है। आज उनकी तरफ पहले से अधिक ध्यान देना चाहिए। ··· मध्यम वर्ग से ही हजारों विद्यार्थी हर साल विश्वविद्यालयों से डिग्रियाँ पाते हैं, उसके बाद उन्हें नौकरियों और आरामदेह जीवन-स्तर की आवश्यकता होती है। इस ओर सरकार को ध्यान देना होगा।"[170]

169. जी.डी. बिड़ला का भाषण, 28 अप्रैल, 1949
170. जी.डी. बिड़ला का भाषण, 3 अगस्त, 1949

भारत की मुख्य समस्या मूल्यों को कम बनाए रखना, जीवन के स्तर को उठाना और नये रोजगारों को सुनिश्चित करना है और ये तीनों चीजें उत्पादन बढ़ाने से ही संभव हैं, ऐसी स्पष्ट दृष्टि जी.डी. की थी।

उन्होंने नवनिर्माण के प्रश्न को स्वतंत्र भारत की सचाइयों के बीच से देखा। जनता में बड़ी बेचैनी और असंतोष देखा। अपने आपसे प्रश्न किया और उत्तर ढूँढ़ा :

''हमारी अर्थ-व्यवस्था की ऐसी दुर्गति क्यों है ? हमारी समस्या क्या है ? बहुत सीधी बात है। उत्पादन गिरा है, जनसंख्या बढ़ी है। दोष कम उत्पादन का ही है। कोई बच्चा भी आपको बता देगा कि इसका केवल एक ही हल है, और वह है अधिक उत्पादन — कृषि और औद्योगिक दोनों क्षेत्रों में। सौभाग्य से, इस बात पर हम सभी सहमत हैं। आजकल राजनीतिज्ञ तक उत्पादन बढ़ाने की दुहाई देते हैं। प्रधानमंत्री ने अपने हाल के सभी भाषणों में इसकी चर्चा की है।

फिर भी, कुछ लोग, अधिकांशतः अर्थशास्त्री, कुछ और ही भाषा बोल रहे हैं। उन पर मुद्रा-संकोच, ब्याज की दर बढ़ाने, नोटों का चलन बंद करने आदि का भूत सवार है।

इन अर्थशास्त्रियों की सारी जानकारी विदेशी है। जर्मनी, इटली और दूसरे देशों में जो कुछ हुआ, उसे उन्होंने किताबों में पढ़ लिया है और यह नतीजा निकाल लिया है कि एकमात्र हल ब्याज की दर को बढ़ाना और मुद्रा-संकोच करना है।

उनके पास मुद्रा-संकोच के अलावा दूसरा हल नहीं है। यह पागलपन पिछले कुछ महीनों से जारी है। इस बीच भाव ऊँचे चढ़ते जा रहे हैं। मेरा यह बहुत दृढ़ अभिमत है कि अगर इन अर्थशास्त्रियों के सुझाये हलों को स्वीकार किया गया तो देश चौपट हो जाएगा।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब जापान की सारी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी, तब उसने 'अधिक ऋण' की नीति अपनाई। उत्पादन बढ़ाने के लिए जापान सरकार ने बैंकों को निर्देश दिया कि 100 रुपये की जमा पर उन्हें 110 रुपये का ऋण दे देना चाहिए। जब उसने अपनी अर्थव्यवस्था का निर्माण कर लिया और देखा कि मुद्रा-स्फीति बढ़ रही है, तभी उसने अंकुश लगाए।

जब माल बहुत थोड़ा हो और उसे खरीदने के इच्छुक व्यक्तियों के पास बहुत अधिक पैसा हो तो भाव बढ़ जाते हैं। अगर माल पर्याप्त हो तो मुद्रा की अधिक सप्लाई की समस्या स्वयं सुलझ जाती है। उत्पादन में वृद्धि मुद्रा-सप्लाई में वृद्धि को सँभाल लेती है। इसलिए, मैं फिर कहता हूँ, इसका हल अधिक उत्पादन ही है — कृषि और औद्योगिक दोनों क्षेत्रों में।

एक और भी पहलू है। हम प्रायः सुनते हैं, मुख्य जोर कृषि-उत्पादन पर होना चाहिए। विदेशी विशेषज्ञों तक ने हमें सलाह दी है, 'देखो, आप कृषि-उत्पादन पर ही ध्यान दो, और आपको बस यही करना चाहिए' लेकिन इस बात को बिल्कुल भुला दिया जाता है कि कृषि-उत्पादन मूलतः औद्योगिक उत्पादन पर निर्भर है। क्यों ? यदि आप कृषि उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो आप को अधिक नहरें, ट्यूब वैल और खाद चाहिए। आपको यह कहाँ से मिलते हैं ? यदि आपको अधिक जलाशय बनाने हैं, तो आपको सीमेंट चाहिए, इस्पात चाहिए। अगर आप अधिक खाद पैदा करना चाहते हैं तो आपको अपने कारखाने खड़े करने होंगे, आप खाद विदेशों से नहीं मँगा सकते। इसके लिए आपको इंजीनियरिंग के अधिक कारखाने चाहिए।

उद्योग और कृषि एक-दूसरे पर निर्भर है, जैसे बीज और पेड़। आप पेड़ से शुरुआत नहीं कर सकते, आपको बीज से ही शुरुआत करनी होगी। अगर आप कृषि उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो आपको उद्योग पर ध्यान देना होगा, बल देना होगा। वह बुनियादी चीज है।

यह केवल लाइसेंस जारी करने या दूसरी बाधा को दूर करने का प्रश्न नहीं है। यह बहुत बड़ा काम है। मेरी राय में, पहली जरूरत बेहतर प्रशासन ही है।''[171]

घनश्यामदासजी की दृष्टि से नवनिर्माण की दिशा में पहली बात प्रशासन को सुधारने की है। ''इस बाधा को दूर कीजिए, अधिकारियों को निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहन दीजिए। उन्हें बहुत निश्चितरूप से बता देना चाहिए कि यह उनकी जिम्मेदारी है। इस समय यदि कोई समस्या होती है तो फाइल संबंधित मंत्री को पास करनी होती है। ऐसा होने पर उसे घुमाया जाता है। कम्पनी ला विभाग, वित्त

171. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 229-230

विभाग और उद्योग विभाग के पास। नोट लिखे जाते हैं और हर मंत्री को हस्ताक्षर करने होते हैं। जब सब मंत्रियों के हस्ताक्षर हो लेते हैं तो फाइल वहीं लौट आती है, जहाँ से वह शुरू हुई थी। इसके बाद सचिव नोट लिखता है और सभी संबंधित मंत्रियों के पास उसे घुमाता है। फिर, फाइल सचिव के पास वापस पहुँचती है, जो उसे मंत्रिमंडल के पास भेज देता है। इस तरह काम हो सकता है ?

एक घरेलू उदाहरण लीजिए। आप दस आदमियों को खाने पर बुलाते हैं। आप पत्नी से कहते हैं, दस आदमियों का खाना बनाना है। तब वह नोट लिखने शुरू कर देती है और उन्हें आपके, आपकी माँ और आपकी बहन के पास भेजती है। वह नोट वापस आता है, तब वह और नोट लिखती है। उसके पूरे होने तक अतिथि आ पहुँचते हैं, पर घर में खाना नहीं होता।

दिल्ली में इसी तरह की बातें हो रही हैं। यह अत्यंत हास्यास्पद है। अगर कोई समस्या है तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि सभी मंत्री साथ बैठें, निर्णय लें और उसे पास कर दें ? 'ना' कहो या 'हाँ'। आप 'ना' नहीं कहते और आप 'हाँ' नहीं कहते, तो किया जाए।''[172]

लाइसेंस-प्रणाली पर जी.डी. ने विचार किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ''सीमेंट बनाने के लिए ढेरों लाइसेंस जारी किए गये हैं। क्या कोई कारखाना चालू हुआ है ? क्या सीमेंट का उत्पादन बढ़ा है ? लाइसेंस व्यावसायियों के पास पड़े सड़ रहे हैं, क्योंकि उत्पादन शुरू करने से पहले अन्य बहुत सी खानापूरी जरूरी होती है। लाइसेंस ही काफी नहीं है।''[173]

फिर उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न स्वतंत्र भारत की मूल्यनीति की विवेचना की। उन्होंने कहा कि, ''यह नीति ऐसी है, जिस पर आप सभी चल सकते हैं, जब कोई कारखाना स्थापित करना नहीं चाहे। सीमेंट का उदाहरण लीजिए। सीमेंट चोरबाजार में बिकता है, पर सीमेंट का कंट्रोल भाव है। यदि कोई सीमेंट का निर्माता हो तो उसे कंट्रोल भाव पर बेचना होगा। किसे ? ऐसे व्यक्ति को, जो चोर बाजार में बेचना चाहता है। वह सीमेंट अंततः उपभोक्ता के पास बहुत ऊँचे भाव

172. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 231-232
173. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 232

पर पहुँचता है। असली भाव का लाभ न तो उद्योग को मिलता है और न उपभोक्ता को। कोई दूसरा ही पैसे से जेब भर लेता है। सरकार कहती है, वह चोरबाजारी की कट्टर विरोधी है, लेकिन इस चोरबाजार को पैदा कौन कर रहा है ? सरकार, जिसने अपनी मूल्य नीति से कम से कम तीन उद्योगों को चौपट कर दिया है — सीमेंट, मोटर कार और एल्यूमीनियम।

देश के नवनिर्माण में घनश्यामदासजी के मत से चौथी बड़ी बाधा बिजली की है। यह एक अत्यंत भीषण समस्या है। हर राज्य में बिजली की स्थायी कमी है। "मैंने हिसाब लगाया है कि एक बार यदि किसी कारखाने की बिजली में 50 प्रतिशत कटौती कर दी जाय तो उसे भारी घाटा होने लगता है। मार्च में सामान्य से करीब 25-30 प्रतिशत कम बिजली मिली। अप्रैल में सामान्य से 40 प्रतिशत कम पर काम करना पड़ा। यदि कटौती 50 प्रतिशत से भी अधिक हो गयी तो ईश्वर ही मालिक है। तब तो घाटा उठाना ही होगा। कुछ लोग एक महीने तक घाटा उठा सकते हैं, कुछ दो या तीन महीने तक और अंत में आपको अपनी दुकान बंद करनी होगी। मैं ऐसे किसी व्यवसायी को नहीं जानता, जो निरंतर घाटा उठाते रहने को तैयार हो।"[174]

इस समस्या के निराकरण में जी.डी. का विचार था कि व्यवसायियों को अपने निजी 'कैप्टिव' बिजली-घर बनाने की अनुमति दी जानी चाहिए। व्यापारी उन्हें विदेशों से मँगाएँ, पुरानी मशीनें लाएँ या नयी, यह बात उन पर छोड़ देनी चाहिए। उद्योगों का और देश का जीवन है बिजली।

उनकी दृष्टि से पाँचवीं समस्या मजदूर स्थिति की है। "रोज आप अखबारों में हड़तालों की धमकियों के बारे में पढ़ते हैं और सरकार इस स्थिति का कैसे सामना कर रही है — बहुत भद्दे ढंग से। एक कानून होना चाहिए, जिससे हड़तालों और तालाबंदियों पर रोक लगे। कानपुर में बिजली की कमी के कारण बहुत से लोगों की कामबंदी कर दी गयी है। अगर हम इस मजदूर-समस्या को गंभीरता से नहीं सुलझायेंगे तो हमारी गाड़ी ही उलट जाएगी।"

जी.डी. के विचार से एक अन्य समस्या परिवहन की है। "मैं नहीं जानता कि

174. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 233-234

क्या गलती है। लेकिन बात फिर अकुशलता की आती है। इन सभी समस्याओं को सुलझाने के लिए अंततः आपके पास एक अच्छा प्रशासन होना चाहिए। मान लीजिए, आपके पास एक मिल है और आप अपने चपरासी से कहते हैं, 'इसे चलाओ'। क्या वह चला पायेगा ? आपको किसी अच्छे आदमी को उसका भार सौंपना होगा। इसलिए अच्छा प्रशासन सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि अंततः सब कुछ उसी पर निर्भर है।

हमारे अधिकारी प्रथम श्रेणी के व्यक्ति हैं, मुझे इसमें संदेह नहीं है। पर हमारे यहाँ नियमों की भरमार है। जरा से बहाने पर एक नया नियम बन जाता है। विधिमंत्री से पूछिए, यह नियम क्या है ? उन्हें नहीं मालूम। उन्होंने स्वयं नियम बनाया है, लेकिन नहीं जानते कि नियम क्या है।

हम सभी नियमों से बुरी तरह से जकड़े हुए हैं। अपने निजी अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि 90 प्रतिशत समय सरकार को पत्र लिखने में निकल जाता है। श्री जे.आर.डी. टाटा भी यही बात कहते हैं। एक बार उन्होंने कहा था, ''मेरा सारा समय भारत सरकार को पत्र लिखने में लगता है।''[175]

घनश्यामदासजी स्वातंत्र्योत्तर भारत की प्रायः सभी समस्याओं को एक-एक कर गिनाते चले गये और उन सबके प्रति उन्होंने समाज और सरकार दोनों का ध्यान आकृष्ट किया था। उनकी निर्माण दृष्टि के अनुसार सबसे पहले एक ऐसे वातावरण की आवश्यकता है, जिसमें अधिकारियों को स्वतंत्र ढंग से निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहन मिले। इस वातावरण में लाइसेंस व्यवस्था, बुरी मूल्य नीति, बिजली, मजदूर-संबंध, परिवहन और नियमों की भरमार नहीं हो।

घनश्यामदासजी प्रायः अपने आप से प्रश्न करते रहे और अपने प्रश्नों में वह स्वतंत्र भारत की सरकार को भी अपने साथ जोड़ते रहे, ''क्या हम सब उत्पादन बढ़ाने के बारे में जरा भी गंभीर हैं ? क्या हम समस्या के साथ खिलवाड़ नहीं कर रहे हैं ? ''मैं नहीं जानता, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि अब केन्द्र की भी विचारधारा बदल रही है। सरकार अधिक उत्पादन चाहती है, लेकिन नहीं जानती कि कैसे करे, और यही समय है, जब व्यावसायियों को सरकार की सहायता करनी चाहिए।

175. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 235

इसके लाभ देखिए। हमारे पास फालतू जन-शक्ति है, अनदुहे साधन हैं, बेकार पड़ी मशीनें हैं। हम उनका उपयोग क्यों न करें ? हमारे पास आटा, चीनी, घी है। आप उनसे हलवा क्यों नहीं बना सकते ? पर हम हलवा नहीं बनाते, हम बस अपने को भूखा मार रहे हैं।''[176]

अपने नवनिर्माण की दृष्टि में घनश्यामदासजी ने सदा उत्पादन के प्रश्न को जोड़ा है। उन्होंने उन लोगों से, जो उत्पादन के प्रश्न से संबंधित हैं, अत्यंत विनम्र निवेदन किया है कि वे इस पर बहुत गंभीरता से विचार करें कि निर्जन सड़क पर एक मूर्ख भी कार चला सकता है। इसके लिए कार चलाने के लाइसेंस की भी जरूरत नहीं, लेकिन जब सड़कों पर भारी भीड़ हो तो गाड़ी सँभालने और भीड़ में से निकालने के लिए एक अनुभवी समझदार ड्राइवर चाहिए। ''यह समय है चुनौती का। व्यवसायियों के पास बुद्धि है, मैं जानता हूँ। उनमें संकल्प भी है। समय हमेशा बदलता है और यह समय भी बदलेगा। हर काली रात के बाद प्रभात आता है। मैं नई दिल्ली में उसके लक्षण देख भी रहा हूँ। इसलिए, साहस से काम लीजिए और हिम्मत न हारिए। इस समय यही देश-सेवा है।''[177]

घनश्यामदासजी की दृष्टि से अर्थशास्त्र को सुचारु रूप से देश के हितों के अनुकूल चलाने के लिए जितने भी संस्थान, कारखाने, निर्माण-स्थल खड़े किए जाएँ उनमें प्रबंध का विशेष महत्व है, इसलिए किसी भी अर्थशास्त्री का यह एक अहम नारा होना चाहिए — ''आदमी बनाओ''। जिन्हें प्रबंध सौंपा जा रहा है, उन्हें छूट हो, तभी वे काम कर सकते हैं अन्यथा लालफीताशाही में कितने ही निर्णय अधूरे रह जाते हैं, काम में बाधा पड़ती है और ऐसी बाधा अर्थशास्त्र के हित में व्यवधान पैदा करती है जो कभी-कभी जनहित के उद्देश्य को ही ले बैठती है।

अधिक उत्पादन जब अर्थशास्त्र का मूल मंत्र है तो उसके लिए पूँजी का प्रवाह निर्बाधरूप से प्रवाहित होता रहे, यह बहुत आवश्यक है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि कच्चे माल या निर्मित पदार्थों पर पूँजी कम से कम रोकी जाये।

विकसित एवं नवीनीकृत तकनीकी प्रयोग के बिड़लाजी सदा ही हामी रहे।

176. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 235-236
177. बिखरे विचारों की भरोटी, घनश्यामदास बिड़ला, पृष्ठ 236

उनका कहना था कि यदि हम अर्थशास्त्र में नवीनतम तकनीक से पिछड़ जाते हैं तो हमारा संस्थान अच्छा नहीं चल सकता। इसलिए हमें निरंतर सजग रहना है। इसका आधार यंत्रीकरण के द्वारा श्रम-शक्ति को कम करना तथा अमुक समय में वह अतिरिक्त नियोजित पूँजी लौट कर उद्योग को मिल जाये, इस सुदृढ़ आधार पर बिड़लाजी का चिंतन कारगर रहा है। यद्यपि हमारे देश में बेरोजगारी को देखते हुए जितने अधिक आदमियों को काम मिले, ऐसा करना चाहिए, वह उसके हामी थे, परंतु श्रम को बरबाद न करके नये उद्योग लगाने के पक्ष में थे। कोई भी यंत्रीकरण यदि उचित लाभ पर आधारित है अर्थात् उसकी एक निश्चित समय में कीमत निकाली जा सकती है तो उसके लिए पूँजी नियोजन की वह मुक्त-हस्त से छूट देते थे।

अर्थशास्त्री के लिए दूरदर्शिता की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। हम लोगों को स्मरण है कि कितने ही वर्ष पहले उन्होंने कहा था कि कागज का खर्च कम करो, सदुपयोग करो, स्लेट का जमाना फिर आने वाला है। इसी प्रकार बढ़ती आबादी को खिलाने के लिए अधिक अन्न उपजाना चाहिए, और अन्य पदार्थों का विकल्प निकाला जाना चाहिए, ऐसा कहा था। मानव-निर्मित रेशों से बने वस्त्रों का निर्माण एक ऐसी ही चिंतन-श्रृंखला का परिणाम है।

बिड़लाजी अर्थशास्त्र की भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धति के समन्वय के सदा हामी रहे। गुण-दोष के आधार पर दोनों चीजें ग्राह्य हैं और परिस्थिति विशेष में त्याज्य हैं। उनकी मुनीम एवं मैनेजर की परम्परा तथा विदेशी सहयोग से लगाये हुए कितने ही कारखाने इस बात के प्रत्यक्ष साक्षी हैं।

योजना व नव भविष्य के लिए उन्होंने सांख्यिकी का महत्व स्वीकार किया है। उनके नव-निर्माण व नये उद्योगों की स्थापना इसी आधार पर होती है।

कितना ही बड़ा उद्योग हो, उसमें फिजूलखर्ची को उन्होंने सदा ही हेय समझा है। मितव्ययिता मूल-मंत्र होना चाहिए। यदि एक पिन या छोटा कागज भी अनावश्यक रूप से खराब किया जाता है तो उसके लिए भी जी.डी. इंगित करते। चिट्ठी का काम टी पी से किया जाए। तार व टेलीफोन की आवश्यकता नहीं रहे, सूक्ष्म आवश्यक पत्र-व्यवहार हो, इत्यादि। कोई भी व्यय हो, उसे पग-पग पर जाँचने की आवश्यकता रहती है। पदार्थ के समुचित और आवश्यक उपयोग के

वह पूरे हामी थे। यह व्यवस्था उद्योग को एक बहुत बड़ा बल देती है। बूँद-बूँद से समुद्र बनता है, यह यथार्थ ही है।

"किसी भी संस्थान में जो लाभ होता है, वह जनहित के लिए है। उससे उद्योग और बढ़ाये जाएँ जिससे यह श्रृंखला चले और सही अर्थशास्त्र राष्ट्र के सामने परिवर्द्धित होकर उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

श्रम-शक्ति में उन्हें सदा विराट के दर्शन हुए। इसलिए उसे वह पूजनीय, वंदनीय एवं अत्यंत आवश्यक मानते हैं। बहुत कम अर्थशास्त्रियों ने ऐसे विषयों पर ध्यान दिया होगा, परंतु इनकी यह विशेषता जन-जन में लोकप्रिय बन कर एक नयी देन बन गयी। जब आदमी श्रम को भगवान मानने लगता है तो स्वाभाविक है कि वह उसके हित के लिए सब कुछ करता है।"[178]

देश के गतिशील औद्योगीकरण के लिए सरकार के साथ मिलकर कैसे काम किया जाये, इस बात पर घनश्यामदासजी विशेष ध्यान देने लगे। पंचवर्षीय योजना को सफल कार्यरूप कैसे दिया जाये, इस पर वह सोचने लगे। अप्रैल, उन्नीस सौ छप्पन में घनश्यामदासजी ने इंगलैंड की यात्रा की। इस यात्रा के समय घनश्यामदासजी समाजवाद और पूँजीवाद के बीच संघर्ष की बात से चिंतित थे। इंगलैंड में विभिन्न क्षेत्रों के अपने अनुभव से उन्हें लगा "पूरे इंगलैंड के मानस पर भारत में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भय छाया हुआ है।"[179]

... मथाई को उन्होंने लिखा कि "मेरे इस पत्र को कृष्णमेनन और यदि सार्थक समझो तो पंडित नेहरू को भी दिखाना।"[180]

तेरह जून, उन्नीस सौ छप्पन को घनश्यामदासजी ने प्रधानमंत्री के विशेष सहायक एम.ओ. मथाई को एक और व्यक्तिगत पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कुछ ही समय पहले की गयी अमरीका यात्रा के अनुभव के आधार पर बताया, "दि फार ईस्ट अमेरिकन काउंसिल ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री व्यापारियों और उद्योगपतियों से मेलजोल बढ़ाने का एक अच्छा मंच है। 'इंडिया हाउस' में लोगों ने मुझे दोपहर

178. मरु-भारती, पृष्ठ 68
179. जवाहरलाल नेहरू को घनश्यामदासजी का निजी पत्र
180. एम.ओ. मथाई को घनश्यामदासजी का पत्र

के खाने पर बुलाया जहाँ सत्तर से ऊपर बड़े-बड़े उद्योगपति और व्यापारी तो थे ही, साथ ही साथ एक बहुत समझदार दर्शक समूह भी उपस्थित था, जो व्यस्त न्यूयार्क के लिए एक अप्रत्याशित बात थी। ये सारे-के-सारे भारत के विषय में जानने को आतुर थे।

राजनीतिक क्षेत्र में हेनरी कोबोटलाज, संयुक्त राष्ट्र में अमरीका के राजदूत के अतिरिक्त छियानवे में से चौदह महत्वपूर्ण सेनेटर्स से मिला। वहाँ मुझसे यह बताने को कहा गया कि अमरीका भारत को किस प्रकार सहायता कर सकता है।''[181]

उन्नीस सौ छप्पन की वह अमरीका यात्रा घनश्यामदासजी के लिए एक व्यक्तिगत विजय थी। इस यात्रा में वह शरमन, ऐडम्स, विलियम, जैक्सन और जोसेफ डाज से मिले, जो अमरीकी राष्ट्रपति के विशेष सहायक थे। ट्रेजरी सेक्रेटरी जार्ज हम्फ्री, कॉमर्स सेक्रेटरी सिनक्लेयर विल्कस, विदेश विभाग के अध्यक्ष जान हालिस्टर से भी वह मिले। विश्व बैंक के प्रेसीडेंट यूजीन ब्लैक से जब वह दोपहर के भोजन पर मिले तो भारत की पंचवर्षीय योजना और प्राइवेट सेक्टर की भूमिका पर बातचीत की।

एम.ओ. मथाई को लिखे गये उसी पत्र में घनश्यामदासजी ने एक महत्वपूर्ण सूचना दी ताकि वह प्रधानमंत्री पंडित नेहरू तक पहुँच जाये, ''अमरीकी कहते हैं कि हमारी गुटनिरपेक्षता की बात वे समझते हैं, लेकिन रूस के प्रति भारत का पक्षपात उनकी समझ में नहीं आता है।''[182]

अमरीका में घनश्यामदासजी ने राजनेता व शासक वर्ग, व्यापारी व उद्योगपति वर्ग, प्रेस और महत्वपूर्ण लोगों से मिलकर यह अनुभव किया कि भारत की स्थिति वहाँ का पूँजीपति वर्ग अवश्य समझता है, परंतु वहाँ के प्रेस का रुख भारत के अनुकूल नहीं है। उनकी यह धारणा दृढ़ हुई कि साम्यवाद की चुनौती का सामना करने का एक ही रास्ता है — देश को आर्थिक रूप से सुदृढ़ करना। उन्होंने अमरीकी व्यवस्था को भी आगाह किया कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना परोक्ष रूप से साम्यवाद को सहायता करना है।

181. एम.ओ. मथाई को घनश्यामदासजी का पत्र
182. एम.ओ. मथाई को घनश्यामदासजी का निजी पत्र, 21 अप्रैल, 1956

भारत का झुकाव रूस की ओर है — अमरीका में फैली इस भ्रांति को दूर करने के लिए घनश्यामदासजी ने वहाँ लोगों को बताया कि स्वाधीन भारत में जो तीन प्रमुख स्टील प्लांट लगाये गये हैं, उनमें से एक के लगाने में ब्रिटेन ने मदद की है, दूसरे के लगाने में जर्मनी ने और तीसरे के लगाने में रूस ने। इस तरह से तथ्यों को सामने रखकर घनश्यामदासजी ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि हम सही अर्थों में गुटनिरपेक्ष हैं।

सन् उन्नीस सौ अठावन के अंत में घनश्यामदासजी ने प्रधानमंत्री नेहरू को एक व्यक्तिगत टिप्पणी भेजी, "हमारी द्वितीय और तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता इन बातों पर निर्भर है :

1. विदेशी मुद्रा की सुलभता,
2. यातायात,
3. तकनीकी शिक्षा प्राप्त लोगों की सुलभता,
4. चुस्त शासनतंत्र, और
5. जनता में क्रय-शक्ति की वृद्धि।

घनश्यामदासजी ने सोचा था, स्वाधीनता के बाद भारत का वरण करने के लिए लक्ष्मीजी इसी प्रकार आयेंगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। स्वतंत्रता से पहले भारत को गरीब देश कहा जाता था, बाद में भी इसी विशेषण का प्रयोग हो रहा था। वह समझ गये कि अर्थव्यवस्था में कहीं गड़बड़ी है। पूँजीवाद से अलग होकर, समाजवाद के रास्ते पर चलते हुए सारी व्यवस्था जैसे लड़खड़ाने लगी थी। घनश्यामदासजी की कल्पना का समाजवाद तो समृद्धि बाँटने वाली एक व्यवस्था थी, जिसके दो आधार थे — बाधाहीन उत्पादन और उसका उचित वितरण।

अपने को समृद्धि का ट्रस्टी समझने वाले घनश्यामदासजी के मन में पूँजीवाद और समाजवाद दोनों से ही अलग यह — "संपन्नता को समाजवाद — एक नयी कल्पना थी, जो भारत को शीघ्रातिशीघ्र सक्षम, समृद्ध और शक्तिशाली बना सकती थी। वह कहते थे, "मैं वैसी सब चीजें पसंद करता हूँ, जिससे देश की संपत्ति बढ़ती है, जिससे अधिक लोगों को काम मिलता है। मैं पूँजीवादी हूँ, किंतु मेरा विश्वास समाजवाद में है, वह समाजवाद, जिसमें सबको समान अधिकार है, ज्यादा रोजगार मिलता है, हर एक का जीवन-स्तर उन्नत होता है।" समाजवाद

की परिभाषा घनश्यामदासजी की दृष्टि में गरीबी का बँटवारा करना नहीं था। कोई भी 'वाद' हो, पहला ध्येय तो देश में उत्पादन और समृद्धि बढ़ाने का होना चाहिए, ऐसा उनका मत था।

उनकी यह दूरदर्शिता वाणी आगे चलकर सच हुई। उन्होंने देखा कि संसार के वे देश, जहाँ स्वतंत्रता नयी-नयी आयी है, समाजवाद, पूँजीवाद और साम्यवाद के झगड़ों में पड़कर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं। वे कोरे सिद्धांतों के लिए लड़ रहे हैं और उस लड़ाई में नष्ट होती अपनी शक्ति, अपनी सम्पदा की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा रही है। घनश्यामदासजी को लगने लगा कि कोई भी 'वाद' अपने आप में पूर्ण नहीं है, किसी भी एक वाद में मनुष्य की गरीबी, उसकी भूख, उसकी मूलभूत आवश्यकताओं का उत्तर नहीं है। अतः उन्होंने महसूस किया कि स्वतंत्र भारत को वही करना चाहिए, जिससे कि कम से कम समय में अधिक से अधिक लोगों में संपन्नता आ सके। इसके लिए किसी एक सिद्धांत या किसी एक वाद के पीछे लग जाना कोई मायने नहीं रखता।

परिशिष्ट

कांग्रेस की सहायता
तथा
अंग्रेजों का शक

गांधीजी और कांग्रेस के माध्यम से स्वतंत्रता आंदोलन में घनश्यामदासजी द्वारा दी गयी आर्थिक मदद, अंग्रेजी राज्य की नजर में क्या अर्थ रखती थी, इसकी जानकारी महत्वपूर्ण है। घनश्यामदासजी के साथ-साथ स्वतंत्रता आंदोलन के अंतिम चरण में और भी कई बड़े व्यापारी घराने कांग्रेस को आर्थिक मदद देने लगे थे।

भारतीय कांग्रेस को बड़े व्यापारियों द्वारा की जाने वाली आर्थिक सहायता ब्रिटिश के लिए अत्यन्त चिन्ता का विषय बन गयी थी। वे प्रायः इस सहायता के पीछे छिपे मंतव्य को जानने की कोशिश में रहते थे। उन्हें इसके पीछे षड्यंत्र दिखाई दे रहा था।

दो नवंबर, 1942 को प्रादेशिक गवर्नरों को लिखे अपने 'अत्यन्त गुप्त एवं व्यक्तिगत' पत्र में लार्ड लिंलिथगो ने लिखा : ''हाल ही के उपद्रव में 'बड़े व्यापारी घरानों' ने जो भूमिका निभाई है उसे जानने एवं समझने के लिए हर संभव कदम उठाना चाहिए। इसके लिए मैं बहुत उत्सुक हूँ। यह सर्वविदित है कि कांग्रेस आर्थिक सहायता के लिए कुछ सम्पन्न पूँजीपतियों पर निर्भर है। डी.आई.बी. ने हाल ही में केन्द्रीय सतर्कता अधिकारियों से कहा कि वे प्रादेशिक विशिष्ट शाखाओं की सहायता से इस संबंध में प्रमाण जुटाएँ।

''.... मैं समझता हूँ कि अब एक ऐसी स्थिति आ गयी है कि हम बिड़ला बंधुओं और अन्य प्रमुख पूँजीपतियों को षड्यंत्र में शामिल होने के कारण दबोच सकते हैं। लेकिन इस समय यह महत्वपूर्ण बात है कि हम अपने विचारों की कोई

भनक न पड़ने दें, या इस संबंध में कोई अधूरी कार्रवाई न करें, जिससे उन्हें बचाव मिल सके। इस षड्यंत्र की पूरी जानकारी के लिए एक विशेष एजेंसी से सम्पर्क करने के बारे में विचार कर रहा हूँ। 'भारत छोड़ो' संकल्प एवं कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के कारण मेरे ख्याल से, इस समय इतना ही पर्याप्त होगा कि आप सी.आई.डी. को भारतीय व्यापारी समुदाय द्वारा गांधी, कांग्रेस और वर्तमान कांग्रेस आन्दोलन को दी गयी आर्थिक सहायता तथा उसके पीछे छिपे मंतव्य से संलग्न सभी जानकारियों के संबंध में महत्वपूर्ण संकेत दें।''[183]

इस तरह ब्रिटिश राज की नजर में जी.डी. बिड़ला गांधी और कांग्रेस की सहायता करके ब्रिटिश अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकते रहे।

घनश्यामदासजी निरंतर कहते रहे कि बड़े उद्योगपतियों द्वारा कांग्रेस की सहायता में कोई षड्यंत्र नहीं है। फरवरी 1943 में उन्होंने 'न्यूयार्क' के संवाददाता हर्बर्ट मैथ्यूज को बताया कि उनके पक्ष में छपी भारतीय उद्योगपतियों द्वारा कांग्रेस की सहायता संबंधी रिपोर्ट एकदम अतिरंजनापूर्ण थी। उन्होंने यह भी इंगित किया कि कांग्रेस सरकारों ने (1935 अधिनियम के तहत सत्ता सँभालने के बाद) ऊँची मजदूरी और अनेक क्षेत्रों में नयी स्थितियों को नये स्वरूप देने के लिए कई उपाय किए जिससे उद्योगपतियों को नुकसान हुआ। ''उद्योगपतियों को यह पसंद नहीं था, लेकिन उन्होंने इसे स्वीकारा, क्योंकि वे भारत को आजाद देखना चाहते थे और चाहते थे कि कांग्रेस अपनी अच्छी छवि दिखा सके।''

सतर्कता ब्यूरो, भारत सरकार, गृह विभाग के एक नोट में लिखा है, ''फिर भी, बड़े व्यापारियों की छिपी मंशा का 'मास्टर प्लान' में संकेत मिलता है। 'मास्टर प्लान' युद्धोतर पुनर्निर्माण के लिए बम्बई के व्यापारियों ने (जो कम से कम पाँच, जे.आर.डी. टाटा, सर अर्देशीर दलाल, कस्तूरबाई लालभाई, सर श्रीराम एवं जी.डी. बिड़ला थे) प्रकाशित कराया। इस योजना ने शुभचिंतक पूँजीवाद की महत्वाकांक्षा योजना को उद्घाटित किया। यह शुभचिंतक पूँजीवाद आर्थिक मामलों में पूरी स्वतंत्रता सहित राष्ट्रीय सरकार के जरिए काम कर रहा था जिसमें उद्योग, कृषि एवं सेवाओं को बढ़ाने, भारत के लाखों लोगों को लाभ पहुँचाने और भारतीय बड़े उद्योगपतियों के अत्यधिक लाभ के प्रस्ताव थे। 'बड़े उद्योगपतियों' एवं कांग्रेस के

183. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 3, पृष्ठ 190-191, प्रलेख 132

संबंध के बारे में उपलब्ध प्रमाण किसी ऐसे अनुमान की पुष्टि नहीं करते कि अपनी उपलब्धि के लिए 'बड़े उद्योगपति' कांग्रेस को गुप्त रूप से असंदेही साधन के रूप में इस्तेमाल कर रहे थे। दोनों बिना किसी भ्रम के सुविधा हेतु साझेदारी में काम कर रहे थे।''[184]

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भारत के पुनर्निर्माण की उद्योगपतियों की योजना को ब्रिटिश सरकार ने सही परिप्रेक्ष्य में भी नहीं लिया।

लार्ड वेवल ने मिस्टर एमरी को लिखा, ''जी.डी. बिड़ला, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जे.आर.डी. टाटा एवं अन्य द्वारा तैयार की गयी भारत के लिए 10,000 करोड़ रुपये की आर्थिक योजना से एक गंभीर हलचल-सी मच गयी है।''

6 मार्च, 1944 को फील्ड मार्शल विस्काउंट वेवल की जी.डी. बिड़ला से लंबी बातचीत हुई। इस संदर्भ में लार्ड वेवल ने लिखा :

''औद्योगिक एवं कृषि विकास पर बड़ी रुचिपूर्ण बातचीत हुई। उसने (जी.डी.) कहा, ऊर्जा पहली आवश्यकता है, लेकिन जल-विद्युत् ऊर्जा कोयले से प्राप्त ऊर्जा की अपेक्षा कम अनुकूल एवं अधिक महँगी है। वह यूनाइटेड किंगडम में औद्योगिक निरीक्षण के पक्ष में थे और स्वयं जाने के लिए तैयार थे। उन्होंने पुनर्निर्माण के लिए एक सदस्य की नियुक्ति की सिफारिश की। उन्होंने यह कहते हुए कि वह सहयोग में विश्वास रखते हैं, राजनीति पर बहुत कम चर्चा की। ··· वह दिलचस्प और समझदार व्यक्ति हैं।''[185]

लार्ड वेवल जी.डी. की बात से प्रभावित हुए और उन्होंने भारत के पुनर्निर्माण के लिए एक सदस्य नियुक्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार को लिखा। ब्रिटिश सरकार ऊपरी तौर पर इसमें रुचि ले रही थी और सदस्य के चुनाव को लगातार आगे बढ़ाती जा रही थी। मिस्टर एमरी मिर्जा इस्माइल को सदस्य बनाना चाहते थे। लार्ड वेवल को एक पत्र में उन्होंने लिखा, ''मुझे विश्वास है कि तुम पुनर्निर्माण का सदस्य बनाने में सक्षम हो। ··· जैसा कि मैंने अपने पिछले पत्र में कहा था, अगर तुम मुदलियार को स्थानांतरित करने को तैयार नहीं हो तो मेरा झुकाव मिर्जा इस्माइल की ओर है। जो भी हो, उसे भारत को यह दिखाना है कि उसकी

184. इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन : 'सीक्रेट होम फाइल्स'
185. वेवेल पेपर्स, नोट्स आफ इंपोर्टेंट इंटरव्यू, 1944-47, पृष्ठ 46

अवधारणायें परिपक्व हैं और उसकी पद्धतियाँ बिड़ला की योजना से अधिक व्यावहारिक हैं। ··· मुझे इन बड़े उद्योगपतियों को यह महसूस कराना है कि भारत सरकार भारत में औद्योगीकरण एवं भारत के विकास के लिए कांग्रेस से ज्यादा समर्थ तथा ज्यादा उत्सुक है।''[186]

ब्रिटिश सरकार 1944 एवं 1945 में इस बात के लिए बहुत उत्सुक रही कि यूनाइटेड किंगडम के व्यापारी अपने हित में भारतीयों से सहयोग करें। निहित स्वार्थ वाले यू.के. व्यापारियों ने इसे पूरी तरह स्वीकारा। फिर भी, सरकार को ब्रिटिश कंपनियों के विभेदकारी हो जाने का डर था।

25 जनवरी, 1945 को मिस्टर एमरी ने लार्ड वेवल को लिखा :

''मुझे विश्वास है कि भारत में संयुक्त उपक्रम की स्थापना के लिए यूनाइटेड किंगडम और भारतीय व्यापारियों के बीच काफी समझौते हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, भारत में रंजक पदार्थों के उत्पादन के प्रतिष्ठान के लिए इम्पीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज और टाटा समूह समझौता कर रहे हैं और हाल ही में नफील्ड एवं बिड़ला का समझौता हुआ। ··· प्रलेख संख्या 232 में निम्नलिखित संलग्नक भारत में औद्योगीकरण के लिए ब्रिटिश व्यवसाय हितों की सहायता में भारतीय व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के प्रयत्नों में महत्वपूर्ण हैं :

भारतीय उद्योगपतियों के एक दल जिसमें श्री जे.आर.डी. टाटा, श्री जी.डी. बिड़ला, सर सुल्तान चिनोय, श्री कृष्णराज थेकेर्से, श्री एन.आर. सरकार, श्री एम.ए. इस्पाहनी, श्री एस. कस्तूरबाई लालभाई, सर पदमपत सिंहानिया एवं मीर लाइक अली हैं, की सितम्बर में वहाँ आने की आशा है। आगंतुकों के कुछ व्यक्तिगत ब्यौरे परिशिष्ट में दिये गये हैं। कुछ या सभी संभवतः अमरीका भी देखेंगे। उनके मुख्य लक्ष्य हैं :

1. बड़ी मात्रा में मशीनरी, युद्ध में खराब हुई मशीनों की मरम्मत के लिए तुरन्त आवश्यक सभी प्रकार के उपकरणों एवं मुख्य वस्तुओं तथा वर्तमान कार्य के विस्तार के लिए आपूर्ति और यदि संभव हुआ तो आदेश के लिए आश्वासन प्राप्त करना।

186. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 4, पृष्ठ 852, प्रलेख 448

2. सामान्यतः भारत में नये उद्योगों की स्थापना एवं विकास में और भारत के औद्योगीकरण में यूनाइटेड किंगडम (बाद में यू.एस.ए.) के निर्माताओं के सहयोग को सुनिश्चित करना।''[187]

16 मई, 1945 को बार कैबिनेट की भारत समिति की बैठक में भारत के औद्योगीकरण के बारे में ब्रिटिश सरकार के संशय प्रकाश में आए :

''.... राज्य युद्ध सचिव, ने कहा कि भारत सरकार के प्रस्तावों में निहित सम्पूर्ण नीति का विरोध करना चाहा है। वे प्रस्ताव उस पश्चिमी भारतीयों के छोटे से समूह और मारवाड़ी उद्योगपतियों के दबाव से बने हैं जो ब्रिटेन के विरोधी हैं और भारतीय उद्योग क्षेत्र में जो अपना विशिष्ट नियंत्रण स्थापित करने को उत्सुक हैं। ... उनका (बिड़ला एवं टाटा) सोचने का उद्देश्य है भारत से ब्रिटिश वस्तुओं एवं ब्रिटिश संस्थाओं का एकदम निष्कासन।''

असल में ब्रिटिश सरकार भारतीय व्यापारी समुदाय के हर एक व्यवहार में राजनीति की गंध के अतिरिक्त कुछ नहीं देखती थी। खाद्य कमी एवं अकाल के दौरान लोकोपकारी कार्यों को और ऐसे ही बंगाल के अकाल के समय उद्योगपतियों के परोपकारी कार्यों को संदेह की नजर से देखा गया।

सन् 1942 में जी.डी. बिड़ला ने खाने और कपड़े की सस्ती दुकानें खोलने की योजना बनायी और उन्हें पहले उड़ीसा में खोलना तय किया जहाँ एक दुकान पहले से चल रही थी। वास्तविक जरूरतमंद व्यक्तियों को स्वयंसेवकों द्वारा कूपन बाँट दिये गये जिनके द्वारा यह दुकान से घटी दरों पर सामान ले लेते थे। पंडित मिश्र के अनुसार ये दुकानें राजनीतिक उद्देश्यों के लिए शुरू की जा रही थीं। बिड़ला महात्मा गांधी एवं उनके आंदोलनों के बड़े सहयोगी थे। इन दुकानों के खोलने का अंतिम उद्देश्य एक ऐसे अधिकरण की स्थापना थी जो शुरू में स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करे और फिर प्रशासन को ठप्प करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए।

इन दुकानों को लेकर अंग्रेजों में खलबली मची हुई थी। अनेक शिकायतें अंग्रेज उच्च अधिकारियों तक पहुँचीं। आखिरकार स्थानीय सब-डिवीजनल

187. दि ट्रांसफर आफ पावर, खंड 5, पृष्ठ 467, प्रलेख 232

मजिस्ट्रेट ने उन दुकानों की जाँच की एवं पाया कि "दुकानें वस्तुओं का मूल्य कम रखने एवं जमाखोरी रोकने क। अच्छा काम कर रही हैं।"[188]

लार्ड लिंलिथगो ने अगस्त 1943 को बंगाल के गवर्नर सर जे.ए. हरबर्ट को निम्नलिखित तार भेजा :

"मैं यह खबर (जो मैं समझता हूँ गलत हो सकती है।) से व्यथित हो गया हूँ कि बिड़ला और कुछ मारवाड़ियों को आपकी सरकार ने कलकत्ता में सामुदायिक रसोई, घटी दरों पर चावल आदि बेचने के लिए, खोलने का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से दे दिया है। मुझे इस बारे में तुम्हारी कोई रिपोर्ट नहीं मिली है।"

सर हरबर्ट ने लार्ड लिंलिथगो को इसका जवाब देते हुए लिखा कि बंगाल में अकाल के समय लोकोपकारी एवं दान सहायता को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसा होता रहा है और इस सिद्धांत के अनुसार हमारे नागरिक पूर्ति विभाग ने कुछ समय पूर्व मार्ग-ऩिर्देश जारी किये थे कि लोकोपकारी संस्थाओं को कलकत्ता क्षेत्र एवं बाहरी क्षेत्र में खाद्यान्न बाँटने के लिए सरकार उन्हें रियायती दरों पर खाद्यान्न देगी। जिन संस्थाओं ने शर्तों को पूरा किया उन्हें रियायती दरों पर खाद्यान्न दियां गया है। "मार्ग निर्देशों की शर्त के अनुसार ही विभिन्न संस्थाओं (बिड़ला एवं कुछ मारवाड़ियों सहित) द्वारा दलिया बाँटा जा रहा है और यह सब कुछ प्रबंध सरकारी देखरेख में हो रहे हैं।...."

लार्ड वेवल ने 20 अगस्त, 1943 को अपने निजी सचिव को एक नोट में लिखा कि श्री बिड़ला एक व्यक्ति के रूप में भारतीय व्यापार के बारे में बोल सकते हैं और उन्हें भारत के भविष्य पर विचार-विमर्श करने एवं राजनीतिक गतिरोध के समाधान पर सलाह करने में गांधी, नेहरू, जिन्ना, अम्बेडकर, राजगोपालाचारी, सावरकर, जाम साहिब, (भारतीय राजाओं के प्रतिनिधि), मुदालियर एवं जफरुल्लाह खान जैसे प्रसिद्ध लोगों के बीच सम्मिलित किया जा सकता है।[189]

● ● ●

188. दि ट्रांसफर आफ पावर, भाग 3, पृष्ठ 389, प्रलेख 280

189. दि वायसराय जनरल, पृष्ठ 467 से 470

सदा के लिए कालिख पुत जायेगी। वह व्यक्ति जिसे चर्चिल ने 'अधनंगे-फकीर' की उपाधि देकर मजाक उड़ाया था, आज चर्चिल के ही देश में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व लिए उपस्थित था।'' पृष्ठ 155

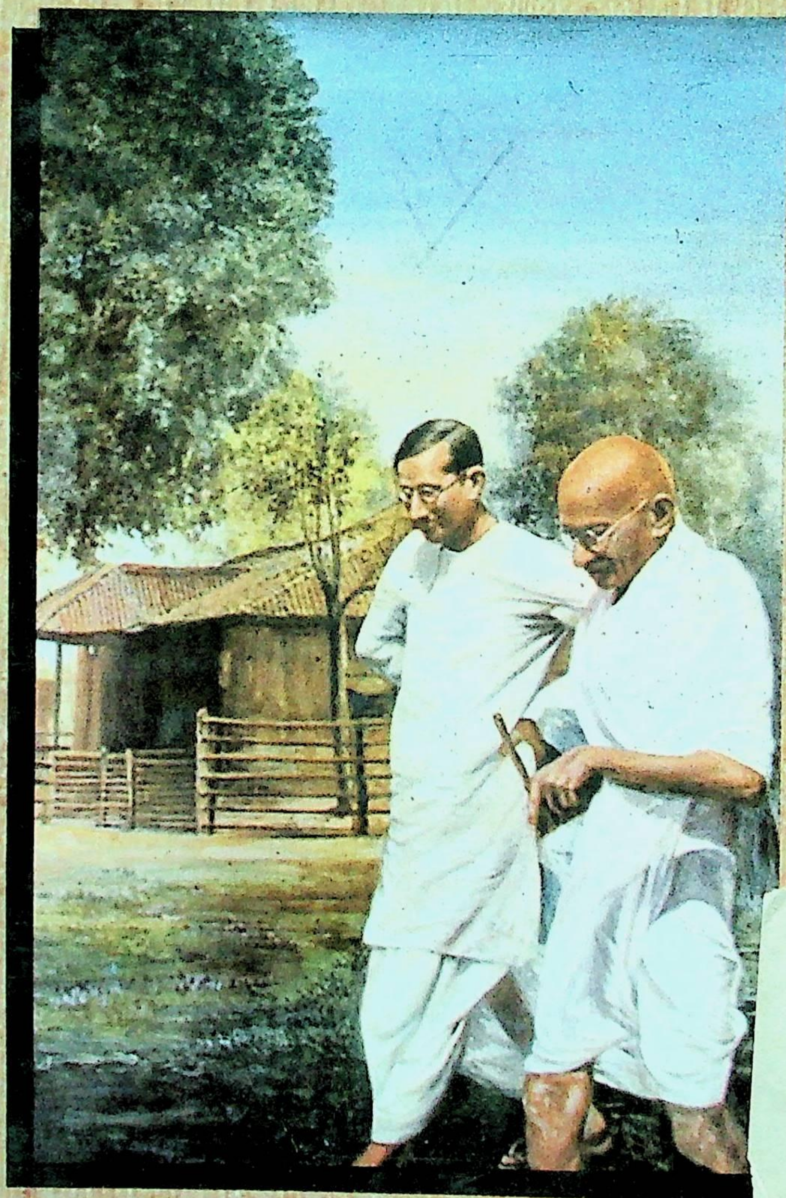
''37 वर्ष के श्री घनश्यामदास बिड़ला अपनी आँखों के सामने इतिहास को साकार होते हुए देख रहे थे और गांधीजी के पीछे चलते हुए उसकी रूपरेखा बनाने में सहयोग दे रहे थे।'' पृष्ठ 155

''इस समय गांधीजी ने भारतीय अर्थनीति की चर्चा की, जो घनश्यामदास जी को पसंद नहीं आयी। उसे लेकर गांधीजी के साथ उनकी जोरदार बहस हुई। अंत में गांधीजी ने मान लिया, अब आगे जब भी आर्थिक समस्याएँ, जैसे 'गोल्ड स्टैंडर्ड' और 'स्टर्लिंग' इत्यादि पर चर्चा होगी तो गांधीजी घनश्यामदास जी से पहले ही सलाह कर लेंगे।'' पृष्ठ 156

''गोलमेज परिषद् में आये हुए अन्य सदस्यों के चरित्र का घनश्यामदास जी ने बड़ा ही सूक्ष्म अध्ययन किया। घनश्यामदास जी ने उन्हें देखकर जो कुछ अनुभव किया, वह आज भी उतना ही सच है, जितना उस समय था। वे सत्ता की हाँ में हाँ मिलाने में ही अपना कल्याण मानते हैं। जरूरत पड़ने पर जीवन के सारे सिद्धान्त और मूल्यों को भुला देते हैं।'' पृष्ठ 156

''उन सब बातों को घनश्यामदास जी ने अच्छी तरह तोला, और उन्होंने पाया, गांधीजी एक आदर्श पुरुष हैं। वे अपना लक्ष्य कभी नहीं भूलते, लेकिन उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने मूल्य और अपने सिद्धान्त कभी नहीं छोड़ते और सत्य की शक्ति को ही अपनी आत्मिक ऊर्जा मानते हैं।'' पृष्ठ 156

—इसी पुस्तक से



वि